

यजुर्वेद ज्योति

यजुर्वेद ज्योति

डॉ० रामनाथ वेदालङ्कार

दिनांक	सदस्य संख्या	दिनांक	सदस्य संख्या

ओ३म्

ओ३म्

ओ३म्

ओ३म् भूर्भुवः स्वः तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात्॥

ऋग्वेद
यजुर्वेद
सामवेद
अथर्ववेद

ओ३म्

ओ३म्

ओ३म्

विश्वानि देव सवितर्-दुरितानि परासुव । यद्-भद्रं तन्न-आसुव

ब्रह्म-यज्ञ

पितृयज्ञ

अतिथि-यज्ञ

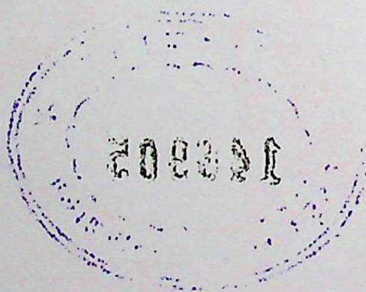
बलिवैश्वदेव यज्ञ

देव-यज्ञ

ओ३म्

आर्य धर्मार्थ न्यास श्री घूडमल प्रहलादकुमार





ओ३म्

यजुर्वेद-ज्योति

लेखक

डॉ० रामनाथ वेदालङ्कार





प्रकाशक

श्री घूडमल प्रहलादकुमार आर्य धर्मार्थ-न्यास

ब्यानिया पाड़ा, हिण्डौन सिटी (राजस्थान)

ISBN : 978-93-80209-02-9

प्रकाशक : **श्री घूडमल प्रहलादकुमार आर्य धर्मार्थ न्यास**
ब्यानिया पाड़ा, हिण्डौन सिटी, (राज०)- ३२२ २३०
दूरभाष : ०९३५२६७०४४८
चलभाष : ०९४१४०३४०७२, ०९८८७४५२९५९

संस्करण : २८ सितम्बर, २००९ (श्री घूडमल प्रहलादकुमार आर्य धर्मार्थ न्यास के भवन का उद्घाटन अवसर)

मूल्य : २००.०० रुपये

प्राप्ति-स्थान :
१. **हरिकिशन ओम्प्रकाश,** ३९९, गली मन्दिरवाली, नया बाँस, दिल्ली-६, चलभाष : ०९३५०९९३४५५
२. **सुबोध पॉकेट बुक्स** २/४२४०-ए, अंसारी रोड, नई दिल्ली-२ चलभाष : ०९८१०००५९६३
३. **श्री राजेन्द्रकुमार,** १८, विक्रमादित्य पुरी, स्टेट बैंक कॉलोनी, बरेली (उ०प्र०) चल० : ०९८९७८८०९३०
४. **श्री वैदिकानन्द,** श्री स्वामी दयानन्द ब्रह्मज्ञान आश्रम न्यास, वैदिक सदन, भँवरकुँआ, इन्दौर-४५२ ००१, चलभाष: ०९३०२३६७२००
५. **गणेशदास-गरिमा गोयल,** २७०४, प्रेममणि-निवास, नया बाजार दिल्ली-६, चलभाष : ०९८९९७५९००२

लेजर टाईपसेटिंग : आर्य लेजर प्रिंट्स, हिण्डौन सिटी, राजस्थान

मुद्रक : राधा प्रेस, २४६५, मेन रोड, कैलाश नगर, दिल्ली-११००३१

प्रकाशकीय

महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वती ने वाजसनेयि माध्यन्दिन शुक्ल यजुर्वेद संहिता को मूल यजुर्वेद माना है, जिसमें १९७५ मन्त्र हैं। इस पर उन्होंने शतपथ, निरुक्त, व्याकरण आदि के प्रमाणों से संवलित भाष्य भी किया है। इस वेद पर प्राचीन ऋषियों ने दर्श, पौर्णमास, सोमयाग, वाजपेय, राजसूय, सौत्रामणि, अश्वमेध आदि यागों का कर्मकाण्डीय विधि-विधान भी रचा था, जिसका वर्णन शतपथब्राह्मण में मिलता है। शतपथब्राह्मण से ही श्रौतसूत्रकारों ने लिया है। उक्त ब्राह्मणग्रन्थ में मन्त्रभागों पर विधियाँ, हेतु, फ़लश्रुति, विधियों को ब्रह्माण्ड में तथा अध्यात्म में घटाना आदि तो वर्णित हुआ है, किन्तु सम्पूर्ण मन्त्रार्थ नहीं दिया गया है। ऐसे वेदभाष्य की आवश्यकता थी, जिससे कर्मकाण्डिक विधियाँ प्रमाणित हो सकें, क्योंकि वेदार्थानुसृत विधियाँ ही प्रामाणिक मानी जाती हैं। यह कार्य उवट और महीधर ने अपने हाथ में लिया। किन्तु इन भाष्यकारों ने शतपथ के अनेक प्रसङ्गों का आशय विपरीत समझकर अपने भाष्य में यज्ञों में पशुबलि, अश्लील संवाद आदि डाल दिये, जिससे इनका भाष्य अनेक स्थलों पर शतपथ से विरुद्ध और दूषित हो गया। स्वामी दयानन्द अग्निहोत्र से लेकर अश्वमेधपर्यन्त कर्मकाण्ड को स्वीकार करते हैं, किन्तु उन्हीं विनियोगों को सही मानते हैं, जो युक्तिसिद्ध, प्रमाणपरिपुष्ट और वेदार्थानुसृत हों। अतः उन्होंने उवट, सायण, महीधर आदि के भाष्यों को एकाङ्गी और दूषित ठहराया है। साथ ही उनका यह कथन भी है कि प्रचलित कर्मकाण्ड का वेदार्थ से नित्य सम्बन्ध नहीं है, उससे स्वतन्त्र होकर भी वेदभाष्य किया जा सकता है। उनका यजुर्वेदभाष्य कर्मकाण्ड से स्वतन्त्र होकर ही किया गया हैं। उन्होंने अपने वेदभाष्य में मानवोपयोगी विविध शिक्षाओं एवं विद्याओं का प्रतिपादन किया है।

आचार्य रामनाथ वेदालङ्कार द्वारा रचित प्रस्तुत ग्रन्थ 'यजुर्वेद-ज्योति' में भी मन्त्र-व्याख्याएँ प्रचलित कर्मकाण्ड से स्वतन्त्र होकर लिखी गयी हैं। इस ग्रन्थ में यजुर्वेद के २०० मन्त्रों की भावभीनी व्याख्या है। व्याख्या के विषय ईश्वरोपासना, योगाभ्यास, मानव को उद्बोधन, विद्वानों का सत्कार, विद्वानों के कर्त्तव्य, यज्ञ, पौरोहित्य, ब्राह्मणधर्म, क्षात्रधर्म, कृषि, व्यापार, शिल्पकला, विमानादियान, राजा का अभिषेक, राजा के कर्त्तव्य, आचार्य-शिष्य-सम्बन्ध, आशावाद, महत्त्वाकांक्षा, नारी, गृहाश्रम, वानप्रस्थ, तुरीयाश्रमी संन्यासी, प्राण, मनोबल, बुद्धि आदि विविध हैं। मन्त्रों का चयन सुन्दर है, लेखनशैली आकर्षक है। आशा है पाठक इससे लाभान्वित होंगे और यजुर्वेद की ज्योति प्राप्त कर सकेंगे।

श्री घूडमल प्रहलादकुमार आर्य धर्मार्थ-न्यास को इस ग्रन्थ के प्रकाशन से गौरवान्वित करने के लिए लेखक का धन्यवाद है।

—**प्रकाशक**

भूमिका

ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद ये चार वेद कहलाते हैं। कालक्रम से इनकी अनेक शाखाएँ भी प्रचलित हो गयीं। पातञ्जल महाभाष्य के पस्पशाह्निक में ऋग्वेद की २१, यजुर्वेद की १०१, सामवेद की १००० तथा अथर्ववेद की ९ शाखाओं का उल्लेख मिलता है[१], किन्तु वहाँ केवल संख्या ही दी गयी है, शाखाओं के नाम नहीं लिखे हैं। वहाँ सामवेद को सहस्रवर्त्मा कहा गया है, जिसका अर्थ होता है सहस्र मार्गोंवाला। पं० सत्यव्रत सामश्रमी आदि कतिपय विद्वानों का विचार है कि सामगान के सहस्र भेदोंवाला होने से सामवेद को सहस्रवर्त्मा कहा गया है, इसकी सहस्र शाखाएँ थीं यह आशय नहीं है। स्वयं सामवेद में ही 'गाये सहस्रवर्तनि (१८२९)' ऐसा एक ऋचा में कहा गया है, अर्थात् सहस्र मार्गोंवाले गायत्र आदि सामों को गाता हूँ। उक्त शाखाओं में से अनेक शाखाएँ लुप्त हो गयीं। सम्प्रति ऋग्वेद की केवल शाकल संहिता उपलब्ध है। इसके पदपाठ आदि पर शाकल्य मुनि ने श्रम किया था, अतः उसके नाम से यह शाकल संहिता कहलाती है। यजुर्वेद दो प्रकार का मिलता है—शुक्ल और कृष्ण। शुक्ल और कृष्ण नाम इस कारण हैं कि शुक्ल यजुर्वेद में केवल मन्त्रभाग होने से वह मूल या शुक्ल वेद है और कृष्ण यजुर्वेद विनियोग, मन्त्र व्याख्या आदि से मिश्रित होने के कारण मूल न होकर मिश्रित या कृष्ण है। शुक्ल यजुर्वेद की दो शाखाएँ सम्प्रति मिलती हैं, वाजसनेयि माध्यन्दिन संहिता और काण्व संहिता। दोनों में ४० अध्याय हैं, काण्व संहिता का ४०वाँ अध्याय ईशोपनिषद् के रूप में प्रख्यात है। कृष्ण यजुर्वेद की ४ शाखाएँ मिलती हैं—तैत्तिरीय, मैत्रायणी, काठक और कठ कपिष्ठल। सामवेद की कौथुम, राणायनीय

---

१. एकविंशतिधा बाह्वृच्यम्, एकशतम् अध्वर्युशाखाः, सहस्रवर्त्मा सामवेदः, नवधाऽऽथर्वणो वेदः।

और जैमिनीय संहिताएँ प्राप्त हैं। अथर्ववेद की शौनकीय तथा पैप्पलाद संहिताएँ उपलब्ध हैं। महाभाष्यप्रोक्त शाखाएँ कुल मिलाकर ११३१ होती हैं। स्वामी दयानन्द सरस्वती उपलब्ध सब संहिताओं की परीक्षा करके इस निर्णय पर पहुँचे हैं कि इनमें से ऋग्वेद की शाकल संहिता, यजुर्वेद की वाजसनेयि माध्यन्दिन शुक्ल संहिता, सामवेद की कौथुम संहिता और अथर्ववेद की शौनकीय संहिता ही प्रामाणिक मूल वेद हैं। इन चार संहिताओं को महाभाष्योक्त ११३१ शाखाओं में से निकाल देने पर शाखाओं की संख्या ११२७ रह जाती है। शाखाओं की यही संख्या उन्होंने अपने ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका तथा सत्यार्थ-प्रकाश ग्रन्थों में लिखी है। कुछ विद्वान् शाखाओं, ब्राह्मणग्रन्थों और उपनिषदों को भी वेदों के अन्तर्गत मानते हैं, किन्तु स्वामी दयानन्द ने इन्हें वेदों का व्याख्यान माना है तथा वेद संज्ञा केवल चार संहिताओं की ही स्वीकार की है।

ऋग्वेद की मन्त्रसंख्या कात्यायनीय ऋक्सर्वानुक्रमणी के अनुसार १०५५२, वाजसनेयि माध्यन्दिन शुक्ल यजुर्वेद की १९७५, सामवेद कौथुम संहिता की १८७५ और शौनकीय अथर्ववेद की ५९८७ है। इस प्रकार चारों वेदों के कुल मन्त्र २०३८९ होते हैं।

यजुर्वेद की कर्मकाण्डिक व्याख्या

कर्मकाण्डिक व्याख्यानुसार वाजसनेयि माध्यन्दिन शुक्ल यजुर्वेद के प्रथम दो अध्यायों में दर्श एवं पौर्णमास यागों का वर्णन है। दर्श याग अमावस्या के पश्चात् आनेवाली प्रतिपदा से और पौर्णमास याग पूर्णिमा से सम्बद्ध हैं। अध्याय ३ में अग्निहोत्र और चातुर्मास्य इष्टियों का विवरण है। चातुर्मास्य इष्टियाँ चार-चार मास बाद ऋतु-परिवर्तन होने पर की जाती हैं। अध्याय ४ से ८ तक अग्निष्टोम और सोमयाग का प्रतिपादन है। अग्निष्टोम यज्ञ स्वर्ग की कामनावाला यजमान करता है। इसमें १६ पुरोहित होते हैं और यह पाँच दिन चलता है।

सोमयाग में सोमरस और दूध मिलाकर आहुति देते हैं। यह प्रातः, मध्याह्न और सायं तीन बैठकों में होता है, जिन्हें प्रातःसवन, माध्यान्दिन सवन और सायं-सवन कहते हैं। अध्याय ९ और १० में वाजपेय तथा राजसूय यागों की विधियों का वर्णन है। ९ अध्याय की १ से ३४ तक की कण्डिकाओं में वाजपेय याग तथा अध्याय ९ की ३५वीं कण्डिका से १०म अध्याय की कण्डिका ३० तक राजसूय याग है। अध्याय ११ से १५ तथा १७-१८ में अग्निचयन और विविध वेदियों के निर्माण से सम्बद्ध मन्त्र हैं। यज्ञवेदि की रचना १०८०० ईंटों से होती थी। वेदियों की आकृति त्रिकोण, चतुष्कोण, गोलार्ध, गोल, श्येन पक्षी आदि की होती थी। अध्याय १६ रुद्राध्याय कहलाता है, इसमें विभिन्न रुद्रों का वर्णन है। अध्याय १९ से २१ तक सौत्रामणि याग का विवरण प्राप्त होता है। इसमें सोम और सुरा को मिलाकर उससे आहुति दी जाती है और उसका पान किया जाता है। सोम से सोमरस अभिप्रेत है और सुरा से अन्य विविध ओषधियों का रस। अध्याय २२ से २५ तक अश्वमेध यज्ञ का सुदीर्घ वर्णन है। अश्वमेध का अधिकार अभिषिक्त राजा को ही है। वह दिग्विजय के लिये उत्कृष्ट घोड़े को छोड़ता है, उसके साथ रक्षक भी होते हैं। सार्वभौम आधिपत्य के लिए यह यज्ञ किया जाता है। अध्याय ३० में पुरुषमेध का वर्णन है। इसमें समाज को एक विशाल पुरुष मानकर १८४ व्यवसायों का उल्लेख किया गया है। अध्याय ३१ पुरुषसूक्त है, जिसमें विराट् पुरुष का वर्णन हैं। अध्याय ३३ में सर्वमेध तथा अध्याय ३५ में पितृमेध का विवरण प्राप्त होता है। अध्याय ३९ में अन्त्येष्टि प्रकरण है।

यज्ञिय कर्मकाण्ड अति विस्तीर्ण, गूढ़ और जटिल है, प्रत्येक की इसमें रुचि नहीं हो सकती है, न ही सबको इसका अधिकार है। इसके विधि-विधानों से आध्यात्मिक, राजनीतिक और व्यावहारिक सूचनाएँ भी प्राप्त होती हैं।

विविध यज्ञों का विस्तृत वर्णन ब्राह्मणग्रन्थों तथा श्रौतसूत्रों

में मिलता है। शुक्ल यजुर्वेद का ब्राह्मण शतपथब्राह्मण है, जिसके रचयिता याज्ञवल्क्य मुनि हैं। कृष्ण यजुर्वेद का ब्राह्मण तैत्तिरीय ब्राह्मण है, जिसकी रचना तित्तिरि आचार्य ने की है। श्रौतसूत्र शुक्ल यजुर्वेद का कात्यायनकृत है, जो कात्यायन श्रौतसूत्र कहलाता है। कृष्ण यजुर्वेद से सम्बद्ध आठ श्रौतसूत्र हैं—१. बौधायन, २. आपस्तम्ब, ३. सत्याषाढ या हिरण्यकेशी, ४. वैखानस, ५. भारद्वाज, ६. वाधूल, ७. वाराह, ८. मानव श्रौतसूत्र। इनमें जिन यज्ञों का विशद विवरण है, वे यज्ञ कब से प्रारम्भ हुए यह निश्चितरूप से नहीं कहा जा सकता। इनका यजुर्वेद से नित्य सम्बन्ध नहीं है, अर्थात् ऐसा नहीं है कि यजुर्वेद की रचना इन्हीं यज्ञों के प्रतिपादनार्थ हुई हो। प्रतीत होता है कि इन यज्ञों का आविष्कार और इनके विस्तृत विधि-विधानों का निर्माण ऋग्वेदीय ऐतरेय ब्राह्मण के रचयिता महिदास ऐतरेय, कौषीतकि ब्राह्मण के रचयिता ऋषि शांखायन एवं यजुर्वेदीय ब्राह्मणग्रन्थों के रचयिता मुनि याज्ञवल्क्य तथा आचार्य तित्तिरि ने मिलकर किया होगा। उसके बाद अन्य आचार्यों ने भी इसमें रुचि लेनी आरम्भ कर दी होगी तथा विभिन्न विधियों के रहस्यार्थ का भी अन्वेषण किया गया होगा। ब्राह्मणकाल से लेकर श्रौतसूत्रकाल तक और उसके कुछ बाद तक भी इन यज्ञों का प्रचार व्यापक रूप में रहा, किन्तु उपनिषत्काल में इनका ह्रास हो गया। इन यज्ञों की जटिलता और महात्मा बुद्ध की इन यज्ञों के विषय में प्रतिक्रिया भी इनके ह्रास में कारण बनी।

यजुर्वेद के कर्मकाण्डिक भाष्यकार

शुक्ल यजुर्वेद की माध्यन्दिन संहिता पर उवट और महीधर के कर्मकाण्डपरक भाष्य मिलते हैं। उवट ने भाष्य के अन्त में अपना परिचय स्वयं दिया है। ये आनन्दपुर के निवासी वज्रट के पुत्र थे। इन्होंने अवन्ती में रहते हुए राजा भोज के प्रशासनकाल में भाष्य लिखा था। इनका काल ११वीं शती ईस्वी है। महीधर का काल १६वीं शती ईस्वी का उत्तरार्ध है।

इन्होंने अपने भाष्य का नाम 'वेददीप' रखा है। इनके भाष्य का आधार उवट का भाष्य है। ये स्वयं लिखते हैं कि मैंने उवट और सायण के भाष्य को देखकर अपना भाष्य लिखा है।[१] इन्होंने सायण का काण्वसंहिता का भाष्य देखा होगा। इनके भाष्य में विनियोग और मन्त्रार्ध प्रायः उवट भाष्य के समान हैं, व्याकरण-प्रक्रिया तथा शतपथ ब्राह्मण, कात्यायन श्रौतसूत्र आदि के प्रमाण अधिक हैं।

काण्व संहिता पर हलायुध (२०वीं शती ईस्वी) का तथा सायणाचार्य (१४वीं शती ईस्वी) का भाष्य प्राप्त है। हलायुध के भाष्य का नाम 'ब्राह्मणसर्वस्व' है। ये बङ्गाल के नरेश राजा लक्ष्मणसेन के धर्माधिकारी थे। सायण विजयनगर के संस्थापक महाराज बुक्क और हरिहर के अमात्य और सेनानी थे। इनका भाष्य अभी तक काण्व संहिता के प्रथम २० अध्यायों पर ही प्रकाशित हुआ है।

कृष्ण यजुर्वेद की तैत्तिरीय संहिता पर भट्ट भास्कर (११वीं शती ईस्वी) का ज्ञानयज्ञ नामक भाष्य और सायणाचार्य (१४वीं शती ईस्वी) का भाष्य उपलब्ध है। सायण ने सर्वप्रथम अपना भाष्य तैत्तिरीय संहिता पर ही लिखा था, तत्पश्चात् ऋग्वेद आदि का भाष्य लिखा।

हम पहले लिख चुके हैं कि स्वामी दयानन्द के अनुसार मूल वेद शुक्ल यजुर्वेद की माध्यन्दिन संहिता ही है। उवट और महीधर ने इस पर भाष्य लिख कर इस दृष्टि से विशेष उपकार किया है कि इससे यह सिद्ध हो जाता है कि शतपथ ब्राह्मण में यज्ञों की विधियों में किये गये विनियोग मन्त्रार्थानुसृत हैं। विनियोग वे ही प्रामाणिक माने जाते हैं जो मन्त्रार्थनुसृत हों, अतः शतपथ ब्राह्मण के विनियोगों की प्रामाणिकता इससे सिद्ध हो जाती है। परन्तु इन दोनों के भाष्यों में छाग (बकरे) और अश्व (घोड़े) के काटे गये अङ्गों की एवं इनके रक्त की

१. प्रणम्य लक्ष्मीं नृहरिं गणेशं भाष्यं विलोक्यौवटमाधवीयम्।

बूंदों की तथा गाय की चर्बी की यज्ञाग्नि में आहुति देना लिखा है और २३वें अध्याय के १९ से ३१ तक की कण्डिकाओं के अर्थ अत्यन्त अश्लील किये हैं, जिन्हें पढ़ते-सुनते-लिखते हुए भी लज्जा अनुभव होती है। इस क्वचित् आनेवाली पशुबलि तथा अश्लीलता के कारण उवट एवं महीधर के भाष्य कलङ्कित हो रहे हैं। इस विषय में इन भाष्यों के निम्न स्थल[1] द्रष्टव्य हैं—

(क) अग्नीषोमीय पशुप्रयोग—अध्याय ६, कण्डिका ७-२२।

(ख) अश्वमेध—अध्याय २३-२५

(ग) पितृमेध—अध्याय ३५, कण्डिका २०, गाय की चर्बी से पितरों की तृप्ति।

स्वामी दयानन्द की दृष्टि

स्वामी दयानन्द श्रौत यज्ञों को स्वीकारते हैं। अपने ग्रन्थों में कई स्थलों पर 'अग्निहोत्र से लेकर अश्वमेधपर्यन्त' यज्ञों को उन्होंने स्वीकृति दी है। वे उन्हीं यज्ञिय विनियोगों से सहमत हैं, जो युक्तिसिद्ध, वेदादिप्रमाणानुकूल तथा मन्त्रार्थानुसृत हों। मन्त्र बोल रहे हैं '**स्वधिते मैनं हिंसीः**' अर्थात् 'हे छुरे, तू इसकी हिंसा मत कर', किन्तु पशु का पेट काटकर कर रहे हों हिंसा—इससे स्वामीजी सहमत नहीं हैं। स्वामीजी यह नहीं मानते कि शतपथब्राह्मण के अनुसार यज्ञों में पशुबलि दी जाती है। वे तथाकथित पशुबलि के प्रकरणों का भिन्न अर्थ करते हैं। वे इस बात से भी असहमत हैं कि वेदों की रचना श्रौत कर्मकाण्ड के लिए ही हुई है। स्कन्द, उवट, सायण, महीधर आदि के वेदभाष्यों में एकमात्र श्रौत या गृह्य कर्मकाण्ड को देख कर उनके मानस में विक्षोभ उत्पन्न हुआ और उन्होंने स्वयं वेदभाष्य करने का विचार किया, जिससे वेद अनेक विद्याओं के भण्डार सिद्ध हो सकें। वे ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के 'प्रतिज्ञा' विषय में अपने करिष्यमाण वेदभाष्य के विषय में लिखते हैं कि इसमें कर्मकाण्ड (मानव कर्त्तव्य) का वर्णन

---

१. **द्रष्टव्य :** लेखक की पुस्तक 'आर्ष-ज्योति' का लेख 'स्वामी दयानन्द के यजुर्वेदभाष्य पर एक तुलनात्मक दृष्टि'।

शब्दार्थतः किया जायेगा, किन्तु अग्निहोत्र से लेकर अश्वमेध-पर्यन्त यज्ञों में वेदमन्त्रों के जो विनियोग और विधि-विधान किये गये हैं, उनका विचार नहीं किया जायेगा, क्योंकि कर्मकाण्ड के अनुष्ठान का विषय ऐतरेय ब्राह्मण, शतपथ ब्राह्मण, पूर्व मीमांसा, श्रौतसूत्र आदि में पहले ही प्रतिपादित किया हुआ है। उनके ग्राह्य विनियोग तथा विधि-विधान ग्रहण कर लेने चाहिएँ। वे अपने भाष्य के विषय में यह भी कहते हैं कि जिन वेदमन्त्रों के सप्रमाण पारमार्थिक और व्यावहारिक दोनों अर्थ सम्भव होंगे, उनके दोनों अर्थ प्रदर्शित किये जायेंगे। पारमार्थिक से आध्यात्मिक अर्थ अभिप्रेत हैं। सायणाचार्य आदि के उपलब्ध भाष्यों की आलोचना करते हुए वे लिखते हैं कि ये भाष्य केवल कर्मकाण्डपरक होने से एकदेशी हैं, स्वेच्छाचार से तथा लोकप्रवृत्ति की अनुकूलता देखकर लोकप्रतिष्ठा प्राप्त करने के लिए लिखे गये हैं और इनसे महान् अनर्थ हुआ है।

संवत् १९३४, मार्गशीर्ष शुक्ला ६ (सन् १८७७) को स्वामी दयानन्द ने ऋग्वेदभाष्य आरम्भ कर दिया। इसके साथ-साथ संवत् १९३४, पौष शुक्ला १३ (सन् १८७७) से वाजसेनयि माध्यन्दिन शुक्ल यजुर्वेद संहिता का भाष्य भी करने लगे। ऋग्वेदभाष्य मण्डल ७, सूक्त ६१, मन्त्र २य तक हो पाया, किन्तु यजुर्वेदभाष्य सम्पूर्ण हो गया। छठे मण्डल तक ऋग्भाष्य पूर्ति के पश्चात् महर्षि का अनुमान था कि 'एक वर्ष में सब ऋग्वेदभाष्य पूरा हो जायेगा और एक या डेढ़ वर्ष साम और अथर्व में लगेगा।' यह अपने पत्र में स्वामीजी ने २३ अगस्त १८८३ को मुंशी समर्थदान को लिखा था, किन्तु ३० अक्टूबर १८८३ को स्वामीजी का शरीरान्त हो गया।

श्रौत और गृह्य विनियोगों का वेदमन्त्रों के साथ नित्य सम्बन्ध नहीं है, प्रचलित कर्मकाण्ड से स्वतन्त्र होकर भी वेदार्थ किया जा सकता है, यह देन मुख्यरूप से स्वामी दयानन्द सरस्वती की ही है। उन्होंने अपने वेदभाष्य में नवीन मानवकर्त्तव्यशास्त्ररूपी कर्मकाण्ड प्रदर्शित कर दिया है। साथ ही योग तथा ईश्वरोपासना की आध्यात्मिक धारा भी प्रवाहित की है और विविध विद्याओं का निरूपण भी किया है।

कण्डिका और मन्त्र

यजुर्वेद में जिन्हें हम मन्त्र कहते हैं, वे याज्ञिक कर्मकाण्ड के अनुसार कण्डिकाएँ हैं, मन्त्र नहीं। उन कण्डिकाओं में कई छोटे-छोटे मन्त्र हो सकते हैं, जिनका विनियोग पृथक्-पृथक् विधियों में किया जाता है। उदाहरणार्थ प्रथम अध्याय की '**इषे त्वोर्जे त्वा**' आदि प्रथम कण्डिका में कर्मकाण्डिक व्याख्या के अनुसार ५ मन्त्र हैं, जिनका विनियोग पृथक्-पृथक् विधियों में किया गया है। यथा—

१. इषे त्वा—इस मन्त्र का शाखा देवता है। विनियोग पलाश या शमी की एक शाखा को वृक्ष से काटने की क्रिया में किया गया है। मन्त्र का अर्थ है—'हे शाखा, वृष्टि के लिए तुझे वृक्ष से काटता हूँ।'

२. ऊर्जे त्वा—इसका भी शाखा ही देवता है। काटी हुई शाखा में लगी हुई धूलि आदि झाड़कर उसके ऋजूकरण (सीधा करने) की क्रिया में विनियोग है। मन्त्र का अर्थ है—'हे शाखा, वृष्टि से जो अन्न, दूध आदि रस उत्पन्न होगा, उसके लिए तेरी धूलि आदि झाड़कर तुझे सीधा करता हूँ।'

३. वायव स्थ—वायु इस मन्त्र का देवता है। अनेक बछड़ों में से एक बछड़े को शाखा से स्पर्श करने में इसका विनियोग है। मन्त्र का अर्थ है—'हे बछड़ो, तुम अपनी माता गौओं के पास से अन्यत्र जाओ, (क्योंकि माताओं के साथ जाने से सायंकाल का दूध हमें नहीं मिलेगा, सारा दूध तुम पी जाओगे।'

४. देवो वः सविता प्रार्पयतु श्रेष्ठतमाय कर्मण आप्यायध्वमघ्न्या इन्द्राय भागं प्रजावतीरनमीवा अयक्ष्मा मा व स्तेन ईशत माघशꣳसो ध्रुवा अस्मिन् गोपतौ स्यात बह्वीः—

इस मन्त्र का इन्द्र देवता है। अनेक गौओं में से एक गौ को पृथक् करके उसे शाखा से स्पर्श करने में इसका विनियोग है। मन्त्र का अर्थ है—हे गौओ, 'सविता देव (प्रेरक परमेश्वर),

तुम्हें यज्ञरूप श्रेष्ठतम कर्म के लिए वन में ले जाये। वहाँ (घास आदि चरकर) तुम इन्द्र के भाग रूप दूध को अपने अन्दर बढ़ाओ। तुम सन्तानोंवाली, नीरोग, राजयक्ष्मारहित होवो। चोर और पापी हिंसक व्याघ्र आदि तुम्हें अपने वश करने में समर्थ न हो सके। इस गोपति यजमान के पास स्थिर निवास करती हुई तुम संख्या में बहुत हो जाओ।'

५. यजमानस्य पशून् पाहि—इस मन्त्र का भी शाखा देवता है। अनेक गोशालाओं में से किसी एक गोशाला के सामने शाखा को ऊँचाई पर खड़ा कर देने में इसका विनियोग है। मन्त्र का अर्थ है—'हे शाखा, तू वन में चरती हुई गौओं की रक्षा करती रह, (जिससे वे वन से सकुशल लौटकर आ सकें)।'

इसी प्रकार कण्डिकाओं के अन्तर्गत मन्त्र हैं। मन्त्रों की संख्या भिन्न-भिन्न है, किसी कण्डिका में एक ही मन्त्र है, अर्थात् वह पूरी कण्डिका ही मन्त्र का काम करती है। उदाहरणार्थ दशम अध्याय की कण्डिका १ में १ मन्त्र, कण्डिका २ में ४ मन्त्र, कण्डिका ३ में १० मन्त्र, कण्डिका ४ में २१ मन्त्र, कण्डिका ५ में १३ मन्त्र, कण्डिका ६ में ३ मन्त्र, कण्डिका ७ में १ मन्त्र, कण्डिका ८ में १४ मन्त्र, कण्डिका ९ में ७ मन्त्र और कण्डिका १० में २ मन्त्र हैं। इस प्रकार वाजसनेयि माध्यन्दिन शुक्ल यजुर्वेदसंहिता में कुल कण्डिकाएँ १९७५ और कुल मन्त्र ३९८८ हैं।

स्वामी दयानन्द कण्डिकाओं को मन्त्र कहते हैं तथा उन्होंने यजुर्वेद में कुल मन्त्रसंख्या गणना करके १९७५ लिखी है। यजुर्वेद में कोई-कोई मन्त्र दो या अधिक छन्दों से मिलकर बना है, वहाँ भी स्वामीजी उन्हें दो या अधिक मन्त्र नहीं मानते, प्रत्युत यह लिखते हैं कि इस मन्त्र के अमुक भाग में यह छन्द है और अमुक में यह छन्द है। यथा अध्याय ४ मन्त्र २५ पर लिखते हैं—'**पूर्वस्य विराड् ब्राह्मी जगती छन्दः। सुक्रतुरित्युत्तरस्य निचृदार्षी गायत्री छन्दः**', अर्थात् इस मन्त्र के पूर्व भाग का विराड् ब्राह्मी जगती छन्द है और 'सुक्रतुः' से प्रारम्भ होनेवाले उत्तर भाग का निचृद् आर्षी गायत्री छन्द

है। अध्याय २, मन्त्र २५ के विषय में उनका लेख है— **'दिवीत्यारभ्य द्विष्म इत्यन्तस्य निचृद् आर्ची। तथा ऽन्तरिक्ष इमत्यारभ्य द्विष्मः पर्यन्तस्यार्ची पङ्क्तिश्छन्दः। पृथिव्यामित्यारभ्यान्तपर्यन्तस्य जगती छन्दः।'** अर्थात् 'दिवि' से लेकर 'द्विष्मः' पर्यन्त का निचृद् आर्ची छन्द, 'अन्तरिक्षे' से लेकर 'द्विष्मः' पर्यन्त का आर्ची पङ्क्ति छन्द तथा 'पृथिव्यां' से लेकर अन्त तक का जगती छन्द है।

ऋषि, देवता और छन्द

वेदों में सूक्तों, वर्गों, अध्यायों, दशतियों, खण्डों आदि के प्रारम्भ में मन्त्रों के ऋषि, देवता और छन्द लिखे रहते हैं। कई पुस्तकों में प्रत्येक मन्त्र के साथ दिये होते हैं। प्रश्न उठता है कि इनसे क्या तात्पर्य है। अतः इसके संक्षिप्त परिचयार्थ यह प्रकरण लिखा जा रहा है।

ऋषि—

ऋषियों के सम्बन्ध में मुख्यतः दो पक्ष हैं। एक पक्ष यह है कि ऋषि मन्त्रकर्ता हैं, अर्थात् जिस वेदमन्त्र के साथ जिस ऋषि का नाम लिखा है, उसने उस मन्त्र की रचना की है। द्वितीय पक्ष यह है कि ऋषि पहले से ही रचे हुए मन्त्रों के अर्थद्रष्टा हैं, मन्त्र तो ईश्वररचित हैं। ऋषियों को मन्त्रकर्ता मानने पर कई दोष आते हैं। कई मन्त्र वेदों में एक से अधिक बार आये हैं। यदि ऋषि मन्त्रों के रचयिता होते, तो सर्वत्र उनका एक ही ऋषि होना चाहिए था, परन्तु अनेक पुनरुक्त मन्त्रों में ऋषि परस्पर भिन्न हैं। यथा, **'आ भारती भारतीभिः सजोषाः'** आदि ऋ० ३.४.८-११ पाँच मन्त्र ऋ० ७.२.८-११ में पुनरुक्त हैं, किन्तु प्रथम स्थान में उनका ऋषि विश्वामित्र है और द्वितीय स्थान में वसिष्ठ है। तीन मन्त्रों के एक सूक्त ऋ० ९.६६ के ऋषि शत वैखानस (एक सौ वानप्रस्थ मुनि) हैं। एक सौ मुनियों ने मिलकर इस सूक्त की रचना की हो, यह सम्भव नहीं है। अन्य भी अनेक आपत्तियाँ इस मत पर आती हैं।

द्वितीय मत के अनुसार ऋषि मन्त्रों के रचयिता न होकर

मन्त्रार्थद्रष्टा हैं। स्वामी दयानन्द ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के प्रश्नोत्तरविषय में लिखते हैं—"**ईश्वर जिस समय आदि सृष्टि में वेदों का प्रकाश कर चुका, तभी से प्राचीन ऋषि लोग वेदमन्त्रों के अर्थों का विचार करने लगे। फिर उनमें से जिस-जिस मन्त्र का अर्थ जिस-जिस ऋषि ने प्रकाशित किया, उस-उसका नाम उसी मन्त्र के साथ स्मरण के लिए लिखा गया है।**" इसके लिए उन्होंने यास्कीय निरुक्त का निम्नलिखित प्रमाण भी दिया है—

साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवुस्तेऽसाक्षात्कृतधर्मभ्य उपदेशेन मन्त्रान् सम्प्रादुः। —निरु० १।२०

अर्थात् वेदमन्त्रों के अर्थों का साक्षात्कार करनेवाले ऋषि थे, वे उन्हें जिन्हें मन्त्रों के अर्थों का साक्षात्कार नहीं हुआ था, उपदेश द्वारा मन्त्रार्थ प्रदान करते थे।

सत्यार्थप्रकाश समुल्लास ७ में स्वामी दयानन्द लिखते हैं—"**जिस-जिस मन्त्रार्थ का दर्शन जिस-जिस ऋषि को हुआ और प्रथम ही जिसके पहले उस मन्त्र का अर्थ किसी ने प्रकाशित नहीं किया था किया और दूसरों को पढ़ाया भी, इसलिये अद्यावधि उस-उस मन्त्र के साथ ऋषि का नाम स्मरणार्थ लिखा-लिखाया आता है। जो कोई ऋषियों को मन्त्रकर्ता बतलावे, उनको मिथ्यावादी समझें। वे तो मन्त्रों के अर्थ-प्रकाशक हैं।**"

स्वामी दयानन्द ने अपने यजुर्वेदभाष्य में वेदमन्त्रों के जो ऋषि लिखे हैं, वे यजुर्वेदीय सर्वानुक्रमसूत्र से लिये हैं। यथा प्रथम दो अध्यायों के मन्त्रों का ऋषि 'परमेष्ठी प्रजापति' लिखा है।

देवता—

ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के प्रश्नोत्तरविषय में स्वामीजी ने 'मन्त्रों पर देवता क्यों लिखे जाते हैं?' यह प्रश्न उठाकर उसका उत्तर यह दिया है—"**यस्य यस्य मन्त्रस्य यो यो ऽर्थो ऽस्ति स सोऽर्थस्तस्य तस्य देवताशब्देनाभिप्रायार्थविज्ञापनार्थं प्रकाश्यते। एतदर्थं देवताशब्दलेखनं कृतम्॥**" अर्थात्

वेदमन्त्रों के देवता इस हेतु से लिखे हैं कि जिस-जिस मन्त्र का जो-जो अर्थ होता है, उस-उस अर्थ का अभिप्राय देवता-वाचक शब्द से विज्ञात हो जाता है। इससे देवता का यह लक्षण सूचित होता है कि जिससे किसी मन्त्र का अभिप्रायार्थ विज्ञात हो वह उस मन्त्र का देवता होता है। इससे हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि मुख्यतः देवता दो प्रकार के हो सकते हैं, एक तो वे जिनका नाम उस मन्त्र में या उसके आस-पास के मन्त्रों में पठित हो, यथा अग्नि, वायु, सविता, सूर्य, मित्र, वरुण, अश्विनौ, मित्रावरुणौ, मरुतः, ऋभवः आदि; दूसरे ऐसे भी देवता हो सकते हैं, जिनका नाम तो उस मन्त्र में या उसके आस-पास के मन्त्रों में उल्लिखित न हो, किन्तु उनके विषय का वर्णन उस वेदमन्त्र में पाया जाता हो, यथा परमात्मा, जगदीश्वर, सभेश, सेनेश, राजा-प्रजा, राजपत्नी, न्यायाधीश आदि। अपने यजुर्वेदभाष्य में स्वामीजी ने मन्त्रों के जो देवता लिखे हैं, उनमें से कुछ प्रथम प्रकार के हैं, कुछ द्वितीय प्रकार के। यथा, प्रथम प्रकार के—अग्निः १.५, वायुः ७.७, सविता १.१,३,२०, सूर्यः २३.१०, इन्द्रः २०.२८-३१, विष्णुः २.६, रुद्रः ३.५८, अश्विनौ २८.७, सोमः ७.२, मरुतः ३.४४, वरुणः १२.१२, उषाः ३४.३३। द्वितीय प्रकार के—परमात्मा १०.१५, २२.६-८ परमेश्वरः २३.१, ईश्वरः ४.८, जीवेश्वरौ १२.१४, विद्वांसः ६.१२,७.३, सेनेशः २०.३३, गृहपतयः ८.१४,१८, योगी ७.६, वैद्याः ८८-९३, विदुषी १५.५८,६३, पत्नी ८.४२,४३, यज्ञः १.२,७, जिज्ञासुः २३.११, प्रष्टा २३.५३, सभापतिः २०.४, दम्पती ८.२७-३२, मनुष्याः १९.६, स्त्रियः १९.३०,३१, वीराः १९.४०-४६, महावीरः सेनापतिः १९.५१, प्रजा २३.४०, राजा २३.४३,४४।

स्वामीजी ने शतपथ, श्रौतसूत्र, सर्वानुक्रमसूत्र आदि में प्रोक्त कर्मकाण्ड के देवता अपने भाष्य में नहीं लिये हैं, क्योंकि उन्होंने अपना भाष्य कर्मकाण्ड से स्वतन्त्र होकर किया है।

छन्द—

वैदिक छन्दों के तीन सप्तक हैं—गायत्र्यादि सप्तक, अतिजगत्यादि सप्तक और कृत्यादि सप्तक। गायत्र्यादि सप्तक में गायत्री, उष्णिक्, अनुष्टुप्, बृहती, पङ्क्ति, त्रिष्टुप् और जगती ये सात छन्द आते हैं। ये सातों गायत्र्यादि छन्द आर्ष, दैव, आसुर, प्राजापत्य, याजुष, साम्न, आर्च और ब्राह्म के भेद से आठ प्रकार के होते हैं। इनके संक्षिप्त परिचयार्थ तालिका नीचे दी जा रही है।

छन्द-नाम	गायत्री	उष्णिक्	अनुष्टुप्	बृहती	पङ्क्ति	त्रिष्टुप्	जगती	अक्षरों में वृद्धि-ह्रास
१. आर्षी	२४	२८	३२	३६	४०	४४	४८	वृद्धि ४ अक्षर
२. दैवी	१	२	३	४	५	६	७	वृद्धि १ अक्षर
३. आसुरी	१५	१४	१३	१२	११	१०	९	ह्रास १ अक्षर
४. प्राजापत्या	८	१२	१६	२०	२४	२८	३२	वृद्धि ४ अक्षर
५. याजुषी	६	७	८	९	१०	११	१२	वृद्धि १ अक्षर
६. साम्नी	१२	१४	१६	१८	२०	२२	२४	वृद्धि २ अक्षर
७. आर्ची	१८	२१	२४	२७	३०	३३	३६	वृद्धि ३ अक्षर
८. ब्राह्मी	३६	४२	४८	५४	६०	६६	७२	वृद्धि ६ अक्षर

आर्षी गायत्री २४ अक्षर की होती है, आगे उष्णिक् आदि में ४-४ अक्षरों की वृद्धि होती चलती है। दैवी गायत्री १ अक्षर की होती है, यथा ओ३म्, श्रीः, आगे १-१ अक्षर की वृद्धि होती चलती है। आसुरी गायत्री १५ अक्षर की होती है, आगे के छन्दों में क्रमशः १-१ अक्षर का ह्रास होता चलता है। इसी प्रकार प्राजापत्या आदि छन्दों को तालिका के अनुसार जानना चाहिए।

इसके अतिरिक्त अतिजगत्यादि सप्तक और कृत्यादि सप्तक के छन्द निम्न प्रकार से होते हैं—

अतिजगत्यादि सप्तक		**कृत्यादि सप्तक**	
अतिजगती	५२ अक्षर	कृति	८० अक्षर
शक्वरी	५६	प्रकृति	८४

अतिशक्वरी	६०	आकृति	८८
अष्टि	६४	विकृति	९२
अत्यष्टि	६८	संकृति	९६
धृति	७२	अभिकृति	१००
अतिधृति	७६	उत्कृति	१०४

इस प्रकार प्रत्येक छन्द में ४-४ अक्षर की वृद्धि होती है। अब तक हमने जो भी छन्द देखे हैं, उन सभी में एक अक्षर कम होने पर उनके साथ **निचृद्** विशेषण लगता है और एक अक्षर अधिक होने पर **भुरिक्**। दो अक्षर की न्यूनता होने पर उनके साथ **विराट्** विशेषण प्रयुक्त होता है और दो अक्षर की अधिकता होने पर **स्वराट्**। यथा २४ अक्षर वाली गायत्री में यदि २३ अक्षर हों, तो वह निचृद् गायत्री कहलायेगी तथा यदि २५ अक्षर हों तो भुरिग् गायत्री। इसी प्रकार ३२ अक्षर वाले अनुष्टुप् छन्द में ३० अक्षर हों, तो वह विराट् अनुष्टुप् कहलायेगा और ३४ अक्षर होने पर स्वराड् अनुष्टुप्। यहाँ यह शङ्का उठ सकती है कि बृहती छन्द में ३६ अक्षर होते हैं, दो अक्षर कम मानकर ३४ अक्षर वाले छन्द को विराड् बृहती क्यों न कहें? इसका उत्तर यह है कि पूर्व और पश्चात् की ऋचाओं को तथा पादों को देखकर इसका निर्णय करना होता है। यदि आस-पास की ऋचाएँ अनुष्टुप् की हैं तथा विचारणीय मन्त्र में पाद अनुष्टुप्-सदृश हैं तो उसे स्वराड् अनुष्टुप् कहेंगे और यदि प्रकरण बृहती का है तथा विचारणीय मन्त्र के पाद बृहती-सदृश हैं तो उसे विराड् बृहती कहा जायेगा।

किसी छन्द में कोई एक पाद ५ अक्षर का होने पर उसके साथ **शंकुमती** विशेषण लगता है और कोई एक पाद ६ अक्षर का हो तो **ककुम्मती** विशेषण। तीन पादों वाले छन्द में यदि मध्य का पाद इतर पादों से छोटा हो, तो उसकी चींटी-जैसी आकृति होने के कारण उसे **पिपीलिकामध्या** विशेषण से युक्त करते हैं, और मध्य का पाद यदि अन्य पादों से मोटा

हो, तो उसकी यव (जौं) जैसी आकृति होने के कारण उसके साथ **यवमध्या** विशेषण लगाते हैं। यथा—पिपीलिकामध्या गायत्री अथवा यवमध्या गायत्री। छन्द के निर्णय में अक्षरसंख्या सबसे बलवान् हेतु माना गया है। एक सम्प्रदाय ऐसा भी है, जो सन्धि तोड़कर या अन्य उपायों से छन्द की अभीष्ट अक्षरसंख्या पूर्ण कर लेता है। उस स्थिति में निचृद्, भुरिग् आदि लगाने की आवश्यकता नहीं होती। इसके नियम भी छन्दःशास्त्र में दिये हैं। ऋग्वेद में कुछ अपवादों को छोड़कर आर्ष गायत्र्यादि सप्तक के छन्दों का ही प्रयोग हुआ है, किन्तु माध्यन्दिन यजुर्वेद में आर्ष गायत्र्यादि सप्तक के अतिरिक्त अन्य छोटे-बड़े सप्तकों के भी विविध छन्द प्रयुक्त मिलते हैं। कोई-कोई मन्त्र एकाधिक छन्दों से मिलकर भी बने हैं।

स्वर और स्वरचिह्न

पतञ्जलि ने महाभाष्य १.२.३३ में सात स्वरों का उल्लेख किया है—उदात्त, उदात्ततर, अनुदात्त, अनुदात्ततर, स्वरित, स्वरित-पर उदात्त और एकश्रुति। हम यहाँ प्रमुख स्वर उदात्त, अनुदात्त, स्वरित और एकश्रुति पर ही विचार करेंगे। ये स्वर ह्रस्व, दीर्घ या प्लुत अचों (अ, इ, उ, ऋ, लृ, ए, ओ, ऐ, औ) के ही होते हैं, व्यञ्जनों के नहीं, किन्तु स्वरसहित व्यञ्जनों के भी कह दिये जाते हैं। यथा अग्नि में इ उदात्त है, परन्तु इ से सहचरित 'ग्नि' उदात्त कह दिया जाता है।

उदात्त—उच्चैरुदात्तः पा० १.२.२९। उच्चारणावयवों के उच्च प्रयत्न से जो बोला जाता है, वह उदात्त होता है। सूत्र का यह आशय नहीं है कि उच्च ध्वनि से जो बोला जाये, वह उदात्त होता है। उदात्त अक्षर पर कोई चिह्न नहीं लगता है, अनङ्कित रहता है।

अनुदात्त—नीचैरनुदात्तः पा० १.२.३०। उच्चारणावयों के नीचे प्रयत्न से उच्चारण किया जानेवाला अक्षर अनुदात्त होता है। अनुदात्त अक्षर पर ऋग्वेद और अथर्ववेद के समान

माध्यान्दिन यजुर्वेद में भी नीचे लेटी रेखा दी जाती है। यथा, 'इषे' में इ अनुदात्त है।

स्वरित—समाहारः स्वरितः पा० १.२.३१। उदात्त और अनुदात्त का जिसमें समाहार (मेल) होता है, वह स्वरित कहाता है। स्वरित में कितना अंश उदात्त का और कितना अंश अनुदात्त का होता है, इस विषय में पाणिनि की व्यवस्था है कि स्वरित की प्रथम आधी मात्रा उदात्त होती है, शेष अनुदात्त—**तस्यादित उदात्तमर्धह्रस्वम्** पा० १.२,३२। स्वरित का चिह्न है अक्षर के ऊपर खड़ी रेखा। यथा, 'गोप॑तौ' में प॑ स्वरित है।

एकश्रुति—स्वरित से परे एक या अधिक जो अनुदात्त होते हैं, उनकी एकश्रुति हो जाती है, किन्तु जिस अनुदात्त से परे उदात्त या स्वरित हो उसकी एकश्रुति नहीं होती, अपितु वह अनुदात्त अनुदात्ततर (सन्नतर) हो जाता है—**स्वरितात् संहितायामनुदात्तानाम्** (पा० १.२.३९), **उदात्तस्वरितपरस्य सन्नसरः** (पा० १.२.४०)। एकश्रुति का उदात्त के समान कोई चिह्न नहीं होता। यथा, गोप॑तौ स्यात बह्वीः=गोप॑तौ स्यात बह्वीः। यहाँ प॑ स्वरित से परे 'तौ स्यात' ये अनुदात्त अक्षर एकश्रुति हो जाते हैं, किन्तु अनुदात्त 'ब' एकश्रुति नहीं होता, यतः उससे परे 'ह्वीः' उदात्त है। एकश्रुति और उदात्त की पहचान ऐसे होती है कि एकश्रुति का क्षेत्र बतला दिया, जो अचिह्नित अक्षर एकश्रुति नहीं है, वह उदात्त है। यथा, 'यज॑मानस्य पशून् पा॑हि', यहाँ अचिह्नित पहला य और शू उदात्त हैं, प अनुदात्ततर है, ज॑ और पा॑ स्वरित हैं और अचिह्नित 'मानस्य' तथा 'हि' एकश्रुति हैं।

स्वरित के प्रमुख भेद और स्वरचिह्न

१. अनुदात्तज स्वरित—उदात्त से परे अनुदात्त को स्वरित हो जाता है—**उदात्तादनुदात्तस्य स्वरितः** पा० ८.४.६६। यथा 'गोप॑तौ' में उदात्त 'गो' से परे अनुदात्त प को स्वरित हो गया है। 'मा ते॑' में उदात्त मा से परे अनुदात्त ते को स्वरित हुआ

है। परन्तु यह नियम तभी क्रियाचित होता है यदि उस अनुदात्त से परे उदात्त या स्वरित न हो। यथा, 'इ॒षे त्वो॒र्जे' में उदात्त षे से परे अनुदात्त त्वो को स्वरित इस कारण नहीं हुआ, क्योंकि उससे परे र्जे उदात्त है। पाणिनि का सूत्र है **'नोदात्त-स्वरितोदयम् अगार्ग्यकाश्यपगालवानाम्** पा० ८.४.६७।'

२. जात्य स्वरित—जो जाति या जन्म से ही स्वरित हो वह जात्य स्वरित कहलाता है। यथा, धा॒न्य॑म्, क्व॑, स्व॑ः। धा॒न्य॑म् में धा धातु से उणादि यत् प्रत्यय और नुट् का आगम (उ० ५.४८)। क्व में किम् से अत् प्रत्यय **'किमोऽत्'** पा० ५.३.१२। दोनों शब्द तित्प्रत्ययान्त होने के कारण **'तित् स्वरितम्'** पा० ६.१.१८५ के नियम द्वारा जाति या जन्म से ही स्वरित हैं। स्व॑ः **'न्यङ्स्वरौ स्वरितौ'** फिट्सूत्र ७४ से स्वरित है।

३. अभिनिहित स्वरित—उदात्त ए और ओ से परे अनुदात्त अ परे होने पर पूर्वरूप सन्धि होती है—**'एङः पदान्तादति'** पा० ६.१.१०८। यह पूर्वरूप **'स्वरितो वाऽनुदात्ते पदादौ'** पा० ८.२.६ के नियम से जहाँ स्वरित होता है, वहाँ अभिनिहित स्वरित कहलाता है।

४. क्षैप्र स्वरित—इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ, ऌ से अच् परे होने पर य्, व्, र्, ल् आदेश की यण्सन्धि होती है, उसे क्षेप्र सन्धि कहते हैं। जहाँ उदात्त इ, उ आदि के स्थान पर य्, व् आदि क्षैप्र सन्धि होने पर अगले अनुदात्त स्वर को **'उदात्त-स्वरितयोर्यणः स्वरितो ऽनुदात्तस्य'** पा० ८.२.४ के नियम से स्वरित होता है, उस स्वरित को क्षैप्र स्वरित कहते हैं।

५. प्रश्लिष्ट स्वरित—अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ, इनका सवर्णदीर्घरूप एकादेश होने पर अथवा अ+इ का एकाररूप अ+उ का ओकाररूप, अ+ए का ऐकाररूप और अ+ओ का औकाररूप एकादेश होने पर, जब उदात्त तथा अनुदात्त का एकादेश स्वरित होता है, तब उस स्वरित को प्रश्लिष्ट स्वरित कहते हैं।



अनुदात्त से परे जात्य, अभिनिहित, क्षैप्र और प्रश्लिष्ट स्वरित को माध्यन्दिन यजुर्वेद में नीचे (‿) ऐसे चिह्न से दर्शाया जाता है। यथा—

जात्य–धान्यम् असि=धान्यमसि १.२०

अभिनिहित–धर्मो असि=धर्मोऽसि १.२

क्षैप्र–पृथिवी असि–पृथिव्यसि १.२

प्रश्लिष्ट–अभि इन्धताम्=अभीन्धताम् ११.६१

यदि जात्य, अभिनिहित, क्षैप्र और प्रश्लिष्ट स्वरित से परे उदात्त अक्षर हो तो माध्यन्दिन यजुर्वेद में स्वरित के नीचे (‿‿) ऐसा चिह्न दिया जाता है। यथा—

जात्य–दूत्यम् अवतां त्वा=दूत्यमवतां त्वा २.९

अभिनिहित–योऽस्मान् द्वेष्टि=योऽस्मान् द्वेष्टि १.२५

क्षैप्र–उर्वन्तरिक्षमन्वेमि १.७

प्रश्लिष्ट–अभीमं महिमा ३८.१७

अनुदात्तज स्वरित को सर्वत्र ऊपर खड़ी रेखा से ही लिखा जाता है।

अन्य चिह्न

१. पदान्त में ए या ओ हो और उससे परे ह्रस्व अ हो तो पूर्वरूप सन्धि होती है, उसे प्रकट करने के लिए ऽ का चिह्न लगाया जाता है। यथा, पयोऽसि १.२०, वर्षिष्ठेऽधि १.२२, यद्वो ऽ शुद्धाः १.१३, उपस्थे ऽग्नें १.११। प्राप्त पूर्वरूप सन्धि यदि न हो, तो भी ऽ का चिह्न लगता है। यथा, योऽ अमीवहा ३.२९, जातो ऽ अरोचथाः ३.१४, दुदुह्रे ऽ अह्नयः ३.१६, नमस्ते ऽ अस्तु ३.६३।

२. अच् परे होने पर जहाँ सन्धि में विसर्ग का लोप होता है या ऐसी सन्धि होती है जिसमें दोनों ओर स्वर रहे वहाँ भी ऽ का चिह्न प्रयुक्त होता है। यथा, स्तेन ऽ ईशत, ध्रुवा ऽ अस्मिन् १.१, स ऽ इदं १.१५, देवेभ्य ऽ आ २.५, सद

ऽ आसींद २.६, तं तं ऽ एतम् २.१७ यन्में तुन्वा ऽ ऊर्नं तन्मु ऽ आपृंण ३.१७, बिभ्रंतु ऽ एमंसि ३.४१, उपंहूता ऽ इह गावु ऽ उपंहूता ऽ अजावयंः ३.४३, इमा ऽ आपुः ४.१, पूत ऽ एंमि ४.२, श्रोत्रं मु ऽ आगंन् ४.१५, भाग ऽ इतिं ४.२४, पयं ऽ उस्रियांसु ४.३१, पुर ऽ एंतु ५.३७, निव्याधिनं ऽ आव्याधिनींनां।

३. प्रगृह्य संज्ञा होने पर जहाँ सन्धि नहीं होती, वहाँ भी ऽ का चिह्न लगता है। यथा, द्यावांपृथिवी ऽ अन्तरिक्षं १३.४६, द्यावांपृथिवी ऽ इमे १४.६।

४. अच् परे हो तो आन् के न् का लोप होने पर पूर्व आ को जो अनुनासिक होता है, उससे परे २ऽ का चिह्न लगता है। यथा, वशाँ २ऽ अनु ३.५२, मुहाँ २ऽ इन्द्रो ७.४०, मुहाँ २ऽ अंसि, अस्माँ २ऽ अभिदासंति १२.१०१। स्वाध्याय मण्डल पारडी के संस्करण में ऐसे स्वरों पर केवल २ का अङ्क दिया है। वैदिक मन्त्रालय अजमेर के संस्करण में २ऽ का चिह्न है। किन्हीं संस्करणों में २॥ऽ ऐसा चिह्न मिलता है। जहाँ न् का लोप न होकर न् को र् होता है, वहाँ १ का अङ्क या १ऽ का चिह्न देते हैं। यथा, शत्रूँ १ऽ रप ७.३७, परिधीँ १ऽ रपोंर्णु १९.५३, क्षिणन्ति शत्रूँ १ऽ रनंपव्ययन्तंः २९.४४। किन्हीं संस्करणों में १॥ऽ ऐसा चिह्न दिया है।

५. ह्रस्वपूर्व अनुस्वार दीर्घ होता है, क्योंकि उसकी १+१/२ (डेढ़) मात्रा होती है। इसके विरीत दीर्घपूर्व अनुस्वार ह्रस्व होता है, क्योंकि वह १/२ (आधी) मात्रावाला होता है।[1] ह, श, ष, स, र में से कोई अक्षर परे हो तो ह्रस्वपूर्व अनुस्वार के स्थान पर दीर्घ अनुस्वार का ँ चिह्न लगता है और दीर्घपूर्व अनुस्वार के स्थान पर ह्रस्व अनुस्वार का ꣳ चिह्न। कई लोग इन चिह्नों का 'ग्वङ्' उच्चारण करते

---

१. अनुस्वारो ह्रस्वपूर्वो ऽ ध्यर्धमात्रा पूर्वा चार्धमात्रेति। दीर्घादर्धमात्रा पूर्वा चाध्यर्धा। वाजसनेयि प्रातिशाख्य ४.१५०-५१।

हैं, वह शुद्ध नहीं है। वस्तुतः इनका उच्चारण अनुस्वार और अनुनासिक के बीच का होता है। दीर्घ और ह्रस्व दोनों के उदाहरण नीचे दिये जा रहे हैं।

दीर्घ	ह्रस्व
अयꣳ हि ५.४३	पशूनाꣳ हुवि १९.९२
इमꣳ हवंम् ७.३४	तेषाꣳ श्रीर्मयि १९.४६
इषमूर्जꣳ शतक्रतो ३.४९	यजूꣳ षि १८.६७
यज्ञꣳ संविता १९.८०	अपाꣳ संङ्गमे ७.१६
वयꣳ रुंहेम ५.४३	शस्त्राणांꣳ रूपं १९.२५

मूर्धन्य ष परे होने पर दीर्घ चिह्न ꣳ का माध्यन्दिन संहिता में कोई उदाहरण नहीं मिला। यह द्रष्टव्य है कि संयुक्ताक्षर परे होने पर पूर्व अक्षर को दीर्घ माना जाता है। अतः वहाँ पूर्व ह्रस्व को दीर्घ मान कर ह्रस्व ꣳ चिह्न ही लिखा जाता है। यथा—

१. सि ꣳ ह्यसि ५.१०
२. वषट्कृत ꣳ स्वाहा ७.२६
३. अग्नि ꣳ स्रुचौ २७.१४
४. छन्दंसेन्द्रिय ꣳ श्रोत्र २८.३८

स्वामी दयानन्द का यजुर्वेदभाष्य

स्वामी दयानन्द सरस्वती ने ऋग्वेद और यजुर्वेद का भाष्य प्रारम्भ करने से पूर्व ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका लिखी। उनका चारों वेदों का भाष्य करने का विचार था और चारों वेदों के भाष्य की भूमिका यही थी। इसमें उन्होंने ईश्वरप्रार्थना करके वेदोत्पत्ति, वेदनित्यत्व, वेदविषयविचार, वेदसंज्ञाविचार, ब्रह्म-विद्या, वेदोक्त धर्म, सृष्टिविद्या, पृथिव्यादिलोकभ्रमण, आकर्षणा-नुकर्षण, प्रकाश्यप्रकाशक, गणितविद्या, ईश्वरस्तुतिप्रार्थना-याचनासमर्पण, ईश्वरोपासना, मुक्ति, नौविमानादिविद्या, पुनर्जन्म, विवाह, नियोग, राजप्रजाधर्म, वर्णाश्रम, पञ्चमहायज्ञ, ग्रन्थ-प्रामाण्याप्रामाण्य, वेदाध्ययनाधिकारानधिकार, पठनपाठन,

भाष्यकरणशङ्कासमाधानादि, भाष्यविषयकप्रतिज्ञा, वेदविषयक प्रश्नोत्तर, वैदिकप्रयोग, स्वरव्यवस्था, व्याकरणनियम, अलङ्कार-भेद तथा ग्रन्थसङ्केत विषयों का सप्रमाण प्रतिपादन किया है। इस भूमिका का स्वामीजी की दृष्टि में बहुत महत्त्व था। अतएव उन्होंने यह नियम निर्धारित किया था कि "जो कोई भूमिका के बिना केवल वेदभाष्य ही लिया चाहें सो नहीं मिल सकते, किन्तु भूमिका पृथक् मिल सकती है।"

स्वामी दयानन्द के स्वलेखानुसार शतपथ, निरुक्त आदि के प्रमाणों से युक्त यजुर्वेदभाष्य के लेखन का आरम्भ विक्रम संवत् १९३४ पौष सुदि १३ गुरुवार के दिन प्रातः हुआ था। भाष्य के अन्त में मुद्रित पङ्क्ति के अनुसार मार्गशीर्ष कृष्ण १, शनिवार संवत् १९३९ को लेखन समाप्त हुआ। इस प्रकार इस भाष्य के लेखन में लगभग ४ वर्ष १० मास लगे थे। इस भाष्य का मुद्रण अनुमानतः ऋग्वेदभाष्य के मुद्रण के आस-पास श्रावण संवत् १९३५ वि० में आरम्भ हुआ होगा और भाष्य के अन्त में मुद्रित पङ्क्ति के अनुसार वैशाख शुक्ल ११, शनि, संवत् १९४६ में छप कर समाप्त हुआ। इस प्रकार छपने में लगभग ११ वर्ष लगे। स्वामीजी के जीवनकाल में १५वें अध्याय के ११वें मन्त्र तक यह भाष्य छपा था, शेष सारा भाष्य उनके महाप्रयाण के पश्चात् छपा।

यजुर्वेद के प्रतिपाद्य विषय में सम्बन्ध में स्वामीजी भाष्य के प्रारम्भिक प्रकरण में लिखते हैं कि ईश्वर ने जीवों को गुण-गुणी के विज्ञान के उपदेश के लिए ऋग्वेद में सब पदार्थों की व्याख्या करके यजुर्वेद में यह उपदेश किया है कि उन पदार्थों से यथायोग्य उपकार ग्रहण करने के लिए कर्म किस प्रकार करने चाहिएँ। उसके लिए जो-जो अङ्ग और जो-जो साधन अपेक्षित हैं, उन सबका प्रकाश यजुर्वेद में किया गया है। जब तक ज्ञान क्रियानिष्ठ नहीं होता, तब तक उससे श्रेष्ठ सुख कभी प्राप्त नहीं होता। विज्ञान क्रिया में निमित्त बनता है, प्रकाशकारक होता है, अविद्या की निवृत्ति करता है, धर्म में

प्रवृत्ति करता है और धर्म तथा पुरुषार्थ का मेल कराता है। जो-जो कर्म विज्ञाननिमित्तक होता है, वह-वह सुखजनक हो जाता है। अतः मनुष्यों को चाहिए कि विज्ञानपूर्वक ही नित्य कर्मानुष्ठान करें। जीव चेतन होने से बिना कर्म किये नहीं रह सकता। कोई भी मनुष्य आत्मा, मन, प्राण और इन्द्रियों के सञ्चालन के बिना क्षणभर भी नहीं रह सकता। **'यजुर्भिः यजन्ति'** इस प्रमाण से यजुर्वेद के मन्त्रों से यजन किया जाता है। 'यजुः' में देवपूजा, सङ्गतिकरण और दान अर्थ वाली यज धातु है। जिससे मनुष्य ईश्वर का और धार्मिक विद्वानों का पूजा-सत्कार करते हैं, अपनी सब चेष्टाओं में परस्पर सङ्गति उत्पन्न करते हैं, पदार्थों के सङ्गतिकरण द्वारा शिल्पविद्या की सिद्धि करते हैं, शुभ विद्या और शुभ गुणों का दान करते हैं, यथायोग्य सबके उपकार में, शुभ व्यवहार में और विद्वानों में धनादि का व्यय करते हैं, वह यजुः है। इस प्रकार यजुर्वेद में कर्मकाण्ड का वर्णन है। ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में स्वामीजी लिखते हैं कि कर्मकाण्ड के मुख्य दो भेद हैं, एक वह जो परमपुरुषार्थ की सिद्धि के लिए होता है, अर्थात् जो ईश्वर की स्तुति, प्रार्थना , उपासना, आज्ञापालन, धर्मानुष्ठान द्वारा मोक्ष की सिद्धि के लिए प्रवृत्त होता है और दूसरा वह जो लोकव्यवहार की सिद्धि के लिए धर्मपूर्वक अर्थ तथा काम की पूर्ति के लिए किया जाता है। यह दूसरा भी जब परमेश्वर की प्राप्तिरूप फल के उद्देश्य से होता है तब निष्काम कहलाता है और जब लौकिक सुख के लिए किया जाता है तब सकाम कहा जाता है। अग्निहोत्र से लेकर अश्वमेधपर्यन्त यज्ञ, वर्णाश्रमधर्म, राजा-प्रजा के कर्त्तव्य आदि सब कर्मकाण्ड इसी में आता है। उक्त सम्पूर्ण कर्मकाण्ड का प्रकाश यजुर्वेद के दयानन्दभाष्य में मन्त्रार्थों तथा भावार्थों द्वारा किया गया है। यहाँ हम दयानन्दभाष्य से शिक्षा-विषय का एक नमूना दे रहे हैं।

शिक्षा विषय का नमूना

३.२८ के भाष्य में कहा गया है कि पुत्र दो प्रकार के होते हैं, एक औरस, दूसरे विद्याजन्य; हमें ईश्वर से प्रार्थना करनी चाहिए कि हमें विद्याप्रकाशित, सर्वक्रियाकुशल तथा प्रीतिपूर्वक विद्याध्ययन करनेवाले विद्यापुत्र प्राप्त हों। इससे विद्याध्ययन, विद्याध्यापन एवं शिक्षा का महत्त्व ज्ञात हो जाता है। पिता आदि अपने सन्तानों को किस प्रकार अध्यापक को सौंपें और वह उन सन्तानों को किस प्रकार ग्रहण करे, इसका उपदेश निम्न मन्त्र में किया गया है—

रेवती रमध्वं बृहस्पते धारया वसूनि ।
ऋतस्य त्वा देवहविः पाशेन प्रतिमुञ्चामि धर्षा मानुषः ॥

—यजु० ६।८

पदार्थ—हे (**रेवतीः**) प्रशस्त धनवाली सन्तानो! तुम विद्या और शिक्षा में (**रमध्वम्**) रमो। हे (**बृहस्पते**) वेदवाणी के पालक विद्वन्! आप (**ऋतस्य**) सत्य न्याय व्यवहार से प्राप्त (**वसूनि**) धनों को (**धारय**) स्वीकार कीजिए। अब अध्यापक शिष्य को उपदेश करता है—हे शिष्य! (**मानुषः**) सब शास्त्रों का मनन करनेवाला मैं (**पाशेन**) अविद्या के बन्धन से (**देवहविः यथा तथा**) विद्वानों का जैसा ग्रहण करने योग्य चरित्र होता है वैसे चरित्रवाला होकर (**त्वा प्रतिमुञ्चामि**) तुझे छुड़ाता हूँ। तू विद्या और सुशिक्षाओं में (**धर्ष**) उत्साहित हो।

भावार्थ—विद्वानों को अपनी शिक्षा से कुमार ब्रह्मचारी और कुमारी ब्रह्मचारिणियों को परमेश्वर से लेके पृथिवीपर्यन्त पदार्थों का बोध कराना चाहिए, जिससे वे मूर्खता के बन्धन को छोड़ के सदा सुखी हों।

पढ़ने और पढ़ानेवालों का परस्पर व्यवहार अगले मन्त्र

में कहा है—

ओमासश्चर्षणीधृतो विश्वे देवासऽआगत ।
दाश्वाꣳसो दाशुषः सुतम्। उपयामगृहीतोऽसि
विश्वेभ्यस्त्वा देवेभ्यऽएष ते योनिर्विश्वेभ्यस्त्वा देवेभ्यः॥

—यजु० ७।३३

पदार्थ—हे (**ओमासः**) सद्गुणों द्वारा रक्षा करनेवाले, (**चर्षणीधृतः**) मनुष्यों की पुष्टि-संतुष्टि करनेवाले (**विश्वे देवासः**) समस्त विद्वानो! तुम (**दाश्वांसः**) उत्कृष्ट ज्ञान को देते हुए (**दाशुषः**) दानशील उत्तम जन के (**सुतम्**) सत्कर्मानुष्ठान से ऐश्वर्य प्राप्त करनेवाले पुत्र के पास (**आगत**) आओ। हे दानशील के पुत्र! तू (**उपयामगृहीतः**) अध्यापन के नियमों से जकड़ा हुआ (**असि**) है, इसलिए (**त्वा**) तुझे (**विश्वेभ्यः देवेभ्यः**) समस्त विद्वानों के लिए, अर्थात् उनकी सेवा के लिए आज्ञा देता हूँ। (**एषः**) यह विद्या-शिक्षा का संग्रह (**ते योनिः**) तेरी विद्वत्ता का कारण है, अतः (**त्वा**) तुझे (**विश्वेभ्यः देवेभ्यः**) सब विद्वानों से अच्छी-अच्छी शिक्षा दिलाता हूँ।

भावार्थ—सब विद्वान् लोगों और विदुषी स्त्रियों को योग्य है कि समस्त बालकों और कन्याओं को निरन्तर विद्यादान करें और राजाओं तथा धनी लोगों के पदार्थों से अपनी जीविका करें। वे राजा और धनी लोग विद्या और सुशिक्षा से प्रवीण होकर अपने-अपने अध्यापक विद्वानों और विदुषी स्त्रियों को धन आदि पदार्थ देकर उनकी सेवा करें। माता-पिता आठ-आठ वर्ष के कुमार और कुमारियों को विद्याभ्यास, ब्रह्मचर्य-सेवन और अच्छी शिक्षा करने के लिए विद्वान् और विदुषी स्त्रियों को सौंप दें। वे अध्येता कुमार और कुमारियाँ विद्या ग्रहण करने में नित्य मन लगावें और वे अध्यापक-अध्यापिका भी विद्या और सुशिक्षा देने में नित्य प्रयत्न किया करें।

शिक्षा का विषय महर्षि दयानन्द के ऋग्वेदभाष्य और

यजुर्वेदभाष्य में इतनी परिपूर्णता के साथ है कि उस पर एक ग्रन्थ लिखा जा सकता है। यही स्थिति वर्णव्यवस्था, आश्रमव्यवस्था, राजनीति, यज्ञ, नारी और गृहाश्रम, योगाभ्यास एवं ईश्वरोपासना, भौतिक विज्ञान, अग्निविद्या, विद्युत्‌शिल्प एवं विमानादियान, समाजशास्त्र, मानव कर्त्तव्यशास्त्र आदि विषयों की है। अकेले यजुर्वेदभाष्य में ही इतने विषय प्रतिपादित हो गये हैं कि इसे मानव-जीवन के कर्मकाण्ड का विश्वकोष कहा जा सकता है।

प्रस्तुत ग्रन्थ

प्रस्तुत ग्रन्थ 'यजुर्वेद-ज्योति' में वाजसनेयि माध्यन्दिन शुक्ल यजुर्वेद संहिता के चुने हुए २०० मन्त्रों की संक्षिप्त व्याख्या है। इससे पूर्व ऋग्वेद के २०० मन्त्रों की व्याख्या 'ऋग्वेद-ज्योति' में विस्तृत भूमिका सहित की जा चुकी है, जिसका प्रकाशन समर्पण शोध-संस्थान ४/४२, सेक्टर ५, राजेन्द्रनगर, साहिबाबाद (गाजियाबाद) से दिसम्बर १९९९ में हो चुका है। ऋग्वेद में ईश्वर से लेकर तृणपर्यन्त पदार्थों की स्तुति अर्थात् उनका गुणवर्णन किया गया है। वहाँ जिन मन्त्रों में कर्मकाण्डपरक भाषा है, उसे भी गुणवर्णनपरक रूप में समझ लेना चाहिए। यथा, "**अक्षैर्मा दीव्यः कृषिमित् कृषस्व,** ऋ० १०.३४.१३ जुए के पासों से मत खेल, खेती कर"— इसकी परिणति इस तात्पर्य में कर लेनी चाहिए कि जुआ खेलना बुरा है और खेती करना अच्छा है। यजुर्वेद में कर्मकाण्ड का वर्णन है, अतः जिन मन्त्रों में गुण-गुणी-ज्ञान का उपदेश है, उन्हें भी कर्मकाण्डरूप में परिणत कर लेना चाहिए। यथा, "**स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणम्,** यजु० ४०.८ परमेश्वर चारों ओर व्याप्त है, तेजस्वी है, शरीर-रहित है, व्रण-रहित है"— इत्यादि का तात्पर्यबोध इस कर्मकाण्डरूप में कर लेना चाहिए कि इन गुणों से युक्त और इन दोषों से रहित परमेश्वर की तुम उपासना करो।

जिन मन्त्रों में परमेश्वर, सभाध्यक्ष आदि से कोई प्रार्थना की गयी है, उसका तात्पर्य यह जानना चाहिए कि जैसी हम प्रार्थना कर रहे हैं, वैसे ही कर्म भी हमें करने योग्य हैं, क्योंकि मन्त्र ३.३२ के भावार्थ में स्वामीजी लिखते हैं कि "प्रार्थना का मुख्य सिद्धान्त यही है कि जैसी प्रार्थना करनी वैसा ही पुरुषार्थ से कर्म का आचरण करना चाहिए।" इसी प्रकार जहाँ किसी सत्कर्म के विषय में यह कहा गया है कि 'मैं या हम ऐसा करते हैं', वहाँ यह अर्थयोजना कर लेनी चाहिए कि 'वैसा ही तुम भी करो' या 'वैसा ही सब करें'। यथा यजु० ५.३९ का मन्त्रभाग है '**निर्वरुणस्य पाशान्मुच्ये**' अर्थात् मैं वरुण के पाश से छूटता हूँ। इस पर भाष्य में स्वामी दयानन्द लिखते हैं—'**यथाऽहं वरुणस्य पाशान्मुच्ये तथा त्वमपि निर्मुच्यस्व**', अर्थात् हे सभाध्यक्ष! जैसे मैं वरुण के पाश से छूटता हूँ, वैसे ही आप भी छूटो। यजु० ५.२७ का मन्त्रभाग है '**ब्रह्मवनि त्वा क्षत्रवनि रायस्पोषवनि पर्यूहानि**'। इसके साथ भाष्य में स्वामीजी इतना और जोड़ देते हैं '**तथा त्वां सर्वे मनुष्याः पर्यूहन्तु**'। मिलाकर अर्थ बनता है कि ब्रह्म, क्षत्र और रायस्पोष का सेवन करने-करानेहारे तुझे जैसे मैं तर्क-वितर्क से जानता हूँ, वैसे ही तुझे सब मनुष्य जानें। ऐसे ही जहाँ किसी सद्गुण या सत्कर्म के विषय में यह कथन हुआ है कि 'तुम इस सद्गुण से युक्त हो या तुम ऐसा सत्कर्म करते हो', वहाँ यह अर्थयोजना अभीष्ट होती है कि 'वैसा ही गुणवान् या सत्कर्मकर्ता हमें या सबको होना चाहिए'। यथा, यजु० ५.२५ का मन्त्रांश है '**वैष्णवा स्थ**', अर्थात् तुम व्यापक परमेश्वर की उपासना करनेवाले हो। इसकी व्याख्या दयानन्दभाष्य में इस रूप में की गयी है कि '**यथा यूयं वैष्णवाः स्थ तथा वयमपि भवेम**', अर्थात् जैसे तुम व्यापक परमेश्वर के उपासक हो, वैसे ही हम भी हों। ऐसी अर्थयोजनाएँ स्वामीजी के यजुर्वेदभाष्य के मन्त्रों के अन्वय या भावार्थ में शतशः हुई हैं। इस सबसे यह सूचित होता है कि यजुर्वेद के

प्रत्येक मन्त्र को कर्मकाण्ड में परिणत करके हमें मानवोपयोगी व्यापक कर्मकाण्ड का बोध करना है।

प्रस्तुत ग्रन्थ में मन्त्र-व्याख्या का यह क्रम रखा गया है। सबसे पूर्व मन्त्र का शीर्षक दिया गया है, जिससे यह बोध हो जाता है कि मन्त्र में किस विषय का वर्णन है। उसके बाद पते सहित सस्वर वेदमन्त्र दिया गया है। तत्पश्चात् ऋषि, देवता और छन्द का निर्देश है। छन्दों में अक्षरगणना स्वरसहित व्यञ्जनों से होती है, यथा 'वि-श्वा-नि दे-व स-वि-तर्' ये आठ अक्षर होते हैं। संयुक्ताक्षर स्वरसहित एक ही गिना जाता है, हलन्त व्यञ्जन की पृथक् गणना नहीं होती है। तदनन्तर कोष्ठक में मन्त्रागत शब्द देते हुए अन्वयपूर्वक भाषार्थ लिखा गया है। उसके पश्चात् मन्त्रव्याख्या है और अन्त में आवश्यकतानुसार टिप्पणियाँ दी गयी हैं, जिनमें धातुनिर्देश, व्याकरण, व्युत्पत्ति, प्रमाण आदि हैं। मन्त्रार्थ और व्याख्या में यत्र-तत्र दयानन्दभाष्य से सहायता ली गयी है, कहीं-कहीं सम्पूर्ण मन्त्रार्थ स्वामी दयानन्द का ही है, भाषा परिवर्तित है। अधिकांश मन्त्रों का अर्थ और व्याख्यान स्वतन्त्र हमारा अपना है, किन्तु प्रमाणपरिपुष्ट है। **पाठक मन्त्रपाठ प्रारम्भ में 'ओ३म्' लगा कर करें।**

इस ग्रन्थ का प्रकाशन श्री घूडमल प्रहलादकुमार आर्य धर्मार्थ-न्यास, ब्यानिया पाड़ा, हिण्डौन सिटी (राजस्थान) से हो रहा है, तदर्थ इस न्यास के लोकप्रिय सजग स्फूर्तिमान् अध्यक्ष श्री प्रभाकरदेव आर्य का हार्दिक धन्यवाद करता हूँ।

वेदमन्दिर **रामनाथ वेदालङ्कार**
स्वतन्त्रता-दिवस, २००८ ज्वालापुर (हरिद्वार)

संक्षेपिका

अ०	अथर्ववेदसंहिता
अमर०	अमरकोष
उ०	उणादिकोष
ऋ०	ऋग्वेदसंहिता
ऋ० भा०	ऋग्वेदभाष्य
का०कृ०	काशकृत्स्न–व्याकरण
छा० उ०	छान्दोग्य उपनिषद्
तै०	तैत्तिरीय संहिता
तै० आ०	तैत्तिरीय आरण्यक
तै० उ०	तैत्तिरीय उपनिषद्
द०	दयानन्द स्वामी
द० भा०	दयानन्द–भाष्य
निघं०	निघण्टुकोष
निरु०	निरुक्त यास्कीय
पा०	पाणिनीयाष्टकम्
प्रश्न उप०	प्रश्नोपनिषद्
म०	महीधर
म० भा०	महाभारत
मु० उप०	मुण्डकोपनिषद्
मै०	मैत्रायणी संहिता
य०	यजुर्वेदसंहिता
य० भा०	यजुर्वेदभाष्य
श०	शतपथब्राह्मण
स० प्र०	सत्यार्थप्रकाश
समु०	समुल्लास

ईश-प्रार्थना

ऋषिः नारायणः। देवताः सविता। छन्दः गायत्री।

ओ३म् विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परा सुव।
यद्भद्रन्तन्नऽआ सुव॥ —यजु० ३०।३

हे **(सवितः)** सकल जगत् के उत्पत्तिकर्ता, समग्र-ऐश्वर्ययुक्त शुभगुणप्रेरक, **(देव)** तेजस्वी, शुद्धस्वरूप, सब सुखों के दाता परमेश्वर! आप कृपा करके **(नः)** हमारे **(विश्वानि)** सम्पूर्ण **(दुरितानि)** दुर्गुण, दुर्व्यसन और दुःखों को **(परा सुव)** दूर कर दीजिए। **(यत्)** जो **(भद्रम्)** कल्याणकारक गुण-कर्म-स्वभाव और पदार्थ हैं, **(तत्)** वह सब, हमको **(आ सुव)** प्रदान कीजिए।

हे जगदीश्वर! आप सूर्य, चन्द्र, तारावलि, पर्जन्य, पर्वत, निर्झर, सरिता, सागर आदि से परिपूर्ण सकल जगत् के उत्पत्तिकर्ता हो, समग्र ऐश्वर्यों से युक्त हो और हम मानवों के आत्मा में शुभ गुणों की प्रेरणा करनेवाले हो। आप 'देव' हो, तेजस्वी हो, तेज प्रदान करनेवाले हो, शुद्धस्वरूप हो और सब सुखों के दाता हो। जो दुर्गुण हमारे अन्दर आ गये हैं, जिन दुर्व्यसनों में हम फँस गये हैं, जिन आध्यात्मिक, आधिदैविक तथा आधिभौतिक दुःखों के हम घर हो रहे हैं, उन सबको आप हमारे अन्दर से दूर कर दीजिए। जो भद्र है, कल्याणकारक गुण-कर्म-स्वभाव है और जो कल्याणकारक पदार्थ हैं, वह हमें प्रदान कीजिए।

ऐसी कृपा कीजिए कि यह 'यजुर्वेद-ज्योति' अधिक से अधिक पाठकों के हृदयों में वेद का प्रकाश कर सके।

वैदिक राष्ट्र-गीत

ऋषिः प्रजापतिः । देवताः लिङ्गोक्ताः । छन्दः स्वराड् आकृतिः ।

ओ३म् आ ब्रह्मन् ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायता-
मा राष्ट्रे राजन्युः शूरऽइषव्योऽतिव्याधी महारथो जायतां
दोग्ध्री धेनुर्वोढानड्वानाशुः सप्तिः पुरन्धिर्योषा
जिष्णू रथेष्ठाः सभेयो युवास्य यजमानस्य वीरो जायतां
निकामेनिकामे नः पर्जन्यो वर्षतु
फलवत्यो नऽओषधयः पच्यन्तां
योगक्षेमो नः कल्पताम् ॥

—यजु० २२।२२

ब्रह्मन् स्वराष्ट्र में हों द्विज ब्रह्मतेज-धारी ।
क्षत्रिय महारथी हों अरिदल-विनाशकारी ॥
होवें दुधारु गौएँ पशु अश्व आशुवाही ।
आधार राष्ट्र की हों नारी सुभग सदा ही ॥
बलवान सभ्य योद्धा यजमान-पुत्र होवें ।
इच्छानुसार बरसें पर्जन्य ताप धोवें ॥
फल-फूल से लदी हों औषध अमोघ सारी ।
हो योगक्षेमकारी स्वाधीनता हमारी ॥

गीतकार : **प्रकाशचन्द्र कविरत्न**

१. हे गौ माता!

ऋषिः परमेष्ठी प्रजापतिः। देवता सविता। छन्दः क. स्वराड् बृहती, र. ब्राह्मी उष्णिक्।

ओ३म् [क] इषे त्वोर्जे त्वा वायवं स्थ देवो वः सविता प्रार्पयतु श्रेष्ठतमाय कर्मणऽआप्यायध्वमघ्न्याऽइन्द्राय भागं [र] प्रजावतीरनमीवाऽ अयक्ष्मा मा व स्तेनऽईशत माघशंसो ध्रुवाऽअस्मिन् गोपतौ स्यात बह्वीर्यजमानस्य पशून् पाहि॥

—यजु० १।१

हे गौ माता! मैं (**इषे[१] त्वा**) अन्नोत्पत्ति के लिए तुझे पालता हूँ, (**अर्ज्जे[२] त्वा**) बलप्राणदायक गोरस के लिए तुझे पालता हूँ। हे गौओ! तुम (**वायवः स्थ**) वायु के समान जीवनाधार हो। (**देवः सविता**) दाता[३] परमेश्वर व राजा[४] (**श्रेष्ठतमाय कर्मणे**) श्रेष्ठतम कर्म के लिए, हमें (**वः प्रार्पयतु**) तुम गौओं को प्रदान करे। (**अघ्न्याः**) हे न मारी जानेवाली गौओ! तुम (**आप्यायध्वम्**)[५] वृद्धि प्राप्त करो, हृष्टपुष्ट होवो। (**इन्द्राय**) मुझ यज्ञपति इन्द्र के लिए (**भागं**) भाग प्रदान करती रहो। तुम (**प्रजावतीः**) प्रशस्त बछड़े-बछड़ियों वाली, (**अनमीवाः**[६]) नीरोग तथा (**अयक्ष्माः**) राजयक्ष्मा आदि भयङ्कर रोगों से रहित होवो। (**स्तेनः**) चोर (**वः मा ईशत**) तुम्हारा स्वामी न बने, (**मा अघशंसः**) न ही पापप्रशंसक मनुष्य तुम्हारा स्वामी बने। (**अस्मिन् गोपतौ**) इस मुझ गोपालक के पास (**ध्रुवाः**) स्थिर और (**बह्वीः**[७]) बहुत-सी (**स्यात**) होवो। हे परमेश्वर व राजन्! आप (**यजमानस्य**) यजमान के (**पशून्**) पशुओं की (**पाहि**) रक्षा करो।

हे गौ माता! मैं तुझे पालता हूँ तेरी सेवा के लिए, अन्नोत्पत्ति के लिए और गोरस की प्राप्ति के लिए। तू सबका

उपकार करती है, अतः तेरी सेवा करना मेरा परम धर्म है, इस कारण तुझे पालता हूँ। तुझे पालने का दूसरा प्रयोजन अन्नोत्पत्ति है। तेरे गोबर और मूत्र से कृषि के लिए खाद बनेगा, तेरे बछड़े बैल बनकर हल जोतेंगे, बैलगाड़ियों में जुत कर अन्न खेतों से खलिहानों तक और व्यापारियों तथा उपभोक्ताओं तक ले जायेंगे। इस प्रकार तू अन्न प्राप्त कराने में सहायक होगी, इस हेतु तुझे पालता हूँ। तीसरे तेरा दूध अमृतोपम है, पुष्टिदायक, स्वास्थ्यप्रद, रोगनाशक तथा सात्त्विक है, उसकी प्राप्ति के लिए तुझे पालता हूँ। हे गौओ! तुम वायु हो, वायु के समान जीवनाधार हो, प्राणप्रद हो, इसलिए तुम्हें पालता हूँ। दानी परमेश्वर की कृपा से तुम मुझे प्राप्त होती रहो। राष्ट्र के 'सविता देव' का, राष्ट्रनायक राजा प्रधानमन्त्री और मुख्य मन्त्रियों का भी यह कर्त्तव्य है कि वे श्रेष्ठतम कर्म के लिए तुम्हें गोपालकों के पास पहुँचाएँ। राष्ट्र की केन्द्रीय गोशाला में अच्छी जाति की गौएँ पाली जाएँ, जो प्रचुर दूध देती हों और गोपालन के इच्छुक जनों को उचित मूल्य पर दी जाएँ। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार श्रेष्ठतम कर्म यज्ञ[८] है। अग्निहोत्र-रूप यज्ञ के लिए भी और परिवार के सदस्यों तथा अतिथियों को तुम्हारा नवनीत और दूध खिलाने-पिलाने रूप यज्ञ के लिए भी प्रजाजनों को राजपुरुषों द्वारा उत्तम जाति की गौएँ प्राप्त करायी जानी चाहिएँ। हे गौओ! तुम 'अघ्न्या[९]' हो, न मारने योग्य हो। राष्ट्र में राजनियम बन जाना चाहिए कि गौएँ मारी-काटी न जाएँ, न उनका मांस खाया जाए। यदि किसी प्रदेश में बूचड़खाने हैं तो बन्द होने चाहिएँ। दुर्भाग्य है हमारा कि वेदों के ही देश में वेदाज्ञा का पालन नहीं हो रहा है। मांस मनुष्य का स्वाभाविक भोजन नहीं है, न उसके दाँत मांस चबाने योग्य हैं, न आँतें मांस पचाने योग्य हैं। हे गौओ! तुम अच्छी पुष्ट होकर रहो। मुझ यज्ञपति इन्द्र का भाग मुझे देती रहो, बछड़े-बछड़ियों का भाग उन्हें प्रदान करती रहो। तुम प्रजावती होवो, उत्तम और स्वस्थ बछड़े-बछड़ियों की जननी

बनो। तुम रोगरहित और यक्ष्मारहित होवो। तुम मुझ सदाचारी याज्ञिक गोस्वामी के पास रहो, चोर तुम्हें न चुराने पावे। पापप्रशंसक और पापी मनुष्य तुम्हारा स्वामी न बने। पापी नर-पिशाचों को गोरस नसीब न हो। मुझ गोपालक के पास तुम स्थिररूप से रहो, संख्या में बहुत होकर रहो, जिससे मैं गोशाला चलाकर उन्हें भी तुम्हारा दूध प्राप्त करा सकूँ, जो स्वयं गोपालन नहीं कर सकते हैं। हे परमेश्वर! मुझ यजमान के पशुओं की रक्षा करो, हे राजन्! मुझ यजमान के पशुओं की रक्षा करो।

पाद-टिप्पणियाँ

१. इष्=अन्न, निघं० २.७
२. ऊर्ग् रसः, श० ५.१.२.८। ऊर्ज बलप्राणनयोः, चुरादिः।
३. दीव्यति ददातीति देवः दाता। देवो दानाद्, निरु० ७.१५।
४. षु प्रसवैश्वर्ययोः, भ्वादिः, षूङ् प्राणिगर्भविमोचने, अदादिः।
(सविता सर्वजगदुत्पादकः सकलैश्वर्यवान् जगदीश्वरः—द०भा०।
(सवितः) सकलैश्वर्ययुक्त सम्राट्, य० ९.१—द०भा०।
५. (ओ) प्यायी वृद्धौ, भ्वादिः।
६. (अनमीवाः) अमीवो व्याधिर्न विद्यते यासु ताः। अम रोगे इत्यस्माद् बाहुलकाद् औणादिक ईवन् प्रत्ययः—द०भा०।
७. बह्वीः=बह्व्यः। बह्वी+जस्, पूर्वसवर्णदीर्घ, वा छन्दसि पा० ६.१.१०६।
८. यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म। —श०१.७.१.५
९. अघ्न्या=गौ, निघं० २.११। अघ्न्या अहन्तव्या भवति, निरु० ११.४०। अघ्न्या इति गवां नाम क एता हन्तुमर्हति, म०भा० शान्तिपर्व २६३।

२. व्रतग्रहण : अनृत से सत्य की ओर

ऋषिः परमेष्ठी प्रजापतिः । देवता अग्निः । छन्दः आर्ची त्रिष्टुप् ।

अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामि तच्छकेयं तन्मे राध्यताम् ।
इदमहमनृतात् सत्यमुपैमि ॥

—यजु० १।५

हे (**व्रतपते**) व्रतों का पालन करनेवाले (**अग्ने**) अग्रनायक जगदीश्वर, राजन् व विद्वन्! मैं (**व्रतं चरिष्यामि**) व्रत का अनुष्ठान करूँगा। (**तत्**) उस व्रत को (**शकेयम्**[1]) पालन करने में समर्थ होऊँ। (**तत् मे**) वह मेरा व्रत (**राध्यताम्**[2]) सिद्ध हो। वह व्रत यह है कि (**अहं**) मैं (**इदं**) यह (**अनृतात्**) अनृत को छोड़ कर (**सत्यम्**) सत्य को (**उपैमि**) प्राप्त होता हूँ।

हे सर्वाग्रणी विश्वनायक जगदीश्वर! आप सबसे बड़े व्रतपति हैं। आपने उत्पत्ति-स्थिति-प्रलय, न्याय, निष्पक्षता, परोपकार, सत्यनिष्ठा आदि अनेक व्रतों को स्वेच्छा से ग्रहण किया हुआ है, जिनका आप सदैव पालन करते हैं। अतएव आपको साक्षी रख कर आज मैं भी एक व्रत ग्रहण करता हूँ। वह मेरा व्रत यह है कि आज से मैं अनृत को त्याग कर सदा सत्य को अपनाऊँगा। अब तक मैं अपने जीवन में अनेक अवसरों पर असत्य भाषण और सत्य आचरण करता रहा हूँ, कई बार प्रलोभनों में पड़ कर मन, वाणी और कर्म से असत्य में लिप्त होता रहा हूँ। परन्तु आज मैं आपके संमुख उस असत्य से मुँह मोड़ने की प्रतिज्ञा करता हूँ। मेरे गुरु ने मुझे सिखाया है कि 'सत्य के ग्रहण करने और असत्य के छोड़ने में सर्वदा उद्यत रहना चाहिए।' आप ऐसी शक्ति दीजिए कि इस व्रत का मैं पालन कर सकूँ। यदि कभी मैं अपने व्रत को भूल कर सत्य से विमुख होने लगूँ तो मेरे हृदय में बैठे हुए आप मुझे मेरा व्रत स्मरण करा कर होनेवाले स्खलन से मुझे

बचा लीजिए। ऐसी कृपा कीजिए कि मैं अपने जीवन के अन्त तक इस व्रत का पालन करता रहूँ और इस व्रतपालन से मिलनेवाले सुमधुर फलों के आस्वादन से कृतकृत्य होता रहूँ।

व्रतपति जगदीश्वर के अतिरिक्त अन्य व्रतपतियों को भी मैं अपने इस व्रत का साक्षी बनाता हूँ। यदि मैं अपने राष्ट्र का प्रतिनिधि होकर संयुक्त राष्ट्रसंघ में गया हूँ, तो उसके अध्यक्षरूप व्रतपति के संमुख सदा सत्य का ही पक्ष लेने की प्रतिज्ञा करता हूँ। यदि में राज्यपरिषद् का सदस्य या राज्य का कोई उच्च अधिकारी हूँ तो राष्ट्रनायक के समक्ष प्रण लेता हूँ कि मैं सदा सत्य का ही पक्षपोषण करूँगा। यदि किसी सभा का सदस्य हूँ तो उसके सभापति के संमुख, यदि मैं किसी संस्था का कर्मचारी हूँ तो उस संस्था के अध्यक्ष के संमुख, यदि किसी विश्वविद्यालय या महाविद्यालय का शिक्षक या विद्यार्थी हूँ तो उसके कुलपति या प्राचार्य के संमुख, यदि मैं किसी संघ का सदस्य हूँ तो संघचालक के संमुख और जिस परिवार का मैं अङ्ग हूँ, उस परिवार के गृहपति के संमुख मैं सदा सत्य पर ही चलने का व्रत ग्रहण करता हूँ।

इन सबके अतिरिक्त यज्ञाग्नि भी व्रतपति है। प्रभु ने सृष्टि के आरम्भ में जो व्रत उसके लिए निश्चित कर दिया था, उसी व्रत का वह आज तक पालन करता चला आया है। अतः प्रतिदिन प्रातःसायं अग्निहोत्र करते हुए उस व्रतपति अग्नि के सामने भी सत्य का व्रत लेता हूँ। उस व्रतपति अग्नि की ऊपर उठती हुई ज्वालाएँ नित्य मेरे अन्तरात्मा में सत्य की ज्योति को जागृत करती रहें।

शतपथकार का कथन है कि देवजन सत्य के व्रत का ही आचरण करते हैं, इस कारण वे यशस्वी होते हैं। इसी प्रकार अन्य भी जो कोई सत्यभाषण और सत्य का आचरण करता है, वह यशस्वी होता है।[3]

पाद-टिप्पणियाँ

१. शकेयम्, शक्लृ शक्तौ।
२. राध्यताम्, राध संसिद्धौ।
३. एतद्ध वै देवा व्रतं चरन्ति यत् सत्यं, तस्मात् ते यशो, यशो ह भवति य एवं विद्वांत्सत्यं वदति। —श० १.१.१.५

३. तू अकुटिल है, हवियों का निधान है

ऋषिः परमेष्ठी प्रजापतिः। देवता विष्णुः। छन्दः निचृत् त्रिष्टुप्।

अह्रुतमसि हविर्धानं दृꣳहस्व मा ह्वार्मा ते यज्ञपतिर्ह्वार्षीत्।
विष्णुस्त्वा क्रमतामुरु वातायापहतꣳरक्षो यच्छन्तां पञ्च॥

—यजु० १।९

हे मेरे मन! तू (**अह्रुतम्**[१] **असि**) कुटिलतारहित है, (**हविर्धानम्**) हवियों का निधान है, (**दृंहस्व**[२]) तू स्वयं को दृढ़ कर, (**मा ह्वाः**[३]) भविष्य में भी कभी कुटिल मत हो। (**मा ते यज्ञपतिः ह्वार्षीत्**) न ही तेरा यज्ञपति आत्मा कुटिल होवे। (**विष्णुः**) विष्णु परमेश्वर (**त्वा क्रमताम्**[४]) तुझे अग्रगामी करे। (**वाताय**[५]) गति के लिए तू (**उरु**) विशाल हो। तुझसे (**रक्षः**) राक्षसवृत्ति (**अपहतं**) नष्ट हो जाए। (**पञ्च**) अहिंसा, सत्य, अस्तेय ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह ये पाँचों व्रत, तुझे (**यच्छन्ताम्**[६]) नियन्त्रण में रखें।

यदि मन कुटिल है तो मनुष्य कुटिलता के कार्यों में लगेगा और यदि मन पवित्र है तो उसके कार्य भी पवित्र होंगे। जिसने साधना द्वारा मन को पवित्र बना लिया है, ऐसा मनुष्य मन्त्र में मन को सम्बोधन कर रहा है। हे मेरे मन! तू कुटिलता से रहित हो गया है। तू हविर्धान है, हवियों का निधान है। देह में चक्षु, श्रोत्र आदि जो भी ज्ञानेन्द्रियाँ हैं, वे सब अपने दृष्ट, श्रुत आदि हव्य की आहुति पहले मन में देती हैं, तभी मनुष्य का आत्मा देखना, सुनना आदि व्यापारों को करता है। यदि मन देखने, सुनने आदि में समाहित नहीं है, या यों कहें कि आँख से देखे, कान से सुने, जिह्वा से चखे द्रव्य की हवि यदि मन में नहीं पड़ रही है, तो आत्मा ज्ञानेन्द्रियों के प्रवृत्त

होते हुए भी ज्ञान ग्रहण करने में असमर्थ रहता है। अतएव मन को हविर्धान कहा गया है। हे मेरे मन! तू सदा दृढ़ बना रह। यदि तू ही दृढ़ता को त्याग कर विचलित होने लगेगा, तो सब इन्द्रियाँ भी विचलित हो जायेंगी। तू दृढ़ रह कर वैसे ही इन्द्रियों को साधे रह सकता है, जैसे उत्तम सारथि रथ के घोड़ों को साधे रहता है। हे मेरे मन! जैसे तू इस समय अकुटिल एवं पवित्र है, वैसे ही भविष्य में भी बने रहना। ऐसा न हो कि मेरी अब तक की सब साधना व्यर्थ हो जाए और तू कुछ ही दिन अकुटिल रह कर कुटिल मनुष्यों के कुटिल विचारों की सङ्गत से फिर कुटिलता पर चल पड़े। यदि तू सदा अकुटिल बना रहेगा, तो मेरे यज्ञपति आत्मा के पास भी कालुष्य और कुटिलता फटकने नहीं पायेगी तथा मेरा आत्मा सदा पवित्र ज्ञान और पवित्र कर्मों से ही युक्त रहेगा। हे मेरे मन! सर्वान्तर्यामी विष्णु प्रभु, जो तेरे अन्दर भी व्याप्त हैं, तुझे सदा अग्रगामी बनाये रखें और उनसे प्रेरित होकर तू सदा मेरे जीवन को उन्नति की दिशा में ही अग्रसर करता रह।

हे मेरे मन! मुझे वेद ने 'दूरंगम' अर्थात् दूर-दूर तक जानेवाला या दूरदर्शी कहा है। तू विशाल गति करता रह, ऊँची उड़ानें लेता रह, मुझे ऊर्ध्वारोहण के लिए प्रेरित करता रह। तू ऐसा उद्योग कर कि यदि कोई राक्षसी वृत्तियाँ मेरे पास आने लगें, तो वे तुझसे टकरा कर चूर-चूर हो जाएँ। तू अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह इन पाँचों व्रतों को धारण किये रख। इनके नियन्त्रण में रह कर तू मेरे जीवन को सदा पवित्र ही पवित्र बनाता चल।

पाद-टिप्पणियाँ

१. ह्वृ कौटिल्ये-क्त प्रत्यय। 'ह्रु ह्वरेश्छन्दसि' से धातु को ह्रु आदेश।
२. दृहि वृद्धौ, भ्वादिः।
३. ह्वृ कौटिल्ये, लुङ्, अडागमाभाव।
४. क्रमु पादविक्षेपे, भ्वादिः।
५. वात सुखसेवनयोः गतौ च, चुरादिः।
६. (यच्छन्ताम्) निगृह्णन्तु—द०भा०। यम उपरमे, धातु को यच्छ आदेश।

४. राक्षस प्रकम्पित हों, अराति प्रकम्पित हों

ऋषिः परमेष्ठी प्रजापतिः। देवता यज्ञः। छन्दः स्वराड् जगती।

शर्मा॒स्यव॑धूत॒ꣳरक्षोऽव॑धूता॒ऽअरा॑त॒योऽदि॑त्या॒स्त्वग॑सि॒ प्रति॒ त्वादि॑तिर्वे॑त्तु। अद्रि॑रसि वानस्प॒त्यो ग्रावा॑सि पृ॒थुबु॑ध्न॒ः प्रति॒ त्वादि॑त्या॒स्त्वग्वे॑त्तु॥

—यजु० १।१४

हे नायक! तू राष्ट्र का (**शर्म**[१] **असि**) शरणरूप और सुखदाता है। ऐसा प्रयत्न कर कि (**रक्षः**) राक्षस (**अवधूतं**[२]) प्रकम्पित हो उठे, (**अरातयः**) शत्रु (**अवधूताः**) प्रकम्पित हो जाएँ। हे सेना! तू (**अदित्याः**[३]) राष्ट्रभूमि की (**त्वक् असि**) त्वचा है, (**अदितिः**) राष्ट्रभूमि (**त्वा प्रति वेत्तु**[४]) तुझे जाने। हे नायक! तू (**अद्रिः**[५] **असि**) पहाड़ है, बादल है, वज्र है, (**वानस्पत्यः**) ईंधन है, (**ग्रावा असि**) पाषाण है, (**पृथुबुध्नः**) विशाल मस्तिष्कवाला है। (**अदित्याः त्वक्**) राष्ट्रभूमि की त्वचारूप सेना (**त्वा प्रति वेत्तु**) तुझे जाने।

हे राजन्! हमने आपको अपना नेता चुना है, राष्ट्र का नायक बनाया है, क्योंकि आप प्रजा को शरण और सुख देने में समर्थ हैं। जब तक आपके प्रतिद्वन्द्वी राक्षसजन और शत्रु हैं, तब तक राष्ट्र सुखी नहीं हो सकता। निर्दय, हत्यारे, कुटिल, स्वार्थी लोग राक्षस कहलाते हैं, जिनसे सज्जनों की अपनी रक्षा करनी पड़ती है, जो एकान्त पाकर घात करते हैं या रात्रि में अपनी गतिविधि करते हैं।[६] शत्रु वे हैं जो आपको पद्दलित करके आपका राज्य हथियाना चाहते हैं। वे शत्रु कुछ व्यक्ति भी हो सकते हैं और एक बड़ा सङ्गठन या शत्रु-राष्ट्र भी हो सकता है। आप उन आततायी, आतङ्कवादी राक्षसों और शत्रुओं

को प्रकम्पित कर दीजिए। राक्षसों और शत्रुओं का प्रकम्पन हो सकता है सेना द्वारा, अतः सेना का चतुरङ्गिणी और बलवती होना आवश्यक है। हे सेना! तू राष्ट्रभूमि की त्वचा है। शरीर की बाह्य त्वचा जैसे शरीर के अन्तर्भाग की रक्षा करती है, ऐसे ही सेना राष्ट्र की रक्षिका होती है, अतः सेना को राष्ट्र की त्वचा कहा गया है। हे सेना! राष्ट्रभूमि तेरे गौरव को, तेरी बहादुरी को, तेरी रणक्षमता को, तेरी विजयशालिता को जाने और तुझ पर गर्व करे। हे राजन्! हे नायक! तू 'अद्रि' है—पहाड़ है, बादल है, वज्र है। पहाड़ की तरह तू अड़िग है, बादल की तरह तू विद्युत्-अस्त्र से संनद्ध है, इन्द्र के वज्र की तरह तू रिपुदल को क्षत-विक्षत कर सकनेवाला है। तू 'पृथुबुध्न' है, विशाल मस्तिष्कवाला है, मस्तिष्क से राजनीति की योजनाएँ बना कर उन्हें क्रियान्वित करनेवाला है। तेरे मस्तिष्क से बनने वाली योजनाएँ राष्ट्र का उत्थान करने वाली, बाधाओं को चूर करने वाली और बाधक शत्रुओं को परास्त करने वाली होती हैं। राष्ट्रभूमि की त्वचासदृश सेना तुझे जाने, तेरे महत्त्व को समझे और तेरे आदेशों को पालन करने में गौरव माने। हे नायक! तू राष्ट्र को यज्ञ मान कर इसका सञ्चालन कर।

पाद-टिप्पणियाँ

१. शर्म=गृह, सुख (निघं० ३.४, ३.६)।
२. अव-धूज् कम्पने, स्वादिः, धू विधूनने, तुदादिः।
३. अदितिः=भूमि, निघं० १.१
४. प्रति-विद ज्ञाने, अदादिः।
५. अद्रि=मेघ (निघं० १.१०), पर्वत (निरु० २.२२), अद्रिः आदृणात्येतेन (वज्रः) निरु० ४.४।
६. रक्षो रक्षितव्यम् अस्मात्, रहसि क्षणोतीति वा, रात्रौ नक्षत इति वा। —निरु० ४.३४

५. हे मेरे आत्मन्! हे मेरे मन!

ऋषिः परमेष्ठी प्रजापतिः। देवता अग्निः। छन्दः निचृद् ब्राह्मी पङ्क्तिः।

धृष्टिर॒स्यपाऽग्नेऽअ॒ग्निमा॒मादं॑ जहि॒ निष्क्र॒व्याद॑ꣳसे॒धा दे॑व॒यजं॑ वह। ध्रुवम॑सि पृ॒थि॒वीं दृꣳ॑ह ब्रह्म॒वनि॑ त्वा क्षत्र॒वनि॑ सजात॒वन्युप॑दधामि॒ भ्रातृ॑व्यस्य व॒धाय॑ ॥

—यजु० १।१७

(**अग्ने**) हे मेरे तेजस्वी आत्मन्! तू (**धृष्टिः**[१] **असि**) प्रगल्भ है, (**आमादम्**[२] **अग्निम्**) कच्चा खा जाने वाली चिन्ता की अग्नि को (**अप जहि**) विनष्ट कर दे। (**निष्क्रव्यादम्**[३]) जो मांस खानेवाली नहीं है, उस उत्साह की अग्नि को (**सेध**[४]) गति में ला। (**देवयजम्**) देवपूजा की अग्नि को, देवयज्ञ की अग्नि को (**आ वह**) उत्पन्न कर। हे मेरे मन! (**ध्रुवम् असि**) तू मेरा ध्रुव तारा है। (**ब्रह्मवनि**[५]) ब्रह्मबल का सेवन करने वाले (**त्वा**) तुझे, मैं (**उप दधामि**) समीप धारण करता हूँ (**भ्रातृव्यस्य**[६] **वधाय**) शत्रु के वध के लिए।

हे मेरे आत्मन्! तू बहुत प्रगल्भ है, चतुर है, शक्तिशाली है। क्यों तू नाना चिन्ताओं से घिरा हुआ है? ये चिन्ताएँ तुझे और तेरे शरीर को खोखला कर डालेंगी, ये तुझे कच्चा खा जायेंगी। कवि ने कहा है कि चिता और चिन्ता इन दोनों में चिन्ता ही अधिक भयङ्कर है, क्योंकि चिता तो निर्जीव को जलाती है और चिन्ता जीवित को जला डालती है।[७] तू इस कच्चा खा जाने वाली चिन्ता की अग्नि को नष्ट कर दे। जो मांस खाने वाली नहीं है, उस उत्साह की अग्नि को अपने अन्दर प्रज्वलित कर। याद रख, उत्साह को धारण करके साधारण लोगों ने भी ऐसे-ऐसे कार्य कर दिखाये हैं, जो महान्

लोगों के भी वश के नहीं होते। उत्साह का सञ्चय करके ही हनुमान् सीता की खोज में समुद्र पार करके लङ्का पहुँच गये थे और लक्ष्मण को पुनर्जीवित करने के लिए गन्धमादन पर्वत से संजीवनी बूटी ले आये थे। तू देवयज्ञ की अग्नि को भी अपने अन्दर धारण कर। परमात्मदेव की पूजा की अग्नि, विद्वानों के सेवा-सत्कार की अग्नि और अग्निहोत्र की अग्नि ही देवयज्ञ की अग्नि है। तू चिन्ताग्नि को विदा करके उसके स्थान पर परमेश्वर का चिन्तन कर, विद्वजनों के सत्कार का अतिथियज्ञ रचा और सायं-प्रातः अग्निहोत्र करके वायुमण्डल को शुद्ध और सुगन्धित कर।

हे मेरे मन! तू मेरे आत्मा के साथ ध्रुव रूप में रहनेवाला महारथी है, तू मेरा ध्रुव तारा है[८]। मैं तुझे अपने आत्मा के सहायक महामन्त्री के रूप में प्रतिष्ठित करता हूँ। तू 'ब्रह्मवनि' हो, ब्रह्म के चिन्तन में सहायक बन, ब्रह्म के कीर्तन में सहायक बन, ब्रह्मबल के अर्जित करने में साधन बन, ब्राह्मण का कार्य करने में साधन बन। तू 'क्षत्रवनि' हो, क्षात्रधर्म का पालन करने में सहायक हो, दीन-दुःखियों की रक्षा करने में साधन बन। तू 'सजातवनि' हो, शरीर में तेरे साथ आयी हुई जो ज्ञानेन्द्रियाँ चक्षु, श्रोत्र, रसना, नासिका और त्वचा हैं, उनसे प्राप्त होने वाले ज्ञानों की प्राप्ति में साधन बन, क्योंकि तेरा सहयोग यदि नहीं है तो मनुष्य आँखों से देखता हुआ भी नहीं देखता, कानों से सुनता हुआ भी नहीं सुनता, जिह्वा से चखता हुआ भी स्वाद नहीं पहचानता, नासिका से सूँघता हुआ भी गन्ध अनुभव नहीं करता, त्वचा से स्पर्श करता हुआ भी कोमल-कठोर को नहीं जानता।

हे मेरे मन! मैं तुझे शत्रु के वध के लिए प्रतिष्ठित करता हूँ। पहले तो जो आन्तरिक षड् रिपु हैं काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर, इनके विनाश में तुझे आत्मा का सहयोगी बनना है। दूसरे हैं बाह्य शत्रु, जो मेरी उन्नति में बाधक बनते हैं। उनका संहार करने के लिए या उन्हें मित्र बनाने के लिए

भी मनोबल की आवश्यकता है।

हे मेरे आत्मन्! हे मेरे मन! तुम यदि मिल कर उद्यम करो, तो बड़े से बड़ा अन्तः-साम्राज्य और बाह्य साम्राज्य प्राप्त हो सकता है, बड़े से बड़ा अन्तः-शत्रु और बाह्य शत्रु पराजित हो सकता है।

पाद-टिप्पणियाँ

१. (ञि) धृषा प्रागल्भ्ये, स्वादिः, क्तिन्।

२. आमान् अपक्वान् अत्ति तम्—द०भा०।

३. क्रव्यं पक्वमांसम् अत्ति तस्मान्निर्गतः तम्—द०भा०।

४. षिधु गत्याम्, भ्वादिः। 'सेधति' गत्यर्थक, निघं० २.१४।

५. ब्रह्म वनति संभजते तत्। वन शब्दे संभक्तौ च, भ्वादिः।

६. भ्रातृ-व्यन् प्रत्यय शत्रु अर्थ में। व्यन् सपत्ने, पा० ४.१.१४५।

७. चिता चिन्ता द्वयोर्मध्ये चिन्ता चैव गरीयसी।
चिता दहति निर्जीवं चिन्ता चैव सजीवकम्॥

८. ध्रुवं ज्योतिर्निहितं दृशये कं मनो जविष्ठं पतयत्स्वन्तः।
—ऋ० ६.९.५

६. ज्योति से ज्योति मिले

ऋषिः परमेष्ठी प्रजापतिः। देवता अग्निः। छन्दः जगती।

अग्ने वेर्होत्रं वेर्दूत्युमवतां त्वां द्यावापृथिवीऽअव त्वं द्यावापृथिवी स्विष्टकृद्देवेभ्यऽइन्द्रऽआज्येन हविषा भूत्स्वाहा सं ज्योतिषा ज्योतिः ॥

—यजु० २।९

(**अग्ने**) हे विद्वन्! तू (**वेः**[१]) जानता है (**होत्रं**) अग्निहोत्र को, (**वेः**) जानता है (**दूत्यं**[२]) अग्नि के दूतकर्म को। (**अवतां**) रक्षित करें (**त्वां**) तुझे (**द्यावापृथिवी**[३]) राष्ट्र के पिता-माता। (**अव**) रक्षित कर (**त्वं**) तू (**द्यावापृथिवी**) राष्ट्र के पिता-माताओं को। (**इन्द्रः**) ऐश्वर्यशाली यजमान (**आज्येन**) घृत से, तथा (**हविषा**) हवि से (**देवेभ्यः**) विद्वानों के लिए (**स्विष्टकृत्**) उत्तम यज्ञ का कर्ता तथा उत्कृष्ट अभीष्ट का साधक (**भूत्**[४]) हुआ है, (**स्वाहा**) हम भी स्वाहापूर्वक यज्ञ करें। (**सं**) मिले (**ज्योतिषा**) ज्योति के साथ (**ज्योतिः**) ज्योति।

हे अग्ने! हे अग्रनायक विद्वन्! आप अग्निहोत्र को जानते हो। कितना और कैसा घृत हो, अन्य कौन-कौन सा हविर्द्रव्य हो, घृत तथा अन्य हव्यों की कितनी मात्रा में आहुति दी जाए, किस ऋतु में कौन-सी हवन-सामग्री हो, समिधाएँ किन वृक्षों की हों, कब विशाल यज्ञों का आयोजन किया जाए, उनमें कितना आर्थिक व्यय हो, पुरोहित किसे बनाया जाए, दक्षिणा कितनी दी जाए इत्यादि यज्ञ-सम्बन्धी सब बातें आपको विदित हैं। आप यज्ञाग्नि के दूत-कर्म के भी ज्ञाता हो। अग्नि को वेदों में देवों का दूत इस कारण कहा गया है कि वह यज्ञकर्ता और विद्वज्जनरूप देवों के बीच दूत-कर्म करता है। जब कोई किसी

कार्य को सीधा स्वयं न करके उस कार्य के लिए किसी को माध्यम बनाता है, तब उस माध्यम बनने वाले को दूत और उसके द्वारा किये जाने वाले कार्य को दूत-कर्म कहा जाता है। यज्ञकर्ता घृत तथा अन्य हव्यों की रोगहर स्वास्थ्यप्रद सुगन्ध को स्वयं विद्वज्जनरूप देवों के पास न पहुँचा कर अग्नि को माध्यम बनाता है। वह अग्नि में हवि का प्रक्षेप करता है और अग्नि उस हव्य को सूक्ष्म करके उसकी सुगन्ध वायु की सहायता से विद्वज्जनों के पास पहुँचाता है, इसलिए यज्ञाग्नि दूत है। हे विद्वन्! अग्नि के इस दूतकर्म को भी आप जानते हो, अर्थात् अग्नि हविर्द्रव्यों को ग्रहण करके कैसे उनकी सुगन्ध चारों ओर फैलाता है तथा कैसे परोपकार करता है, इस यज्ञविद्या को भी आप जानते हो। राष्ट्र के द्यावापृथिवी अर्थात् पिता-माताओं या पुरुषों और नारियों का कर्त्तव्य है कि वे आपको पुरोहित का आदर देकर गौरव प्रदान करें और आपका कर्त्तव्य है कि आप उनका यज्ञ करा कर यज्ञ से उनका स्वास्थ्य-वर्धन करके उनकी रक्षा करें। यजमान द्वारा यज्ञ में आज्य (घृत) और सुगन्धि, मिष्ट, पुष्टिकारक एवं रोगहर हव्यों की आहुति दी जाती है। यजमान को ऐश्वर्यवान् होने के कारण इन्द्र भी कहते हैं।[५] उस यजमानरूप इन्द्र के लिए कहा गया है कि वह घृत तथा अन्य हवियों की यज्ञ में आहुति देकर देवजनों के लिए 'स्विष्टकृत्' हो गया है। 'स्विष्टकृत्' का अर्थ है साधु प्रकार से यज्ञ को अथवा अभीष्ट को सिद्ध करने वाला। यजमान यज्ञ को भी सिद्ध करता है और जिस अभीष्ट फल की प्राप्ति के लिए यज्ञ किया जाता है, उसे भी सिद्ध करता है। 'इष्ट' शब्द यज धातु तथा इच्छार्थक 'इष्' धातु दोनों से ही क्त प्रत्यय करने पर निष्पन्न होता है। हम सबका भी कर्त्तव्य है कि हम 'स्वाहा' का उच्चारण करके यज्ञाग्नि में आहुति दें। उसका अन्य फलों के साथ एक फल यह भी होगा कि 'ज्योति से ज्योति मिलेगी'। हम यज्ञाग्नि की ज्योति से परमात्माग्नि की बृहत् ज्योति[६] का अनुमान करके

परमात्माग्नि की ज्योति में ध्यान केन्द्रित करेंगे। इस प्रकार हमारे आत्मा की ज्योति का परमात्मा की ज्योति से सम्पर्क होगा और हमारी आत्मज्योति उस विशाल ज्योति से ज्योति पाकर और भी अधिक ज्योतिर्मय हो उठेगी। आओ, ज्योति से ज्योति मिलाने के लिए हम यज्ञ करें।

पाद-टिप्पणियाँ

१. वे:=अवे:। विद ज्ञाने, लङ्, सिप्, अडागम नहीं हुआ।

२. दूतस्य कर्म दूत्यम्, 'दूतस्य भागकर्मणी' पा० ४.४.१२१ से कर्म अर्थ में यत् प्रत्यय।

३. द्यौष्पितः पृथिवि मातः। —ऋ० ६.५१.५

४. इन्द्रो वै यजमानः। —श० २.१.२.११

५. भूत्=अभूत्। भू सत्तायाम्, लुङ्। 'बहुलं छन्दस्यमाङ्योगेऽपि' पा० ६.४.७५ से अट् का आगम नहीं हुआ।

६. अग्नावग्निश्चरति प्रविष्टः। —अ० ४.३९.९

७. हमारी आकांक्षाएँ सत्य हों

ऋषिः परमेष्ठी प्रजापतिः। देवता इन्द्रः। छन्दः भुरिग् ब्राह्मी पङ्क्तिः।

मयीदमिन्द्रऽइन्द्रियं दधात्वस्मान् रायो मघवानः सचन्ताम्। अस्माकꣳ सन्त्वाशिषः सत्या नः सन्त्वाशिषऽउपहूता पृथिवी मातोप मां पृथिवी माता ह्वयतामग्निराग्नीध्रात् स्वाहा॥

—यजु० २।१०

(मयि) मुझमें **(इन्द्रः)** परमैश्वर्यवान् जगदीश्वर **(इदम् इन्द्रियम्)** इस इन्द्रिय-बल को **(दधातु)** स्थापित करे। **(अस्मान्)** हमें, हमारे राष्ट्र को **(रायः)** आध्यात्मिक धन तथा सुवर्ण, चक्रवर्ती राज्य आदि भौतिक धन और **(मघवानः)** आध्यात्मिक एवं भौतिक धनों के धनी जन **(सचन्ताम्[1])** प्राप्त हों। **(अस्माकं)** हमारी **(सन्तु)** हों **(आशिषः)** उच्च आकांक्षाएँ। **(सत्याः सन्तु)** सत्य हों **(नः आशिषः)** हमारी आकांक्षाएँ और हमारे आशीर्वाद। मेरे द्वारा **(उपहूता)** पुकारी जा रही है **(पृथिवी माता)** भूमि माता, **(माम्)** मुझे **(पृथिवी माता)** भूमि माता **(उप ह्वयताम्)** अपने समीप पुकारे। **(अग्निः)** यज्ञाग्नि और सूर्याग्नि **(आग्नीध्रात्[2])** अन्तरिक्ष से **(स्वाहा)** भूमि पर जल की आहुति दे, अर्थात् वर्षा करे।

प्रत्येक मनुष्य जीवन में उन्नति करने के लिए कुछ आकांक्षाएँ अपने अन्दर संजोता है। हमारी भी कुछ आकांक्षाएँ हैं। प्रथम आकांक्षा यह है कि जगदीश्वर हमारे अन्दर इन्द्रिय-बल को स्थापित करे। बलविहीन इन्द्रियाँ अकिंचित्कर होती हैं। हम प्रतिदिन प्रातः-सायं अपनी दैनिक सन्ध्या में अङ्गस्पर्श के मन्त्रों द्वारा इन्द्रिय-बल की प्रार्थना करते हैं—हमारे वाक्, प्राण, चक्षु, श्रोत्र आदि अङ्गों को बल और यश प्राप्त हो।

इन्द्रियों में बल नहीं होगा, तो यश प्राप्त नहीं हो सकता। इस प्रार्थना में मन-रूप अन्तरिन्द्रिय को भी सम्मिलित समझना चाहिए। हमारे मन को भी बल और यश प्प्राप्त होना चाहिए। मनोबल के बली लोगों ने बहुत यश प्राप्त किया है। मनोबल से ही उपनिषद् के ऋषि महिदास ऐतरेय ने अपने जीवन को यज्ञरूप में चला कर ११६ वर्ष की आयु पाने का यश अर्जित किया था। हमारी ये सब इन्द्रियाँ कर्मेन्द्रियोंसहित जरामरणपर्यन्त अपनी-अपनी शक्ति से समन्वित रहें, तो हम जराजीर्ण कभी नहीं होंगे।

हमारी दूसरी आकांक्षा यह है कि हमें, हमारे समाज को और हमारे राष्ट्र को विद्या, अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, न्याय, धर्मात्मता, भूतदया आदि आध्यात्मिक धन तथा सुवर्ण, हीरे, मोती, चक्रवर्ती राज्य आदि भौतिक धन प्रचुर रूप में प्राप्त हो तथा आध्यात्मिक एवं भौतिक धन के धनी धर्मनिष्ठ जन भी प्राप्त हों। आध्यात्मिक धन के धनी योगी महात्मा जन लोक में आध्यात्मिकता का प्रवाह चलाते हैं और भौतिक धन के धनी लोग विविध शुभ कार्यों में अपनी सम्पत्ति को लगा कर लोककल्याण करते हैं।

हम यह भी चाहते हैं कि हमारी आकांक्षाएँ उच्च हों और वे सत्य सिद्ध हों। यों ही शेखचिल्ली की तरह हम आकांक्षाओं के पुल न बाँधते रहें, प्रत्युत प्रयास करके उन्हें पूर्ण भी करें। 'आशिषः' का अर्थ आशीर्वाद भी होता है। हमारे आशीर्वाद भी सत्य सिद्ध हों। वे पापी को पुण्यात्मा बना सकें। हम पृथिवी माता को पुकारते हैं, पृथिवी माता हमें पुकारे, दुलराये, अपनी खानों में से उत्तमोत्तम वस्तुएँ निकाल कर हमें दे। पृथिवी माता को पुकारने का आशय यह है कि हम पृथिवी से लाभ प्राप्त करने का अधिक से अधिक प्रयास करें। खेती करके हम पृथिवी से अन्न, फल आदि प्राप्त कर सकते हैं, पृथिवी से सोना, चाँदी, लोहा, तांवा, अभ्रक, कोयला, गन्धक आदि खनिज प्राप्त कर सकते हैं, पृथिवी में से तेल और तैल

द्रव्य निकाल सकते हैं। हम पृथिवी को पुकारेंगे अर्थात् पृथिवी को दुहने का पूर्ण प्रयास करेंगे, तभी पृथिवी भी हमें अपने अन्दर विद्यमान वस्तुएँ लेने के लिए पुकारेगी। परन्तु पृथिवी हमें तभी पुकार सकती है, अर्थात् अभीष्ट पदार्थ दे सकती है, जब यज्ञाग्नि और सूर्याग्नि द्वारा अन्तरिक्ष से पृथिवी पर प्रचुर वृष्टि होती रहे, पृथिवीरूप यज्ञवेदि में वृष्टिधाराओं की आहुति पड़ती रहे। इसीलिए मन्त्र के अन्त में कहा गया है कि अग्नि (यज्ञाग्नि तथा सूर्याग्नि) अन्तरिक्ष से पृथिवी पर स्वाहापूर्वक वृष्टि की आहुति देता रहे।

पाद-टिप्पणियाँ

१. षच समवाये, भ्वादिः।

२. अन्तरिक्षं वा आग्नीध्रम्। —श० ९.२.३.१५

८. होमयज्ञ और शिल्पयज्ञ

ऋषिः परमेष्ठी प्रजापतिः। देवता अग्निवायू यज्ञश्च। छन्दः भुरिक् पङ्क्तिः।

घृताची स्थो धुर्यौ पातः सुम्ने स्थः सुम्ने मा धत्तम्। यज्ञ नमश्च तऽउप च यज्ञस्य शिवे सन्तिष्ठस्व स्विष्टे मे सन्तिष्ठस्व॥

—यजु० २।१९

हे अग्नि और वायु! तुम (**घृताची**[१]) घृत आदि हवि को फैलाने वाले और मेघ-जल को भूमि पर लाने वाले, तथा (**धुर्यौ**) होमयज्ञ और शिल्पयज्ञ के धुरे को वहन करने वाले (**स्थः**) हो, (**पातं**) मेरी रक्षा करो। तुम (**सुम्ने**[२] **स्थः**) सुखदायक हो, (**सुम्ने मा धत्तम्**) सुख में मुझे रखो। (**यज्ञ**) हे सब जनों के पूजनीय परमेश्वर[३]। (**नमः च ते**) आपको नमस्कार है। आप (**यज्ञस्य शिवे**) होमयज्ञ और शिल्पयज्ञ के मङ्गलप्रद सुख प्राप्त कराने हेतु (**उप सं तिष्ठस्व**) सामीप्य के साथ संनद्ध हों, (**मे स्विष्टे**) मेरे यज्ञ का सुफल प्राप्त कराने हेतु (**सं तिष्ठस्व**) संनद्ध हों।

मन्त्र के देवता अग्नि-वायु और यज्ञ हैं। अग्नि से पार्थिव अग्नि, विद्युत् और सूर्य तीनों ग्राह्य हैं। यज्ञ से होमयज्ञ और शिल्पयज्ञ दोनों अभीष्ट हैं। होमयज्ञ में यज्ञाग्नि और वायु घृत आदि हव्य द्रव्य को दूर-दूर तक फैलाने का कार्य करते हैं। वे हविर्द्रव्य के सूक्ष्म परमाणुओं को अन्तरिक्षस्थ मेघजल तक भी ले जाते हैं, जिससे जल उन परमाणुओं से भरपूर तथा सुगन्धित हो जाता है। अग्नि-वायु मेघस्थ जल को बरसाने का काम भी करते हैं। इस वृष्टि में यज्ञाग्नि, अन्तरिक्षस्थ विद्युत् और द्युलोकस्थ सूर्य तीनों अग्नियाँ कारण बनती हैं। सुगन्धित जल बरस कर वनस्पतियों और प्राणियों को प्राप्त होता है तथा

रोगों को नष्ट करता एवं प्राण प्रदान करता है और सुख देता है। इस प्रकार अग्नि और वायु होमयज्ञ के धुर्य (धुरे को वहन करने वाले) होते हैं। तीनों अग्नियाँ और वायु शिल्पयज्ञ के भी धूर्वह या साधक बनते हैं। ये भूमियानों, जलयानों और विमानों को तथा विविध यन्त्रों एवं कल-कारखानों को चलाने के लिए प्रयुक्त किये जाते हैं और मनुष्यों को सुख देते हैं।

मन्त्र के उत्तरार्ध में 'यज्ञ' सम्बोधन पूजनीय परमेश्वर के लिए प्रयुक्त हुआ है। उसे नमस्कार करके उससे प्रार्थना की गयी है कि आप होमयज्ञ और शिल्पयज्ञ का मङ्गलप्रद सुखदायक फल हमें प्राप्त कराते रहें, क्योंकि अग्नि-वायु भी ईश्वरीय नियमों के अनुसार ही कार्य करते हैं।

उवट एवं महीधर ने यज्ञ के शिव में संस्थित होने का आशय लिया है यज्ञ को न्यून या अधिक न होने देना और उसके लिए श्रुतिप्रमाण भी प्रस्तुत किया है।[४]

पाद-टिप्पणियाँ

१. घृतम् आज्यम् उदकं च अञ्चयतः स्थानान्तरं प्रापयतः इति घृताच्यौ। घृताची+औ, पूर्वसवर्णदीर्घ=घृताची। अञ्चु गतिपूजनयोः, भ्वादिः।

२. सुम्नम्=सुखम्, निघं० ३.६।

३. इज्यते सर्वैर्जनैः स यज्ञः ईश्वरः—द०भा०।

४. यज्ञस्य शिवे संतिष्ठस्व अन्यूनातिरिक्तं यज्ञं कुर्वित्यर्थः। 'यद्वै यज्ञस्यान्यूनातिरिक्तं तच्छिवं, तेन तदुभयं शमयति' इति श्रुतेः—म०।

९. हमें वज्र, जाल, दुर्यज्ञ और दुर्भोजन से बचाओ

ऋषिः परमेष्ठी प्रजापतिः। देवता अग्निः सरस्वती च।
छन्दः भुरिग् ब्राह्मी त्रिष्टुप्।

अग्नेऽदब्धायोऽशीतम पाहि मा दिद्योः पाहि प्रसित्यै पाहि दुरिष्ट्यै पाहि दुरद्मन्याऽअविषं नः पितुं कृणु सुषदा योनौ स्वाहा वाडग्नये संवेशपतये स्वाहा सरस्वत्यै यशोभगिन्यै स्वाहा॥

—यजु० २।२०

हे (**अदब्धायो**[१]) मनुष्य को अहिंसित, अक्षत रखने वाले, (**अशीतम**[२]) सर्वव्यापक (**अग्ने**) अग्रनायक जगदीश्वर! आप हमें (**पाहि**) बचाओ (**दिद्योः**[३]) वज्र से, (**पाहि**) बचाओ (**प्रसित्यै**)[४] जाल से, (**पाहि**) बचाओ (**दुरिष्ट्यै**) दुर्यज्ञ से, (**पाहि**) बचाओ (**दुरद्मन्यै**[५]) दुर्भोजन से, (**अविषं**) विषरहित (**नः पितुं**[६] **कृणु**) हमारे भोजन को करो। हे सरस्वती! तू हमारे (**योनौ**[७]) घर में (**सुषदा**) सुस्थित हो। (**स्वाहा**) एतदर्थ हम प्रार्थना करते हैं, (**वाड्**[८]) पुरुषार्थ करते हैं। (**संवेशपतये अग्नये स्वाहा**) समाधि[९] के रक्षक आप जगदीश्वर का हम स्वागत करते हैं। (**यशोभगिन्यै**[१०] **सरस्वत्यै स्वाहा**) यश का भागी बनाने वाली सरस्वती का हम स्वागत करते हैं।

जगदीश्वर इस जड़-चेतन जगत् की रचना करता है और वही इसकी रक्षा भी करता है। मनुष्य भी यद्यपि सर्वोत्कृष्ट प्राणी है, तो भी वह उसकी रक्षा के बिना रक्षित नहीं रह सकता। सच तो यह है कि मनुष्य स्वयं अपनी हिंसा को निमन्त्रण देता रहता है। यदि उसे चेतानेवाला उसका संरक्षक

परमेश्वर न हो तो वह शत वर्ष क्या, कुछ वर्ष भी जीवित नहीं रह सकता। परमेश्वर की सर्वव्यापकता का ध्यान भी मनुष्य को ऐसे कुकर्मों को करने से रोकता है, जिनसे उसकी हिंसा या क्षति होती हो। शत्रु का वज्र या उसके संहारक अस्त्र-शस्त्र भी मनुष्य को मृत्यु के घाट उतारने के लिए पर्याप्त हैं। हे जगदीश! आप ही उसे शत्रु से लोहा लेकर उस पर विजय पाने का महाबल प्रदान कर सकते हो। काम, क्रोध आदि आन्तरिक षड् रिपु भी अपना जाल फैला कर संसार-सागर में तैरते हुए मनुष्य को ऐसे ही फँसाने के लिए तत्पर हैं, जैसे मछुआरा मछलियों को अपने जाल में फँसाता है। हे प्रभु, आप ही उसे उस जाल के प्रलोभन से दूर रहने की प्रेरणा कर सकते हो। मानव कुसङ्गति में पड़ कर दुर्भोजन भी करने लगता है। उसका स्वाभाविक भोजन तो फल, कन्दमूल, दूध, नवनीत, अन्न, रस, बादाम, किशमिश, छुहारा आदि ही हैं, किन्तु वह अण्डे, मांस, मदिरा आदि का भी सेवन करने लगता है। वह जिह्वा के स्वाद के वश होकर विषैले खाद्य और पेय को भी अपने दैनिक भोजन का अङ्ग बना लेता है। उसे इसका परिज्ञान ही नहीं होता कि व्यापारिक कम्पनियाँ धन कमाने के लिए उसके आगे खट्टे, मीठे, तीखे, चरपरे, स्वादिष्ठ विषैले खाद्य और पेयों को परोस रही हैं। उसे तो स्वाद का आकर्षण होता है। हे महेश्वर! आप ही किसी साधु बाबा को भेज कर मनुष्य को यह शिक्षा दिलाते हो कि वह इन विषैली वस्तुओं का बहिष्कार करे। आप हमें यह सीख दो और बल दो कि हम शत्रु के वज्र को निर्वीर्य करने का सामर्थ्य जुटायें, आन्तरिक रिपुओं के जाल में न फँसने की दूर-दर्शिता प्राप्त करें और दुर्भोजन का विषपान न करें। हे परमात्मन्! मनुष्य जब योगाभ्यास में तत्पर होता है और यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान की क्रियाओं को करता हुआ समाधि तक पहुँचता है, तब उसकी उस समाधि के रक्षक भी आप ही होते हो। इस योगैश्वर्य के दाता के रूप

में भी हम आपका स्वागत करते हैं।

हे अग्निसम तेजस्वी देवाधिदेव! जैसे हम आपका स्वागत कर रहे हैं, वैसे ही आपकी दी हुई सरस्वती अर्थात् वेदविद्या का भी स्वागत करते हैं, उसका अध्ययन-अध्यापन करते हैं और उसके उपदेशों को जीवन में चरितार्थ करते हैं। हमारे घरों में वह सरस्वती सदा 'सुषदा' रहे, सुस्थिर रहे। हे वेदविद्यारूप सरस्वती! तू 'यशोभगिनी' है, हमें यश का भागी बनाने वाली है। तेरा स्वागत है।

पाद-टिप्पणियाँ

१. अदब्धो ऽ नुपहिंसितः आयुर्मनुष्यो यजमानो यस्य सो ऽ दब्धायुः—म०। आयु=मनुष्य, निघं० २.३।

२. अशू व्याप्तौ। अश्नुते व्याप्नोति इत्यशी, अतिशयेन अशी अशीतमः, दीर्घश्छान्दसः—म०।

३. दिद्युत्=वज्र, निघं० २.२०, तकारलोप। अथवा दिवु मर्दने चुरादिः। देवयति मृद्नाति अनेन इति दिद्युः वज्रः। दिव धातोः बाहुलकाद् उणादिः कुः प्रत्ययः, द्वित्वं च।

४. प्रसितिः प्रसयनात् तन्तुर्वा जालं वा। निरु० ६.१२।

५. अदनम् अद्मनी, दुष्टा अद्मनी दुरद्मनी दुर्भोजनम्—म०।

६. पितु=अन्न, निघं० २.७।

७. योनि=गृह, निघं० ३.४

८. (वाङ्) क्रियार्थे—द०भा०।

९. संवेश—निद्रा, योगक्षेत्र में समाधि।

१०. यशांसि भजितुं शीलं यस्याः तस्यै—द०भा०।

१०. मार्ग जान कर मार्ग पर चलो

ऋषिः वामदेवः। देवता प्रजापतिः। छन्दः भुरिग् ब्राह्मी बृहती।

वेदोऽसि येन त्वं देव वेद देवेभ्यो वेदोऽभवस्तेन मह्यं वेदो भूयाः।
देवा गातुविदो गातुं वित्त्वा गातुमित ।
मनसस्पतऽइमं देव यज्ञꣳस्वाहा वाते धाः ॥

—यजु० २.२१

हे प्रजापति आचार्य! आप (**वेदः असि**) वेद[१] नाम वाले हो, (**येन**) क्योंकि (**त्वम्**) आप (**देव**[२]) हे देव! (**वेद**[३]) ज्ञानवान् हो। आप (**देवेभ्यः**[४]) ब्रह्मचारियों के लिए (**वेदः**) ज्ञानदाता (**अभवः**) हुए हो, (**तेन**) इसलिए (**मह्यम्**) मेरे लिए भी (**वेदः**[५]) ज्ञानदाता (**भूयाः**) होवो। हे (**गातुविदः देवाः**) मार्ग के ज्ञाता विद्वानो! तुम (**गातुं**[६] **वित्त्वा**) मार्ग को जान कर (**गातुम् इत**) उस मार्ग पर चलो। हे (**मनसस्पते**) मन के स्वामी (**देव**) ज्ञानप्रकाशमय जीवात्मा! (**इमं यज्ञं**) इस जीवन-यज्ञ को (**स्वाहा**) आहुति में, परोपकार में लगाओ, (**वाते**) क्रियाशीलता में (**धाः**) स्थापित करो, लगाओ।

आचार्य गुरुकुल-निवासी ब्रह्मचारी-रूप प्रजाओं का पालक होने से प्रजापति कहलाता है। उसका नाम 'वेद[१]' भी है, क्योंकि वह विविध विद्याओं का तथा शिक्षणकला का ज्ञाता होता है। वह दिव्य अध्यात्म विद्या एवं दिव्य आचरण का खिलाड़ी होने से 'देव[२]' संज्ञा को भी धारण करता है। जिन विद्यार्थियों को वह ज्ञान एवं धर्माचरण में दीक्षित तथा कुशल बनाता है, वे विद्यार्थी भी 'देव[३]' कहलाते हैं, यतः वे आचार्य के साथ मिल कर ज्ञान एवं धर्माचरण की क्रीडा करते हैं। हे आचार्यवर! जैसे आप गुरुकुलवासी ब्रह्मचारियों को ज्ञान देते हो, वैसे ही कभी-कभी गुरुकुल से बाहर आकर हम नगरवासियों को भी अपने उपदेशामृत का पान करा कर ज्ञानियों की श्रेणी में आने का सौभाग्य प्रदान करते रहो।

इस प्रकार गुरुकुल में या गुरुकुल से बाहर जो सुविज्ञ आचार्यों से ज्ञान ग्रहण कर ज्ञानी विद्वान् हो जाते हैं, वे 'देव' कहलाने लगते हैं। उन्हें केवल शास्त्रों का ही ज्ञान नहीं होता, प्रत्युत वे 'गातुविद्' अर्थात् मार्ग के ज्ञाता भी होते हैं। किस प्रकार किस परिस्थिति में किस मार्ग से चलना चाहिए, इसका उन्हें बोध होता है। परन्तु मार्ग का केवल बोध होना ही पर्याप्त नहीं है, उस मार्ग पर स्वयं चलना तथा दूसरों को चलाना भी आवश्यक है। अतः वेद प्रेरणा कर रहा है कि हे मार्गज्ञ (गातुविद्) विद्वानो! तुम मार्ग को जान कर उस मार्ग पर चलो भी। जब तुम स्वयं सन्मार्ग पर चलोगे तब तुम्हें चलता देख कर अन्य लोग भी सन्मार्ग पर चलने लगेंगे। इस प्रकार मार्गज्ञाता आचार्यजन मार्गज्ञों की एक बड़ी संख्या राष्ट्र में उत्पन्न कर सकते हैं। परिणामतः राष्ट्र कभी अज्ञान एवं अविवेक के गर्त में गिर कर पद्दलित नहीं होगा।

अब हमारा आत्मा ज्ञानी आचार्यों का संसर्ग पाकर ज्ञानज्योति से जगमगाने लगा है। अतः उसे उद्बोधन देते हुए अन्त में कहते हैं कि हे मन के स्वामी, हे शक्तिशाली मन पर अपना आधिपत्य जमाने वाले मेरे जीवात्मन्! तुम मेरे जीवनयज्ञ को आहुति में लगाओ, परोपकार के पथ पर डालो। मेरे जीवनयज्ञ को उदासीनता, अकर्मण्यता एवं किंकर्तव्यविमूढ़ता में न डाल कर कर्मठ बनाओ। जब तुम्हारे पास 'मन' जैसा दिव्य साधन विद्यमान है, तब तुम ऐसा क्यों न कर सकोगे, हमें क्रियाशीलता के पथ पर अग्रसर करके सफल एवं विजयी क्यों न बना सकोगे?

पाद-टिप्पणियाँ

१. वेत्ति शास्त्राणि धर्मचर्यां शिक्षणकलां च यः से वेदः, विद ज्ञाने।
२. दीव्यति क्रीडति अध्यात्मविद्यायां दिव्याचरणै च यः स देवः।
३. विद ज्ञाने। वेद=वेत्थ, लट्, मध्यमपुरुष, एकवचन।
४. दीव्यन्ति क्रीडन्ति ज्ञाने धर्माचरणे च ये ते देवाः ब्रह्मचारिणः।
५. वेदः वेदयिता—द०भा०।
६. गाङ् गतौ, भ्वादिः। गाते गच्छति यमध्वानं स गातुः मार्गः, तुः प्रत्ययः, उ० १.७३।

११. आचार्यों द्वारा कुमार का गर्भ में धारण

ऋषिः वामदेवः । देवता पितरः । छन्दः निचृद् आर्षी गायत्री ।

आधत्त पितरो गर्भं कुमारं पुष्करस्रजम् । यथेह पुरुषोऽसत् ॥

—यजु० २ । ३३

हे (**पितरः**[१]) पालनकर्ता गुरुजनो! आचार्यो! आप (**पुष्करस्रजं कुमारं**) कमल फूलों की माला पहने हुए इस कुमार को (**गर्भम् आधत्त**) गर्भ रूप में धारण करो, (**यथा**) जिससे यह (**इह**) यहाँ, गुरुकुल में (**पुरुषः**) विद्वान् पुरुष (**असत्**[३]) हो जाए।

वेद के आदेश और अनुभवी शिक्षाविज्ञों के अनुभव के अनुसार राष्ट्र में बालक-बालिकाओं की शिक्षा अनिवार्य होनी चाहिए। एक महान् शिक्षाशास्त्री के वचन हैं—"इसमें राजनियम और जातिनियम होना चाहिए कि पाँचवें अथवा आठवें वर्ष से आगे कोई अपने लड़कों और लड़कियों को घर में न रख सके, पाठशाला में अवश्य भेज देवे। जो न भेजे वह दण्डनीय हो।[१]" जब बालक या बालिका गुरुकुल, विद्यालय या पाठशाला में विद्या पढ़ने आचार्य या आचार्या के पास जाते हैं, तब आचार्य या आचार्या उनका उपनयन संस्कार करते हैं। अथर्ववेद के ब्रह्मचर्यसूक्त में लिखा है कि "जब आचार्य ब्रह्मचारी का उपनयन संस्कार करता है, तब वह उसे अपने गर्भ में धारण करता है[२]।" प्रस्तुत मन्त्र में 'पितरः' को सम्बोधन है। 'पितरः' का अर्थ पालनकर्ता गुरुजन और आचार्यगण है।[३] माता-पिता अपने बालक को स्वच्छ वस्त्र पहना कर, उसके गले में कमलफूलों की माला डाल कर गुरुकुल में प्रवेशार्थ उपनयन

संस्कार के लिए आचार्य के समीप लाये हैं। वे बालक को आचार्यों के हाथों में सौंपते हुए कहते हैं—'हे आचार्य आदि गुरुजनो! कमल-फूलों की माला धारण किये हुए इस कुमार को आप अपने गर्भ में धारण कीजिए।' गर्भ में धारण करना सामीप्य-सम्बन्ध का प्रतीक है। जैसे गर्भस्थ सन्तान का माता के साथ अति निकट का सम्बन्ध होता है, ऐसे ही कुमार बालक या ब्रह्मचारी का आचार्य तथा गुरुजनों के साथ निकट का सम्बन्ध रहना चाहिए। निकटता में रह कर ही गुरुजन विद्यार्थी की शिक्षा की ओर अधिक ध्यान दे सकते हैं, उसके गुण-दोषों को देख सकते हैं तथा गुणों को प्रोत्साहित एवं दोषों को दूर कर सकते हैं। पाठ्यपुस्तकों द्वारा अध्यापन भी निकटता की अपेक्षा रखता है। पाठ भूल जाने पर या कोई शङ्का होने पर तुरन्त छात्र गुरुजनों से पूछ सकता है। गुरुजन छात्र को अपने पास रख कर उसकी शारीरिक, मानसिक और आत्मिक उन्नति पर भी ध्यान दे सकते हैं। गर्भ में धारण करने का लाभ क्या होगा इस विषय में मन्त्र कह रहा है कि यह अशिक्षित कुमार गुरु-सान्निध्य में शिक्षित होकर सत्पुरुष तथा उत्तम नागरिक बन जायेगा।

इस मन्त्र के भावार्थ में भाष्यकार[४] लिखते हैं—''विद्वानों और विदुषियों को चाहिए कि विद्यार्थी कुमारों और विद्यार्थिनी कुमारियों को विद्या देने के लिए गर्भ के समान धारण करें। जैसे गर्भ में देह क्रम-क्रम से बढ़ता है, वैसे अध्यापक लोगों को चाहिए कि सुशिक्षा से ही ब्रह्मचारी, कुमार वा कुमारी की सद्विद्या में वृद्धि करें तथा उनका पालन करें, जिससे वे विद्या के योग से धर्मात्मा और पुरुषार्थयुक्त होकर सदैव सुखी हों।''

पाद-टिप्पणियाँ

१. (पितरः) ये पान्ति विद्यान्नादिदानेन, तत्सम्बुद्धौ—द०भा०।

२. विद्याग्रहणार्था स्रग् धारिता येन तम् कुमारं ब्रह्मचारिणम्—द०भा०।

३. असत् भवेत्-अस भुवि, अदादिः, लेट् लकार।

४. स्वामी दयानन्द सरस्वती।

१२. अग्न्याधान

ऋषिः प्रजापतिः। देवताः अग्नि-वायु-सूर्याः। छन्दः क. दैवी बृहती, र. निचृद् आर्षी बृहती।

[क]भूर्भुवः स्वः॒ [र]द्यौरि॑व भू॒म्ना पृ॑थि॒वीव॑ व॒रि॒म्णा ।
तस्या॑स्ते पृथिवि देवयजनि पृ॒ष्ठे॒ऽग्निम॑न्ना॒दम॒न्नाद्या॒याद॑धे ॥

—यजु० ३।५

(भूः भुवः स्वः) सत्-चित्-आनन्द, पृथिवी-अन्तरिक्ष-द्यौ, अग्नि-वायु-आदित्य, ब्रह्म-क्षत्र-विट् का ध्यान करता हूँ। मैं **(भूम्ना)** बाहुल्य से **(द्यौः इव)** द्युलोक के समान हो जाऊँ, **(वरिम्णा)** विस्तार से **(पृथिवी इव)** भूमि के समान हो जाऊँ। **(देवयजनि पृथिवि)** हे देवयज्ञ की स्थली भूमि! **(तस्याः ते पृष्ठे)** उस तुझ भूमि के पृष्ठ पर **(अन्नादम् अग्निम्)** हव्यान्न का भक्षण करने वाली अग्नि को **(अन्नाद्याय)** अदनीय अन्नादि का भक्षण करने के लिए **(आदधे)** आधान करता हूँ/करती हूँ।

अग्न्याधान से पूर्व व्याहृतियों द्वारा सच्चिदानन्दस्वरूप परमेश्वर का स्मरण करते हैं। शतपथ ब्राह्मण में भूः, भुवः, स्वः पूर्वक आहवनीय अग्नि के आधान का विधान करते हुए इनका सम्बन्ध क्रमशः पृथिवी-अन्तरिक्ष-द्यौ, ब्रह्म-क्षत्र-विट् तथा आत्मा-प्रजा-पशुओं से बताया गया है।[1] इन सब में अपने-अपने प्रकार की अग्नि का वास है। तैत्तिरीय आरण्यक एवं तैत्तिरीय उपनिषद् में इन व्याहृतियों को क्रमशः भूलोक-अन्तरिक्षलोक-द्युलोक, अग्नि-वायु-आदित्य, ऋक्-साम-यजुः और प्राण-अपान-उदान का वाचक कहा है।[2] वहाँ इनके द्वारा विधि करने का फल यह बताया गया है कि भूः के द्वारा अग्नि

में, भुवः के द्वारा वायु में और स्वः के द्वारा आदित्य में प्रतिष्ठित हो जाता है, अर्थात् इन-इन के ऐश्वर्य का अधिकारी हो जाता है। इनका ध्यान करनेवाला आत्मराज्य को और मनसस्पति को प्राप्त कर लेता है। वह वाक्पति, चक्षुष्पति, श्रोत्रपति हो जाता है[३], क्योंकि अध्यात्म में भूः, भुवः, स्वः का सम्बन्ध वाक्, चक्षु और श्रोत्र से भी है।

आगे यजमान कहता है कि बाहुल्य (भूमा) में मैं द्युलोक के समान हो जाऊँ, अर्थात् जैसे द्युलोक में बहुत-से नक्षत्र हैं और इनकी रश्मियाँ हैं, वैसे ही मेरे अन्दर भी बहुत से सद्गुणरूप नक्षत्र एवं दिव्य अन्तःप्रकाश की किरणें उत्पन्न हों।[४] फिर कहता है कि विस्तार में मैं पृथिवी के समान हो जाऊँ, अर्थात् मेरे आत्मा में अपनत्व का विकास इतना हो जाए कि सारी वसुधा को ही अपना कुटुम्ब मानने लगूँ[५]। फिर वह पृथिवी को सम्बोधन कर कहता है कि तुम 'देवयजनी' हो, अर्थात् तुम्हारे पृष्ठ पर सदा ही देवयज्ञ या अग्निहोत्र होते रहे हैं। अतः मैं भी तुम्हारे पृष्ठ पर अन्नाद (हव्यान्नभक्षी) अग्नि का आधान करता हूँ, जिससे वह अग्नि अदनीय (भक्षणीय) अन्नादि हव्य का भक्षण[६] करके उसकी सुगन्ध को चारों ओर फैला कर वातावरण को शुद्ध एवं रोग-परमाणुओं से रहित कर सके। शतपथ ब्राह्मण कहता है कि जैसे नवजात बच्चे को उसके भक्षणयोग्य मातृस्तन का दूध दिया जाता है, ऐसे ही नवजात अग्नि को उसके अदन के योग्य ही हव्यान्न दिया जाना चाहिए, अतः अन्नाद्य (अद्य-अन्न) शब्द रखा गया है।[७] 'अन्नाद्याय' का दूसरा भाव यह भी हो सकता है कि 'भक्षणीय अन्न' की प्राप्ति के लिए मैं अग्नि का आधान करता हूँ। अग्नि में डाली हुई आहुति आकाश में मेघमण्डल उत्पन्न करके वृष्टि द्वारा अन्नोत्पत्ति में कारण बनेगी और मुझे भक्षणीय अन्न प्राप्त होगा।

पाद-टिप्पणियाँ

१. श० २.१.४.१०-१४।

२. तै० आ० ७.५.१-३, तै० उ० शिक्षावल्ली ५.१-४।

३. भूरित्यग्नौ प्रतितिष्ठति। भुव इति वायौ। सुवरित्यादित्ये।
महं इति ब्रह्मणि। आप्नोति स्वाराज्यम्। आप्नोति मनसस्पतिम्।
वाक्पतिश्चक्षुष्पतिः। श्रोत्रपतिर्विज्ञानपतिः एतत् ततो भवति।
—तै० आ० ७.६.१.२, तै० उ० शिक्षावल्ली ६.१,२।

४. यथासौ द्यौर्बह्वी नक्षत्रैरेवं बहुर्भूयासम् इत्येवैतदाह यदाह द्यौरिव भूम्नेति।
—श० २.१.४.८

५. पृथिवीव वरिण्णेति। यथेयं पृथिवी उर्वी एवम् उरुर्भूयासम् इत्येवैतदाह।
—श० २.१.४.२८

६. अन्नाद्याय। अन्नं च तद् अद्यं चेति अन्नाद्यम्। 'अद्यान्नाय' इति प्राप्ते आहिताग्न्यादित्वात् परनिपातः, पा० २.२.३६।

७. श० २.१.५.१

१३. तनूपाः अग्नि से प्रार्थना

ऋषिः अवत्सारः । देवता अग्निः । छन्दः आर्षी त्रिष्टुप् ।

तनूपाऽअग्नेऽसि तन्वं मे पाह्यायुर्दाऽअग्नेऽस्यायुर्मे देहि वर्चोदाऽ अग्नेऽसि वर्चो मे देहि । अग्ने यन्मे तन्वाऽऊनं तन्मऽआपृण ॥

—यजु० ३ । १७

(अग्ने) हे अग्रनायक जगदीश्वर और भौतिक अग्नि! तुम **(तनूपाः[१] असि)** शरीरों के पालक व रक्षक हो, अतः **(मे तन्वं पाहि)** मेरे शरीर को पालित-रक्षित करो । **(अग्ने)** हे परमात्मन् तथा अग्नि-विद्युत्-सूर्य रूप अग्नि! तुम **(आयुर्दाः असि)** आयु देने वाले हो, अतः **(मे आयुः देहि)** मुझे आयु दो । **(अग्ने)** हे परमेश्वर तथा उक्त अग्नियो! तुम **(वर्च्चोदाः[२] असि)** वर्चस् देने वाले हो, अतः **(मे वर्चः[३] देहि)** मुझे वर्चस् दो । **(यत्)** जो **(मे तन्वाः)** मेरे शरीर का **(ऊनं)** न्यून है **(तत् मे)** मेरे उस सामर्थ्य को **(आ पृण[४])** पूर्ण करो ।

प्रत्येक मनुष्य चाहता है कि मैं सुपालित और सुरक्षित रहूँ, मुझ पर दैवी आपदाएँ न आयें, भूकम्प, अतिवृष्टि, नदी की बाढ़ों आदि का शिकार में न होऊँ, मुझे दीर्घायुष्य प्राप्त हो, मैं यशस्वी-वर्चस्वी बनूँ, मेरे अन्दर जो न्यूनताएँ हैं, वे न रहें । किन्तु इसका उपाय क्या है ? इसका उपाय है 'अग्नि'। अग्नि अग्रनायक, तेजस्वी, महिमाशाली परमेश्वर का नाम भी है और भौतिक अग्नि को भी अग्नि कहते हैं । भौतिक अग्नि में पार्थिव अग्नि, अन्तरिक्ष की विद्युत् और द्युलोक का सूर्य सभी आ जाते हैं । इनके अतिरिक्त भी जहाँ-कहीं अग्नि-तत्त्व है, वह भी अग्नि से गृहीत हो जाता है ।

हे अग्नि! तू शरीरों का रक्षक है, मेरे शरीर की भी रक्षा कर। संसार में जितने भी जड़-चेतन शरीर हैं, वे सब ईश्वरीय छत्रछाया से ही रक्षित-पालित हो रहे हैं, अतः ईश्वर की वह छत्रछाया मेरे शरीर को भी प्राप्त होती रहे। इसके अतिरिक्त भौतिक अग्नि भी शरीरों की रक्षा कर रहा है। आग, बिजली और सूर्य हमारे कितने अधिक काम आने वाले तत्त्व हैं। कल्पना कीजिए ये तीनों हमसे छिन जाएँ तो न हम भोजन पका सकेंगे, न घरों, कारखानों आदि में विद्युत् का प्रकाश पा सकेंगे, न हमें दिन में सूर्य का प्रकाश मिलेगा, सदा हम रात्रि से ही घिरे पड़े रहेंगे। इन तीनों प्रकार की अग्नियों का प्रयोग करके सदा हम पालित-रक्षित होते रहें। साथ ही यदि शत्रु हमारी हिंसा करने का मनसूबा बाँधें, तो आग्नेयास्त्रों से उन्हें पराजित करके भी हम रक्षित होते रहें।

हे अग्नि! तू दीर्घायुष्य देनेवाला है, मुझे भी दीर्घायुष्य प्रदान कर। जगदीश्वररूप अग्नि के नियमों का हम पालन करते रहें, तो भी हमें दीर्घायुष्य प्राप्त हो सकता है। इसके अतिरिक्त उपर्युक्त तीनों प्रकार की भौतिक अग्नियों से लाभान्वित होकर भी हम दीर्घायु हो सकते हैं। अल्पायु होने में शारीरिक और मानसिक रोग बहुत बड़े कारण हैं। वैज्ञानिकों ने तीनों अग्नियों द्वारा रोगनिवारण के अनेक उपाय आविष्कृत किये हैं। चिकित्सकों द्वारा उन उपायों का अपने शरीर पर प्रयोग करवा कर भी हम दीर्घायुष्य पा सकते हैं।

हे अग्नि! तू वर्चस् को देनेवाला है, मुझे भी वर्चस्विता प्रदान कर। वर्चस् में ब्राह्म तेज़, आत्मबल, विद्या और विद्वत्ता का तेज आदि आते हैं। परमेश्वराग्नि सब वर्चस्विताओं का स्रोत और पुञ्ज है। उसकी वर्चस्विताओं को अपना आदर्श बना कर हम भी वर्चस्वी बन सकते हैं। आग, विद्युत् और सूर्य के बल और प्रकाश का चिन्तन भी हमें वर्चस्वी बना सकता है।

हे अग्नियो! मेरे शरीर में, शारीरिक अङ्गों में, रक्तसंस्थान,

पाचनसंस्थान, मलविसर्जनसंस्थान, मन, मस्तिष्क आदि में जो कोई न्यूनता आ गयी है, बुद्धिबल, शौर्य आदि की कमी हो गयी है, उसे भी तुम दूर कर दो, जिससे मेरा शरीर संस्कृत, निर्दोष, सबल और प्रफुल्ल होकर अपने आत्मा को भी उपकृत करता रहे और परोपकार में भी संलग्न रहे।

पाद-टिप्पणियाँ

१. (तनूपाः) यस्तनूः सर्वपदार्थदेहान् पाति रक्षति स जगदीश्वरः पालनहेतुर्भौतिको वा—द०भा०।

२. (वर्च्चोदाः) यो वर्चो विज्ञानं ददातीति, तत्प्राप्तिहेतुर्वा—द०भा०।

३. (वर्च्चः) विद्याप्राप्तिं दीप्तिं वा—द०भा०।

४. पृण—पृ पालनपूरणयोः, क्र्यादिः।

१४. कैसा है वह बृहस्पति प्रभु?

ऋषिः मेधातिथिः। देवता बृहस्पतिः। छन्दः आर्षी गायत्री।

यो रे॒वान् योऽअ॑मीव॒हा व॑सु॒वित्पु॑ष्टि॒वर्द्ध॑नः। स नः॑ सिषक्तु॒ यस्तु॒रः॥

—यजु० ३। २९

(**यः**) जो बृहस्पति जगदीश्वर (**रेवान्**[१]) विद्या आदि धनों से युक्त है, (**यः**) जो (**अमीवहा**[२]) आत्मिक एवं शारीरिक रोगों को नष्ट करने वाला, (**वसुवित्**[३]) ऐश्वर्य प्राप्त कराने वाला, और (**पुष्टिवर्धनः**[४]) पुष्टि बढ़ानेवाला है, तथा (**यः तुरः**[५]) जो शीघ्रकारी है (**सः**) वह (**नः सिषक्तु**[६]) हमें प्राप्त हो।

क्या तुम गर्व करते हो अपनी विशाल बहुमंजिली कोठियों पर, गगनचुम्बी रत्नजटित महलों पर, विस्तृत भूमिक्षेत्र पर, अपार धन-दौलत पर, हरे-भरे रसीले फलों वाले बाग-बगीचों पर? यह तुम्हारा गर्व क्षण-भर में चूर हो जायेगा, जब तुम बृहस्पति परमेश्वर के समस्त ब्रह्माण्ड में फैले हुए अपार ऐश्वर्य पर दृष्टि डालोगे। सूर्य, नक्षत्र और इनके असंख्य ग्रह-उपग्रहों को थोड़ी देर के लिए आँख से ओझल करके भी अपनी छोटी-सी भूमि के ऐश्वर्य को ही देख लो, तो भी तुम्हारा ऐश्वर्यशाली होने का गर्व समाप्त हो जायेगा। पृथिवी पर फैली हुई प्रभु की सम्पदा सोना, चाँदी, रत्न, हीरे, मोती, पन्ने, विविध बहुमूल्य पदार्थों की खानें, नदियाँ, पर्वत, समुद्र, स्रोत, झरने, वनस्पतियाँ, रङ्ग-विरङ्गे पुष्प, रसभरे फल, अमृत पेय से अपनी छोटी-सी सम्पत्ति की तुलना तो करो। फिर यह भी सोचो कि जिस सम्पदा को तुम अपनी कह रहे हो वह भी तो तुम्हारी नहीं, प्रभु की ही बनायी और दी हुई है। तब शीष झुक जाएगा तुम्हारा उस 'रेवान्', अर्थात् रयिमान् या धनवान् प्रभु के सम्मुख। फिर केवल भौतिक धनों का ही नहीं, अपितु विद्या, न्याय आदि धनों का भी वह स्वामी है। अन्य अनेक गुण भी उसके अन्दर हैं। वह 'अमीवहा' है, हमारे आत्मिक,

मानसिक और शारीरिक रोगों को हर कर हमें स्वस्थ बनानेवाला है। प्रभुकृपा की रोगहर्त्री अद्भुत बूटी के बिना ब्रह्माण्ड में फैली हुई असंख्यों बूटियाँ और उनके प्रयोक्ता सहस्रों चिकित्सकों की अनवरत चिकित्सा विफल हो जाती है। फिर इस बात को भी मत भूलो कि पृथिवी पर फैली हुई असंख्य ओषधियाँ भी तो प्रभु की ही उत्पन्न की हुई हैं।

प्रभु 'वसुविद्' भी है, आध्यात्मिक और भौतिक धन मनुष्य को प्राप्त करानेवाला तथा धन-कुबेर बनानेवाला भी वही है। बृहस्पति प्रभु 'पुष्टिवर्धन' भी है, हमारी आत्मिक और शारीरिक पुष्टि की पूँजी को बढ़ानेवाला भी है। वह प्रभु 'तुरः' है, त्वराशील है, हर क्षेत्र में त्वरा करनेवाला है। उसकी त्वरा या शीघ्रकारिता के बिना ब्रह्माण्ड के कार्य अलस गति से चलते हुए कभी पूर्ण ही न हों। सूर्योदय, चन्द्रोदय, ऋतुचक्र-प्रवर्तन, ब्रह्माण्डलीलाप्रचालन सबको वह त्वराशील प्रभु ही करा रहा है। परन्तु परमेश्वर के इन गुणवर्णनों से कोई कार्य सिद्ध होनेवाला नहीं है, जब तक स्वयं अपने अन्दर इन गुणों को धारण न करें। इसीलिए भाष्यकार महर्षि दयानन्द स्वामी इस मन्त्र के भावार्थ में लिखते हैं—"मनुष्य जैसी प्रार्थना ईश्वर से करते हैं, वैसा उन्हें पुरुषार्थ भी करना चाहिए। ईश्वर 'रेवान्' अर्थात् विद्या आदि धनवाला है, ऐसा विशेषण कह-सुन कर कोई कृतकृत्य नहीं हो सकता, अपितु उसे स्वयं भी परम पुरुषार्थ द्वारा विद्या आदि धन की वृद्धि और रक्षा निरन्तर करनी चाहिए। जैसे परमेश्वर अविद्या आदि रोगों को दूर करनेवाला है, वैसे मनुष्यों को भी उचित है कि स्वयं भी अविद्या आदि रोगों को निरन्तर दूर करें। जैसे वह सबकी पुष्टि को बढ़ाता है, वैसे मनुष्य भी सबके पुष्टि आदि गुणों को निरन्तर बढ़ावें। जैसे वह शीघ्रकारी है, वैसे ही मनुष्य भी अभीष्ट कार्य त्वरा से करें।"

पाद-टिप्पणियाँ

१. (रेवान्) विद्याधनवान्—द०।
२. (अमीवहा) योऽमीवान् अविद्यादिरोगान् हन्ति सः—द०।
३. वसुवित्—यो वसूनि धनानि वेदयति प्रापयति सः, विद्लृ लाभे।
४. (पुष्टिवर्धनः) पुष्टिं शरीरात्मबलं धातुसाम्यं च वर्द्धयतीति—द०।
५. तुरः—तुर त्वरणे, जुहोत्यादिः, शीघ्रकारी।
६. सिषक्तु—षच समवाये, छान्दस रूप।

१५. विश्वसम्राट् की शरण में

ऋषिः आसुरिः। देवता अग्निः। छन्दः आर्षी अनुष्टुप्।

आग॑न्म वि॒श्ववे॑दसम॒स्मभ्यं॑ वसुवि॒त्त॑मम्।
अग्ने॑ सम्राड॒भि द्यु॒म्नम॒भि सह॒ऽआय॑च्छस्व॥

—यजु० ३।३८

हम **(आ अगन्म)** आये हैं **(विश्ववेदसम्[1])** विश्ववेत्ता, **(अस्मभ्यं वसुवित्तमम्[2])** हमें सर्वाधिक धन प्रदान करने वाले आपकी शरण में। हे **(अग्ने)** अग्रणी जगदीश्वर! **(सम्राट्)** हे विश्वसम्राट्! आप **(अभि)** हमारे प्रति **(द्युम्नम्[3])** यश और **(अभि)** हमारे प्रति **(सहः)** बल **(आ यच्छस्व[4])** प्रदान कीजिए।

संसार में जितने प्रकार के पदार्थ हैं, उतनी ही विद्याएँ हैं, क्योंकि प्रत्येक प्रकार के पदार्थ की अपनी-अपनी विशेषता है। इस प्रकार असंख्य विद्याएँ हैं। ब्रह्माण्ड में ज्ञान का समुद्र लहरा रहा है। कोई किसी विद्या का विज्ञानी है, कोई किसी का। विज्ञानी पण्डितों में भी तारतम्य है। ज्ञान में कुछ कमर तक पानी के सरोवर के समान होते हैं, कुछ मुखपर्यन्त पानी वाले सरोवर के समान और कुछ लबालब भरे हुए डुबकी लगाने, तैरने और स्नान करने योग्य सरोवर के समान ज्ञान से लबालब भरे होते हैं। संसारी ज्ञानियों के ऊपर ज्ञानियों का ज्ञानी, विश्वविज्ञ 'विश्ववेदस्' अग्नि परमेश्वर विद्यमान है। सबका अग्रणी होने के कारण वह अग्नि है, और विश्ववेत्ता होने के कारण 'विश्ववेदस्' कहलाता है। छान्दोग्य उपनिषद् में नारद मुनि सनत्कुमार के पास विद्याध्ययनार्थ जाते हैं। पूछने पर वे बताते हैं कि मैं चारों वेद, इतिहास, पुराण, वेदों के वेद व्याकरण आदि १९ विद्याओं में पारङ्गत हो चुका हूँ। सनत्कुमार कहते हैं कि ये सब तो लौकिक विद्याएँ हैं, 'नाम'

हैं। नाम से बढ़ कर वाक् है, वाक् से बढ़ कर मन है इत्यादि विस्तार करते हुए वे 'भूमा' तक पहुँचा देते हैं। अन्त में ब्रह्मपुर तथा ब्रह्म तक ले जाते हैं। इससे ज्ञात होता है कि लौकिक विद्याएँ भी अन्तिम नहीं हैं, उनसे भी परे अध्यात्मविद्या या ब्रह्मविद्या है। मनुष्य एक-दो विद्याओं में अपूर्ण पण्डित होकर ही स्वयं को विद्वान् मानने लगते हैं। उसकी तुलना में परमेश्वर का ज्ञान कितना अगाध है, इसी कारण वह 'विश्ववेदाः' है, सब लौकिक और आध्यात्मिक विद्याओं का पूर्ण विद्वान् है।

परमेश्वर का दूसरा विशेषण मन्त्र में 'वसुवित्तम' है, अर्थात् वह सबसे बड़ा 'वसुवित्' है। वसु धन का नाम है, 'वित्' में लाभार्थक विद धातु है, 'तमप्' प्रत्यय अतिशय अर्थ में है। वह हमें सबसे बढ़कर धन प्राप्त करानेवाला है। सांसारिक धनपति तो हमें सामान्य और अल्प धन ही प्राप्त कराते हैं, परमेश्वर अग्नि, जल, वायु, भूमि, सूर्य, विद्युत्, वर्षा आदि ऐसे विशिष्ट धन प्राप्त कराता है, जिनके बिना हम जीवित ही नहीं रह सकते। इसके अतिरिक्त वह विद्या, विनय, सत्य, अहिंसा आदि आध्यात्मिक धन भी हमें प्रदान करता है।

वह जगदीश्वर ही हमारा असली 'सम्राट्' है। हे सम्राट्! हे राजाधिराज! तुम हमारा जीवन ऐसा उज्ज्वल कर दो कि हमें 'द्युम्न' मिले, हम यश के भागी हों और शारीरिक, मानसिक तथा आत्मिक बल भी हमें प्रदान करो। हे सम्राट्! हम तुम्हारी प्रजाएँ हैं।

पाद-टिप्पणियाँ

१. विश्वं सर्वं वेत्ति जानातीति विश्ववेदाः तम्। 'विदिभुजिभ्यां विश्वे' उ० ४.२३९ से असि प्रत्यय।
२. वसूनि लौकिकानि आध्यात्मिकानि च धनानि वेदयति प्रापयतीति विश्ववित्, अतिशयेन विश्ववित् विश्ववित्तमः तम्।
३. द्युम्नं द्योततेः यशो वा अन्नं वा। निरु० ५.५
४. आ-दाण् दाने, 'पा घ्रा ध्मा स्था०' पा० ७.३.७८ से दाण् को यच्छ आदेश।
५. सहः=बल, निघं० २.९।

१६. पाप-मोचन

ऋषिः प्रजापतिः । देवता मरुतः (मनुष्याः) । छन्दः स्वराड् अनुष्टुप् ।

यद् ग्रामे यदरण्ये यत् सभायां यदिन्द्रिये ।
यदेनश्चकृमा वयमिदं तदवयजामहे स्वाहा ॥

—यजु० ३ । ४५

(**यद्**) जो (**ग्रामे**) ग्राम में, (**यद्**) जो (**अरण्ये**) जङ्गल में, (**यत्**) जो (**सभायां**) सभा में, (**यत्**) जो (**इन्द्रिये**) चक्षु, श्रोत्र आदि इन्द्रियों के विषय में, (**यद्**) जो अन्य किसी के विषय में भी (**एनः**) पाप या अपराध (**वयं चकृम**[1]) हम करते हैं (**तत्**) उसे (**इदं**) यह (**अव यजामहे**) हम दूर कर रहे हैं, (**स्वाहा**) यह कैसा उत्तम व्रत है।

हम जाने या अनजाने कुछ न कुछ पाप या अपराध करते ही रहते हैं। कभी हम ग्रामविषयक अपराध करते हैं। ग्राम के मुखिया का कहना नहीं मानते, ग्राम-पञ्चायत के निर्णयों की उपेक्षा करते हैं, ग्राम को स्वच्छ, साफ-सुथरा नहीं रखते, ग्राम की पवित्र नैतिकता को कलङ्क लगाते हैं, ग्रामवासियों के साथ दुर्व्यवहार करते हैं, ग्राम की बहू-बेटियों के साथ शिष्ट व्यवहार नहीं करते, ग्राम की आदर्श स्वायत्त शासनव्यवस्था भङ्ग करते हैं, ग्राम के अतिथियों के साथ अभद्रता करते हैं, ग्राम के बुजुर्गों का अनादर करते हैं, ग्राम के कूपों-जलाशयों को मलिन करते हैं, ग्राम के पशुओं को कष्ट देते हैं। कभी हम वन-विषयक अपराध या पाप करते हैं। वृक्ष हमारे वनों की बहुमूल्य सम्पदा हैं। वे वनभूमि को सुदृढ़ रखते हैं, वर्षा में कारण बनते हैं, फल-फूल आदि देते हैं, वायुमण्डल को

सरस, सुगन्धित, शीतल बनाते हैं। उन्हें हम यदि काट कर नष्ट करते हैं, तो पाप करते हैं। इसी प्रकार वन-विषयक राजनियमों की उपेक्षा करके वन के पशुओं को मारना, चोरी से वन का सामान लाना, वन के सौन्दर्य को नष्ट करना आदि भी वन-सम्बन्धी अपराध हैं। कभी हम सभा-विषयक अपराध करते हैं। सभा में सभापति के आदेश का उल्लङ्घन करना, सदस्यों के साथ अनुचित व्यवहार करना, सभा में अहितकर परामर्श देना, सभा को शान्ति से न चलने देना आदि सभा के अपराध हैं। कभी हम चक्षु, श्रोत्र आदि इन्द्रियों से सम्बद्ध अपराध करते हैं। आँख से अभद्र देखना, कान से अभद्र सुनना, रसना से अभक्ष्य पदार्थ चखना, नासिका से अभद्र सूँघना, त्वचा से अभद्र स्पर्श करना, हाथों से अभद्र कार्य करना, इन्द्रियों को दुर्बल करना, इन्द्रियों के रुग्ण हो जाने पर उन्हें पुनः स्वस्थ करने के उपाय न करना आदि इन्द्रियापराध हैं। ग्राम, जङ्गल, सभा और इन्द्रियों के विषय में ही नहीं, अपितु माता, पिता, गुरुजन, अतिथिजन, समाज, राष्ट्र आदि के प्रति भी हम बहुत से अपराध या पाप करते रहते हैं।

परन्तु आज से हम यह व्रत लेते हैं कि सभी पापों और अपराधों से हम स्वयं को बचायेंगे। व्रत दृढ़ इच्छाशक्ति का परिचायक होता है। दृढ़ सङ्कल्प-बल द्वारा हम निश्चय ही समस्त अपराधों से बचे रहेंगे। प्रजापति प्रभु की कृपा से हमारा व्रत सफल हो और हम निष्पाप एवं निरपराध जीवन जी सकें।

पाद-टिप्पणी

१. चकृमा—संहिता में 'अन्येषामपि दृश्यते' पा० ६.३.१३७ से दीर्घ।

१७. यज्ञ का क्रय-विक्रय

ऋषिः और्णवाभः। देवता यज्ञः। छन्दः आर्षी अनुष्टुप्।

पूर्णा दर्वि परा पत सुपूर्णा पुनरापत।
वस्नेव विक्रीणावहाऽइषमूर्जꣳ शतक्रतो॥

—यजु० ३।४९

(दर्वि) हे स्रुवा! तू **(पूर्णा)** घृत से भरी हुई **(परापत)** यज्ञकुण्ड में जाकर गिर। वहाँ से **(सुपूर्णा)** खूब भरी हुई **(पुनः आ पत)** फिर हमारे पास आ। इस प्रकार हे **(शतक्रतो)** सैंकड़ों यज्ञों के कर्ता इन्द्र परमेश्वर! हम **(वस्ना इव)** जैसे मूल्य से किसी वस्तु का क्रय-विक्रय किया जाता है, वैसे ही **(इषम्)** अन्न, रस आदि तथा **(ऊर्जम्)** बल, प्राण, स्वास्थ्य आदि **(वि क्रीणावहै)** विशेषरूप से खरीदें।

क्या तुम सोचते हो कि यज्ञ में घृत से भरी हुई स्रुवा जब अग्नि में घृत उंडेलती है, तब हमारे पास वापिस आती हुई वह खाली होती है? यदि ऐसा सोचते हो तो तुम भ्रम में हो। यदि ऐसा होता तो वेदादि शास्त्रों में यज्ञ की असीम महिमा वर्णित न होती। यज्ञ तो देने-लेने का व्यापार है। उसमें व्यय भी है, आय भी है। भौतिकता की दृष्टि से देखें तो हम अग्नि को हवि देते हैं, बदले में अग्नि जल-वायु की शुद्धि करके तथा हमारे शरीर में श्वास के साथ स्वास्थ्यवर्धक हवि का अंश पहुँचा कर हमें स्वास्थ्य तथा दीर्घायुष्य प्रदान करता है। अग्नि की ऊर्ध्वगामी ज्वालाओं से हम ऊर्ध्वगामी होने की प्रेरणा लेते हैं। अग्नि के ताप और प्रकाश से हम तपस्वी और प्रकाशवान् होने का सन्देश ग्रहण करते हैं। अग्नि के मलिनताओं को भस्म करने के गुण से हम अपने पाप-ताप को भस्म करने

का व्रत लेते हैं। जब हम 'इन्द्राय स्वाहा' बोलकर इन्द्र को आहुति प्रदान करते हैं, तब शतक्रतु इन्द्र से अर्थात् इन्द्र प्रभु के सृष्ट्युत्पत्ति, सृष्टिसञ्चालन, ऋतु-निर्माण, संवत्सर-रचना, जल-वाष्पीकरण, वृक्षारोपण, पुष्प-विकास, नदी-प्रवाह, ग्रहोपग्रह-व्यवस्था, तारकावलि-प्रकाशन आदि शत-शत यज्ञों की साधनारूप स्रुवा से हम यज्ञभावना को अपने अन्दर जागृत करते हैं। इस प्रकार यज्ञ की स्रुवा जब अग्नि में आहुति डाल कर वापिस आती है, तब वह खाली नहीं होती, प्रत्युत वह स्वास्थ्य, दीर्घायुष्य, ऊर्ध्वज्वलन, तप, प्रकाश, निष्पापता, त्याग, आस्तिकता आदि से भरपूर होती है। जितनी बार स्रुवा से हम अग्नि में हवि का त्याग करते हैं, उतनी ही बार वह उत्तम ऐश्वर्यों से भरी-पूरी होती हुई हमारे पास वापिस आकर उन ऐश्वर्यों को हमारे मानस में उंडेल देती है। इस प्रकार जैसे कोई मूल्य देकर बदले में बहुमूल्य वस्तुएँ प्राप्त करता है वैसे ही अग्नि में हवि देकर बदले में हम नाना भौतिक एवं आध्यात्मिक ऐश्वर्यों को प्राप्त कर लेते हैं। एवं यह क्रय-विक्रय का व्यापार अग्निहोत्र में निरन्तर चलता रहता है।

इस मन्त्र के दयानन्दभाष्य के भावार्थ में लिखा है—"जो मनुष्यों द्वारा सुगन्धि आदि द्रव्य अग्नि में होम किया जाता है वह ऊपर जाकर वायु, वृष्टिजल आदि को शुद्ध करके पुनः पृथिवी पर आ जाता है, जिससे यव आदि ओषधियाँ शुद्ध होकर सुख और पराक्रम को देनेवाली हो जाती हैं। जैसे व्यापारी रुपया आदि दे-लेकर अन्न आदि अन्य द्रव्यों को खरीदते-बेचते हैं, वैसे ही अग्नि में द्रव्यों की आहुति देकर वृष्टि, सुख आदि को खरीदता है और वृष्टि, ओषधि आदि को लेकर पुनः वृष्टि के लिए अग्नि में होम करता है।"

१८. राजकीय भाग का स्वेच्छा से अर्पण

ऋषिः बन्धुः। देवता रुद्रः। छन्दः निचृद् आर्षी अनुष्टुप्।

एष ते रुद्र भागः सह स्वस्राम्बिकया तं जुषस्व
स्वाहैष ते रुद्र भागऽआखुस्ते पशुः॥

—यजु० ३।५७

हे (**रुद्र**) राजन्! (**एषः**) यह (**ते भागः**) आपका भाग है, जिसे हम (**स्वस्रा अम्बिकया सह**) अपनी बहिन, माता आदि के साथ देते हैं। (**तं**) उस भाग को, आप (**जुषस्व**) स्वीकार कीजिए। हे (**रुद्र**) नगरपालिकाध्यक्ष! (**एषः**) यह (**ते भागः**) आपका भाग है, उसे आप स्वीकार कीजिए। (**आखुः**) चूहा, चूहे की प्रवृत्तिवाला मनुष्य (**ते**) आपके लिए (**पशुः**) पशुतुल्य है।

सभी राष्ट्रों में राजा की ओर से प्रजा पर कुछ कर (टैक्स) लगाये जाते हैं, जिनसे प्राप्त आय को राजा-प्रजा की ही सार्वजनिक भलाई के लिए व्यय करता है। प्रजा यदि छल से उन करों को देने से बचती है, तो यह सार्वजनिक दृष्टि से एक अपराध है। यदि हम अपने ऊपर लगे आयकर, बिक्रीकर, चुङ्गीकर आदि को कर्त्तव्य समझकर राजकोष में भेजते रहें, तो उससे हमारा ही कल्याण होगा। जैसे सूर्य समुद्र से जल लेकर उसे सहस्रगुणा बढ़ाकर भूमि पर बरसाता है, वैसे ही राजा सबसे थोड़ा-थोड़ा धन कर रूप में लेकर प्रजा की भलाई में लगा कर उसे सहस्रगुणित रूप में प्रजा पर बरसा देता है।[१]

मन्त्र में प्रजा 'रुद्र' नाम से राजा और नगरपालिकाध्यक्ष को सम्बोधित कर रही है। इन्हें रुद्र इस कारण कहते हैं, क्योंकि ये प्रजा के 'रुत्' अर्थात् रोग, दुःख आदि का द्रावण

या विनाश करते हैं।[२] हे राजन्! अपनी आय में से यह आपका भाग निकाल कर हम प्रसन्नतापूर्वक आपकी सेवा में अर्पित करते हैं। हमारी बहिन, माता आदि की हमसे अलग कर-योग्य आमदनी है, तो उनसे भी आपका नियत भाग हम आपको दिलाते हैं। उसे आप गृहीत कीजिए। जो कर नगरपालिका हम पर लगाती है, वह कर हम नगरपालिकाध्यक्ष को देते हैं।

हे राजन्! और हे नगरपालिकाध्यक्ष! आपके राज्य और नगर में जो 'आखु' अर्थात् चूहे की प्रवृत्तिवाला है, वह आपके लिए पशुतुल्य है। जैसे चूहे अनाज, मेवे आदि चुरा कर अपने बिल में भर लेते हैं, ऐसे ही जो राजदेय धन की चोरी करके अपने पास उसका संग्रह करता रहता है, वह चूहा है। उसे राजा और नगरपालिकाध्यक्ष पशुतुल्य मान कर प्रताडित और दण्डित करते हैं।

यह द्रष्टव्य है कि पौराणिक साहित्य में अम्बिका रुद्र की बहिन (स्वसा) नहीं, अपितु पत्नी है। इसी प्रकार चूहा रुद्र का वाहन न होकर गणेश का वाहन है। ब्राह्मणकार अम्बिका को रुद्र की बहिन ही मानते हैं।[३] भाष्यकार महीधर की व्याख्यानुसार अम्बिका रुद्र की बहिन है, जब क्रूर रुद्र की किसी विरोधी को मारने की इच्छा होती है, तब वह अपनी क्रूर बहिन अम्बिका द्वारा उसे मरवाता है। अम्बिका शरद् ऋतु का रूप धारण करके उसका संहार कर देती है। रुद्र और अम्बिका को उनका भाग देने से उनकी क्रूरता शान्त हो जाती है। उन्हें अर्पित करने के बाद जो शेष हविर्भाग रहता है, उसे चूहे के बिल में डाल देना चाहिए।

पाद-टिप्पणियाँ

१. प्रजानामेव भूत्यर्थं स ताभ्यो बलिमग्रहीत्।
सहस्रगुणमुत्स्रष्टुमादत्ते हि रसं रविः॥ —रघुवंश

२. रुतं रोगदुःखादिकं द्रावयति अपगमयतीति रुद्रः (रुत्+द्रु गतौ)।

३. अम्बिका ह वै नामास्य स्वसा, तयास्यैष सह भागः। श० २.६.२.९

१९. त्र्यम्बक देव की उपासना

ऋषिः बन्धुः । देवता रुद्रः । छन्दः आर्षी विराट् पङ्क्तिः ।

अव रुद्रमदीमह्यव देवं त्र्यम्बकम् ।
यथा नो वस्यसस्करद्यथा नः श्रेयसस्करद्यथा नो व्यवसाययात् ॥

—यजु० ३।५८

हम (**रुद्रं**[१]) रुद्र परमेश्वर से (**अव अदीमहि**[२]) अपने दोषों और दुःखों का क्षय करवा लें, (**त्र्यम्बकं**[३] **देवं**) त्र्यम्बक देव से (**अव अदीमहि**) पापाचरणों का क्षय करवा लें, (**यथा**) जिससे, वह (**नः**) हमें (**वस्यसः**[४]) औरों से अच्छा नगरनिवासी (**करत्**) कर दे, (**यथा**) जिससे, वह (**नः**) हमें (**श्रेयसः**) प्रशस्ततर (**करत्**[५]) कर दे, (**यथा**) जिससे, वह (**नः**) हमें (**व्यवसाययात्**) व्यवसायी और निश्चयात्मक बुद्धिवाला कर दे।

आओ, रुद्र प्रभु से हम अपने दोष दूर करवा लें, त्र्यम्बक देव से अपने दोष दूर करवा लें। रुद्र परमेश्वर का नाम है, क्योंकि वह दुष्टों को दण्ड देकर रुलाता है।[६] यदि हम उसकी दण्ड-शक्ति का ध्यान रखेंगे, तो दुष्टता करना छोड़ देंगे। सत्योपदेश करने के कारण भी वह रुद्र कहलाता है।[७] उसके सत्योपदेश सुन कर भी हम दोषों को त्याग देंगे। त्र्यम्बक पौराणिक सम्प्रदाय में त्रिनेत्र होने के कारण महादेव को कहते हैं, कामदेव को भस्म करने के लिए उन्होंने एक नेत्र अपने मस्तक में निकाल लिया था। किन्तु महादेव परमेश्वर का तो अशरीरी होने से एक भी नेत्र नहीं है। वे तो बिना नेत्र के ही सबको देखते हैं।[८] यदि आलङ्कारिक दृष्टि से देखें तो त्रिनेत्र क्या, वे तो सहस्राक्ष हैं।[९] अतः सृष्टि, स्थिति, प्रलय तीनों को

गति देने के कारण मन, बुद्धि, आत्मा तीनों को उपदेश देने के कारण[१०] तथा तीनों कालों में एकरस ज्ञान रखने के कारण परमेश्वर त्र्यम्बक कहलाते हैं।[११] जब हम यह ध्यान करेंगे कि परमेश्वर इतना महान् है कि सृष्टि की उत्पत्ति, सृष्टि का धारण और यथासमय उसकी प्रलय भी वह अकेला ही करता है, तब हम सोचेंगे कि वह हमें दुष्टता का दण्ड भी दे सकता है, अतः हमारे दोष दूर हो जायेंगे। उसके उपदेश से भी हमारे मन, बुद्धि, आत्मा निर्दोष होंगे। उसका ज्ञान सब कालों में एकरस रहता है, यदि हम दोष करेंगे, तो उसे वह कभी भूलेगा नहीं और हमें दण्ड अवश्य देगा, यह विचार भी हमें निर्दोष बनाने में सहायक होगा। परमेश्वर देव है, दानी है, दीप्तिमान् है, दीप्ति देनेवाला है।[११] अतः वह हमें सद्‌गुणों का दान करेगा, हमें सद्‌गुणों से देदीप्यमान करेगा, इस विश्वास से भी हम निर्दोष हो सकेंगे। निर्दोष होने पर शक्तिमान् होकर हम प्रभु-कृपा से तथा पुरुषार्थ से आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक दुःखों को भी दूर कर सकेंगे।

जब तक हम दोषों, अपराधों एवं पापों में संलग्न रहेंगे, तब तक किसी राष्ट्र प्रदेश या नगर के स्थायी निवासियों की श्रेणी में भी हम नहीं आ सकते। त्र्यम्बक रुद्र के ध्यान से अपनी-अपनी अपराधवृत्तियों और पापवृत्तियों को नष्ट करवाकर ही हम स्वागतयोग्य प्रशस्त निवासी होने का प्रमाणपत्र पा सकते हैं। त्र्यम्बक रुद्र का पारसमणिसदृश सम्पर्क लोहे के तुल्य हमें सुवर्णसदृश, प्रशस्त तथा 'श्रेयान्' बना सकता है, रुद्र प्रभु के साथ सम्पर्क से पूर्व जो हमारी स्थिति और योग्यता थी, उसकी अपेक्षा हमें बहुत ऊँचा उठा सकता है। त्र्यम्बक रुद्र प्रभु हमें व्यवसायात्मिका बुद्धिवाले, असमञ्जस की स्थिति में तुरन्त सही निर्णय कर लेने में समर्थनिश्चयात्मक वृत्तिवाले और व्यवसायी भी बना सकते हैं, क्योंकि वे स्वयं इन गुणों से युक्त हैं। कौन मनुष्य किस कोटि के अपराध, दुष्कर्म या पाप का पात्र है और उसे क्या दण्ड मिलना चाहिए,

तथा कौन मनुष्य किन सुकर्मों का कर्ता है और उसे क्या सत्फल या पुरस्कार दिया जाना चाहिए इसका वे त्वरित निर्णय कर लेते हैं। हम भी उनसे शिक्षा लेकर किसी भी समस्या का त्वरित समाधान करनेवाले बनें।

पाद-टिप्पणियाँ

१. अदीमहि सर्वाणि दुःखानि क्षाययेम नाशयेम। दीङ् क्षये, लिङर्थे लङ्—द०।
२. ये ऽ तिशयेन वसन्ति ते वसीयांसः तान्, छान्दस ईकारलोपः—द०।
३. करत् कुर्यात्, लेट् लकार।
४. श्रेयसः अतिशयेन प्रशस्तान्—द०।
५. व्यवसाययात् निश्चयवतः कुर्यात्—द०। वि-अव-षो अन्तकर्मणि, णिच्, लेट्।
६. रुद्रं दुष्टानां रोदयितारं परमेश्वरम्—द०।
७. रुतः सत्योपदेशान् राति ददाति यः। —ऋ० १.११४.३—द०।
८. पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः।
९. सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः। —ऋ० १०.९०.१
१०. त्रीन् सृष्टिस्थितिप्रलयान् अम्बयति गमवति यः सः।
त्रीन् मनोबुद्ध्यात्मनः अम्बति उपदिशति यः सः।
११. अमति येन ज्ञानेन तदम्बं, त्रिषु कालेषु एकरसं ज्ञानं यस्य तम्—द०।

२०. पवित्रता की पुकार

ऋषिः प्रजापतिः। देवता परमात्मा। छन्दः निचृद् ब्राह्मी पङ्क्तिः।

चित्पतिर्मा पुनातु वाक्पतिर्मा पुनातु देवो मा सविता पुनात्वच्छिद्रेण पवित्रेण सूर्यस्य रश्मिभिः ।
तस्य ते पवित्रपते पवित्रपूतस्य यत्कामः पुने तच्छकेयम् ॥

—यजु० ४।४

(**चित्पतिः**[१]) विज्ञान का पालक परमात्मा (**मा पुनातु**) मुझे पवित्र करे। (**वाक्पतिः**) वाणी का पालक परमात्मा (**मा पुनातु**) मुझे पवित्र करे। (**सविता**[२] **देवः**) सन्मार्गप्रेरक परमात्मा (**मा पुनातु**) मुझे पवित्र करे (**अच्छिद्रेण पवित्रेण**) त्रुटिरहित पवित्र वेदमन्त्र से, और (**सूर्यस्य रश्मिभिः**) सूर्य की रश्मियों से। (**तस्य ते**) उस तेरे (**पवित्र**[३]**पूतस्य**) वेदमन्त्रों से पवित्र हुए मेरा (**पवित्रपते**) हे पवित्र कर्म के अधिपति जगदीश्वर [कल्याण हो]। (**यत्कामः**) जिस कामनावाला मैं (**पुने**) स्वयं को पवित्र करता हूँ (**तत्**) उस अपनी कामना को (**शकेयम्**) पूर्ण कर सकूँ।

मैंने पवित्रात्मा ऋषि, मुनि, संन्यासी प्रभुभक्तों के दर्शन किये हैं और उनकी पवित्रता से प्रभावित हुआ हूँ। उनके सम्पर्क में आने से ऐसा प्रतीत होता है कि पवित्रता की उज्ज्वल रश्मियाँ हमारे अन्दर भी प्रवेश कर रही हैं। जब प्रभु के भक्तों में यह पवित्र करने की शक्ति है, तब पवित्रता के स्रोत प्रभु के अन्दर तो इससे कोटिगुणा पवित्र करने की तथा अपवित्रता को छूमन्तर करने की असीम शक्ति विद्यमान होनी चाहिए। मैं पवित्रता की लालसा लिये हुए आज सविता परमेश्वर की शरण में आया हूँ। 'सविता' प्रेरणा का देव है, वह जिस गुण की तीव्र प्रेरणा मनुष्य के अन्दर कर देता है, वह गुण उसके जीवन का स्थायी अङ्ग बन जाता है। मन्त्र में

परमेश्वर को 'चित्पति' और 'वाक्पति' विशेषणों से भी स्मरण किया गया है। चित्पति है विज्ञान का अधिष्ठाता परमेश्वर। वह मेरे अन्दर विज्ञान की धारा बहा कर मुझे पवित्र करे। जब तक हमारा विज्ञान दूषित होता है, तब तक हमारे कर्म भी दूषित रहते हैं। इसलिए हम प्रार्थना करते हैं कि विज्ञान का अधिपति प्रभु हमें विज्ञान की पवित्र तरनतारिणी गङ्गा में स्नान करा कर पवित्र कर दे। वाक्पति है पवित्र वाणी का अधिपति परमेश्वर। अपवित्र, कटु और कलुष वाणी कलहों और युद्धों को जन्म देती है तथा पवित्र, मधुर और शान्त वाणी प्रीति और शान्ति को लाती है। अतः वाक्पति पवित्र प्रभु से हम प्रार्थना करते हैं कि वह हमें भी वाणी की उज्ज्वल पवित्रता प्रदान करे। चित्पति, वाक्पति सविता परमेश्वर हमें किस प्रकार पवित्र करेगा? वह पवित्र करेगा अच्छिद्र पवित्र वेदमन्त्रों से। वेद के अनेक प्रेरणाप्रद मन्त्र प्रस्तुत मन्त्र के समान पवित्रता का सन्देश दे रहे हैं। उनका अध्ययन और मनन-चिन्तन हमारे कालुष्य को धोकर हमें पवित्र कर सकता है। पवित्र होने का दूसरा साधन प्रस्तुत मन्त्र में बताया गया है सूर्य-रश्मियाँ। ये हमारी भौतिक मलिनता को दग्ध करके या धोकर हमें भौतिक रूप से सबल, नीरोग, प्राणवान् और पवित्र कर सकती हैं।

सविता प्रभु जैसे पवित्र विज्ञान और वाणी के पति हैं, वैसे ही पवित्र कर्म के भी अधिपति हैं। हे पवित्र कर्म के अधिपति! आपकी पवित्र कर्म-प्रेरणा से पवित्र हुए मेरा कल्याण हो। जिस कामना से आज मैं आपके सम्मुख पवित्रता की पुकार मचा रहा हूँ और अपने तन-मन-धन को पवित्र कर रहा हूँ, हे देव! वह मेरी कामना पूर्ण हो। पवित्रता के पुजारी को सुख, शान्ति, महत्त्व, सत्य, शिव, सौन्दर्य प्राप्त होता है, वह मुझे भी प्राप्त हो।

पाद-टिप्पणियाँ

१. (चित्पतिः) चेतयति येन विज्ञानेन तस्य पतिः पालयिता ऽधिष्ठाता ईश्वरः—द०।
२. सविता—यः सुवति प्रेरयति, सन्मार्गे सः। षू प्रेरणे तुदादिः।
३. मन्त्रः पवित्रमुच्यते। निरु० ५.३४

२१. त्याग-यज्ञ का ग्रहण

ऋषिः प्रजापतिः। देवता यज्ञः। छन्दः निचृद् आर्षी अनुष्टुप्।

स्वाहा॑ य॒ज्ञं मन॑सः॒ स्वाहो॒रोर॒न्तरि॑क्षा॒त् स्वाहा॒
द्यावा॑पृ॒थि॒वीभ्या॒ᳬस्वाहा॒ वाता॒दार॑भे॒ स्वाहा॑॥

—यजु० ४।६

(स्वाहा यज्ञम्) त्यागरूप यज्ञ को **(मनसः)** मन से, **(स्वाहा)** त्यागरूप यज्ञ को **(उरोः अन्तरिक्षात्)** विस्तीर्ण अन्तरिक्ष से, **(स्वाहा)** त्यागरूप यज्ञ को **(द्यावापृथिवीभ्यां)** द्यावापृथिवी से, **(स्वाहा)** त्यागरूप यज्ञ को **(वातात्)** वायु से **(आरभे)** ग्रहण करता हूँ। **(स्वाहा)** यह लो, मैं त्याग कर रहा हूँ।

कैसा सुरम्य शब्द है 'स्वाहा'! स्वाहा=सु+आ+हा। सु=सुन्दर प्रकार से, आ=आगम्य, आकर, हा=त्याग करना। 'स्वाहा' में प्रथम अक्षर 'सु' है, जिससे सूचित होता है कि त्याग या हविर्दान सौन्दर्य के साथ होना चाहिए। खीझते हुए, किसी के भय से, रोते-धोते त्याग करना त्याग नहीं कहलाता। 'स्वाहा' में अन्तिम अक्षर 'हा' है, जो त्यागार्थक हा (ओहाक्) धातु से लिया गया है, जिसका अर्थ है त्याग या हविर्दान। एवं श्रद्धापूर्वक प्रसन्नता के साथ स्वेच्छा से किया गया त्याग या हविर्दान ही 'स्वाहा' कहलाता है। 'स्वाहा' त्याग के लिए एक महाबरा ही बन गया है—'उसने देशहित के लिए अपने तन-मन-धन को स्वाहा कर दिया।' श्रद्धापूर्वक किया गया त्याग एक यज्ञ है। इस त्यागरूप यज्ञ का पाठ हम अनेक पदार्थों से पढ़ सकते हैं।

सर्वप्रथम अपने मन को देखें। मन सभी ज्ञानेन्द्रियों से

मिलनेवाले ज्ञान में जीवात्मा का सहायक होता है। यदि मन प्रवृत्त न हो, तो न आँख से दर्शन हो सकता है, न कान से श्रवण हो सकता है, न जिह्वा से स्वाद का ज्ञान हो सकता है, न नासिका से गन्ध का ग्रहण हो सकता है, न त्वचा से स्पर्श का अनुभव हो सकता है। मन प्रवृत्त न हो, तो मनुष्य कानों से सुनता हुआ भी वस्तुतः नहीं सुनता—'अन्यत्रमना अभूवं नाश्रौषम्।' जीवात्मा के सङ्कल्प-विकल्प में भी मन साधन बनता है। एवं मन की सारी क्रिया जीवात्मा के लिए होती है। इस प्रकार सर्वप्रथम मन से हम त्याग का पाठ पढ़ सकते हैं। फिर प्रकृति के विस्तीर्ण अन्तरिक्ष, द्यावापृथिवी और वायु से भी हम त्याग की शिक्षा ग्रहण कर सकते हैं। विस्तीर्ण अन्तरिक्ष बादल में जो जल का संग्रह करता है, वह अपने लिए नहीं, किन्तु धरा को सरस करने के लिए करता है। सूर्य जो अपने अन्दर तीव्र ताप और प्रकाश को संजोये हुए है, वह परार्थ त्याग करने के लिए ही है। पृथिवी जो नाना ओषधि-वनस्पतियों को, जल-स्रोतों को, सोना-चाँदी आदि की खानों को, सीपियों में मोतियों को धारण करती है, वह अपने लिए नहीं, किन्तु दूसरों के लिए ही करती है। इसी प्रकार वायु के अन्दर जो अमृत की निधि रखी हुई है, उसका वह भी परार्थ ही वितरण करता है। इन सबसे शिक्षा लेकर मैं भी अपने जीवन में 'स्वाहा' का व्रत ग्रहण करता हूँ। यह लो, आज से मैं अपने जीवन के तिल-तिल को परार्थ स्वाहा करूँगा।

२२. ऋक् और साम के शिल्प

ऋषयः अङ्गिरसः। देवता विद्वान्। छन्दः आर्षी पङ्क्तिः।

ऋक्सामयोः शिल्पे स्थस्ते वामारभे ते मा पातमास्य यज्ञस्योदृचः।
शर्मासि शर्म मे यच्छ नमस्तेऽअस्तु मा मा हिंसीः ॥

—यजु० ४।९

तुम **(ऋक्सामयोः)** ऋक् और साम के **(शिल्पे स्थः)** शिल्प हो। **(ते वाम्)** उन तुमको **(आरभे)** ग्रहण करता हूँ। **(ते)** वे तुम दोनों **(मा पातम्)** मेरा पालन-रक्षण करो **(आ अस्य यज्ञस्य उदृचः[१])** इस जीवन-यज्ञ की समाप्ति तक। हे विद्वन्! आप **(शर्म असि)** सुखदायक हैं, **(ते नमः अस्तु)** आपको नमन हो। **(मा मा हिंसीः)** मेरी हिंसा मत करना।

'ऋक्' शब्द स्तुत्यर्थक ऋच् धातु से निष्पन्न हुआ है। किसी भी जड़-चेतन पदार्थ का यथार्थ वर्णन स्तुति कहलाता है। इन पदार्थों में परमेश्वर से लेकर तृणपर्यन्त बड़े-छोड़े सभी पदार्थ आ जाते हैं। परमेश्वर की जब हम स्तुति करते हैं कि वह अमुक-अमुक गुणों से युक्त है, तब हमारा आशय होता है कि जहाँ तक सम्भव हो हम भी वैसे ही बनें। ऋक् यथार्थवर्णन की एक कला है। ऋग्वेद को यह नाम इसीलिए दिया गया है कि इस वेद में अग्नि, वायु, जल, सूर्य, ओषधियों आदि का तथा परमात्मा, जीवात्मा, मन, प्राण आदि का यथार्थ परिचय इस हेतु से दिया गया है कि हमें इनका यथार्थ ज्ञान हो और हम इनका ज्ञान पाकर इनसे यतोचित लाभ उठाएँ। ऋक् का यह शिल्प अज्ञानियों को ज्ञानी बनाता है, सोतों को जगाता है, अकर्मण्यों को कर्मण्य करता है, सङ्कल्पहीनों को सङ्कल्प कराता है, अनृत से सत्य की ओर ले जाता है, अशिव

को शिव में परिणत करता है, असुन्दर को सुन्दर बनाता है।

'साम' के शिल्प में ज्ञान-कर्म-उपासना की चित्रकारी है। साम के शिल्प में सङ्गीत है, समस्वरता है, शान्ति की धारा है। कैसे एक-एक, दो-दो, तीन-तीन ऋचाएँ मिल कर सङ्गीत में परिणत होती हैं, यह साम के शिल्प का क्षेत्र है। 'सा' और 'अम' से मिल कर साम बनता है। 'सा' से वाक् अभिप्रेत है और 'अम' से प्राण। वाणी जब प्राण के आरोह-अवरोह से सङ्गीत का रूप धारण कर लेती है, तब वह 'साम' कहलाता है। उणादि कोष में 'षो अन्तकर्मणि' धातु से मनिन्=मन् प्रत्यय करके साम की सिद्धि की गयी है। साम का शिल्प पाप-ताप आदि का अन्त करता है, इस कारण उसे साम कहते हैं। उणादि के एक वृत्तिकार श्वेतवनवासी ने 'षो' धातु को यहाँ गानार्थक माना है। ऋचा पर साम का गान होता है।[२]

हे ऋक् और साम के शिल्पो! मैं तुम्हें ग्रहण करता हूँ, अपने जीवन में उतारता हूँ। मेरे जीवनयज्ञ की समाप्ति तक तुम मेरी आघात-प्रतिघातों से रक्षा करते रहो। हे ऋक् और साम शिल्प के विद्वन्! आप 'शर्म' हैं, शान्ति के गृह हैं, शान्तिधाम हैं। हम आपको नमन करते हैं, ऋक् और साम के शिल्प की विद्या में हमें भी पारङ्गत करने की कृपा कीजिए। हमें शिष्यत्व में न लेकर हमारी हिंसा मत कीजिए, अपितु अपना अन्तेवासी बना कर और ऋक्-साम का शिल्प सिखा कर हमें कृतकृत्य कर दीजिए। आपको पुनः नमस्कार है।

पाद-टिप्पणियाँ

१. उत्तमा ऋग् उदृक्, तस्या उदृचः आ पर्यन्तम्। एतद्यज्ञससमाप्ति-पर्यन्तमित्यर्थः—म०।

२. ऋच्यध्यूढं साम गीयते।

२३. व्रत ग्रहण करो

ऋषयः अङ्गिरसः। देवता अग्निः। छन्दः क. स्वराड् ब्राह्मी अनुष्टुप्, र. आर्षी उष्णिक्।

[क]व्रतं कृणुताग्निर्ब्रह्माग्निर्यज्ञो वनस्पतिर्यज्ञियः। दैवीं धियं मनामहे सुमृडीकामभिष्टये वर्चोधां यज्ञवाहसं सुतीर्था नोऽ-असद्वशे। [र]ये देवा मनोजाता मनोयुजो दक्षक्रतवस्ते नोऽवन्तु ते नः पान्तु तेभ्यः स्वाहा॥ —यजु० ४। ११

हे मनुष्यो! (**व्रतं कृणुत**) व्रत ग्रहण करो। (**अग्निः ब्रह्म**) अग्रनायक होने से ब्रह्म का नाम अग्नि है[१], (**अग्निः यज्ञः**) वह अग्रणी ब्रह्म यज्ञरूप है, यज्ञमय है, वह (**वनस्पतिः**[२]) वनों, रश्मियों और जलों का पालयिता और (**यज्ञियः**) उपासना-यज्ञ के योग्य है। हम (**अभिष्टये**[३]) अभीष्ट प्राप्ति के लिए (**दैवीं**) दिव्यगुणसम्पन्न (**धियं**) बुद्धि की (**मनामहे**[४]) याचना करते हैं, (**सुमृडीकां**) जो अतिशय सुख देनेवाली हो, (**वर्चोधां**[५]) विद्या, दीप्ति और ब्रह्मवर्चस को धारण करानेवाली हो, (**यज्ञवाहसम्**[६]) और जो ईश्वरोपासनारूप, शिल्पविद्यारूप तथा अग्निहोत्ररूप यज्ञ की निर्वाहक हो। (**सुतीर्था**[७]) जिससे दुःखों से तारनेवाले वेदाध्ययन, धर्माचरण आदि शुभ कर्म प्राप्त होते हैं, ऐसी वह बुद्धि (**नः वशे असत्**) हमारे वश में होवे। (**ये देवाः**) जो विद्वान् लोग (**मनोजाताः**) मनन-चिन्तन में प्रख्यात, (**मनोयुजः**) मनोबल का प्रयोग करनेवाले, (**दक्षक्रतवः**[८]) शारीरिक तथा आत्मिक बल और प्रज्ञावाले हैं (**ते**) वे (**नः अवन्तु**) हमारी रक्षा करें, (**ते**) वे (**नः पान्तु**) हमारा पालन करें। (**तेभ्यः स्वाहा**) उनका हम सत्कार करते हैं।

मनुष्य को अपने जीवन में कोई व्रत ग्रहण करना होता है, कोई लक्ष्य निर्धारित करना होता है। उसी की पूर्ति में वह अहर्निश प्रयत्नशील रहता है। अतः वेद प्रेरणा कर रहा है कि हे मनुष्यो! तुम व्रत ग्रहण करो। व्रतपति के आदर्श रूप में परमेश्वररूप 'अग्नि' का उदाहरण दिया गया है। उसने अग्रनायक होने का, पथप्रदर्शन करने का, यज्ञमय होने का, वनों, सूर्यादि की रश्मियों एवं जल आदियों की रक्षा का व्रत लिया हुआ है, जिसमें वह कभी आलस्य नहीं करता। ऐसे ही हम भी सत्कर्मों का व्रत ग्रहण करें और उससे कभी डिगें नहीं। परन्तु व्रत धारण करने के लिए सद्बुद्धि की आवश्यकता है, अन्यथा हम ऐसे व्रत भी ग्रहण कर सकते हैं, जो अपने तथा दूसरों के लिए अहितकर हों। अतः हम दिव्यगुणयुक्त बुद्धि की प्रभु से याचना करते हैं। कैसी बुद्धि की? जो 'सुमृडीका' हो, अतिशय सुखदायिनी हो, 'वर्चोधा' हो, विद्या, दीप्ति और ब्रह्मवर्चस को धारण करानेवाली हो, 'यज्ञवाहस्' हो, ईश्वर की स्तुति-प्रार्थना-उपासनारूप यज्ञ, शिल्पविद्यारूप यज्ञ और होमरूप यज्ञ की निर्वाहक हो। वह बुद्धि 'सुतीर्था' भी होनी चाहिए, अर्थात् वेदाध्ययन, धर्माचरण, ब्रह्मचर्यपालन, तपस्या आदि शुभ कर्मों में प्रेरित करके दुःखों से तरानेवाली हो। बुद्धि प्राप्त करने के लिए हमें मनीषी विद्वानों की शरण में जाना होगा, जो विद्वान् मनन-चिन्तन में निष्णात, मनोबल का प्रयोग करनेवाले तथा दैहिक एवं आत्मिक बल के धनी और प्रज्ञावान् हों। वे हमारे ज्ञान और बुद्धि को प्रदीप्त करेंगे, हमारा पालन करेंगे, हमें अपनी रक्षा में लेंगे। हमारा कर्त्तव्य है कि हम तन-मन-धन से उनकी सेवा करें, उनका सत्कार करें।

आइये, हम भी व्रत ग्रहण करें, बुद्धिपूर्वक व्रत ग्रहण करें, उनका पालन करें, विद्वानों का सत्सङ्ग करें और उनके अनुभवों से लाभ उठायें।

पाद-टिप्पणियाँ

१. तदेवाग्निस्तदादित्यः। य० ३२.१

२. वनानाम् अरण्यानां रश्मीनां जलानां च पतिः पालयिता।
वन=रश्मि, जल, निघं० १.५, १.१२।

३. अभि+इष्टि=अभिष्टि। एमन्नादिषु छन्दसि पररूपं वाच्यम्, पा० ६.१.९४, वार्तिक।

४. मनामहे=याचामहे। निघं० ३.१९

५. (वर्चोधाम्) या वर्चो विद्यां दीप्तिं दधाति ताम्—द०।

६. (यज्ञवाहसम्) या यज्ञं परमेश्वरोपासनं शिल्पक्रियासिद्धं वा वहति प्रापयति ताम्—द०।

७. (सुतीर्था) शोभनानि तीर्थानि वेदाध्ययनधर्माचरणादीनि आचरितानि यया सा—द०।

८. (दक्षक्रतवः) दक्षाः शरीरात्मबलानि क्रतवः प्रज्ञाः कर्माणि वा येषां ते—द०। दक्ष=बल, निघं० २.९

२४. हे विद्वन्!

ऋषयः अङ्गिरसः। देवता अग्निः। छन्दः विराट् आर्षी अनुष्टुप्।

अग्ने त्वं सु जागृहि वयं सु मन्दिषीमहि।
रक्षा णोऽअप्रयुच्छन् प्रबुधे नः पुनस्कृधि॥

—यजु० ४।१४

(अग्ने) हे विद्वन्! **(त्वं)** आप **(सु जागृहि)** अच्छे प्रकार जागरूक रहें, **(वयं)** हम **(सु मन्दिषीमहि[१])** सम्यक् प्रकार आनन्दित रहें। **(रक्ष[२] नः)** रक्षा करते रहिए हमारी **(अप्रयुच्छन्[३])** बिना प्रमाद के। **(नः)** हमें **(पुनः)** फिर-फिर **(प्रबुधे[४] कृधि)** प्रबोध के लिए पात्र बनाते रहिए।

हे विद्वन्! आप अग्नि हैं, ज्ञान की ज्योति आपके अन्दर जल रही है, विविध विद्याओं की ज्वालाएँ आपके मानस में उठ रही हैं। आपसे हमारा निवेदन है कि जागरूक रहकर आप हमारे अन्दर भी ज्ञान-विज्ञानों की ऊँची-ऊँची ज्वालाएँ उठा कर हमें उद्भट विद्वान् बना दीजिए, जिससे हम भी विद्या के प्रसार करने का सौभाग्य प्राप्त कर सकें और अपने कर्त्तव्य का पालन कर प्रगाढ़ रूप से आनन्दित होते रहें। हे ज्ञानाग्नि के सूर्य! आप हमें अद्भुत विद्या की लपटों से प्रकाशित कर ऐसा पण्डित-प्रकाण्ड बना दीजिए कि किसी भी विषय पर ज्ञानचर्चा या शास्त्रार्थ होने पर हम किसी से पराजित न हो सकें, कोई पण्डितम्मन्य कहकर हमारा उपहास न कर सके, आपके शिष्य हम आपके पाण्डित्य की भी धाक रख सकें। ऐसा ज्ञानी बना कर निरन्तर आप हमारी रक्षा करते रहिए।

भगवन्! ज्ञान की कोई सीमा नहीं है, ज्ञानोदधि बहुत

विशाल है। हम कितने भी विद्वान् हो जायेंगे, तो भी हमारा ज्ञान समुद्र में बिन्दुवत् ही रहेगा। जब-जब हमें और अधिक ज्ञान ग्रहण करने की इच्छा हो, तब-तब आप हमें अपनी शरण में लेकर ज्ञानवर्षा से आह्लादित-पुलकित करते रहिए। पुनः-पुनः हमें प्रबोध देते रहिए, हमारी ज्ञानगङ्गा को ऐसा बना दीजिए कि वह सदा उफनती हुई प्रवाहित होती रहे तथा सत्पात्रों को अपनी ज्ञानधारा से तृप्त करती रहे और यदि कोई चट्टान बन कर उसके प्रवाह को रोकना चाहें, तो उन्हें चूर करती रहे।

हे विद्वद्वर! हम आपका अभिनन्दन करते हैं और प्रतिज्ञा करते हैं कि आपकी कीर्तिकौमुदी को कभी मलिन नहीं होने देंगे। गुरुदक्षिणा में आपने जो विद्याप्रचार की दक्षिणा का आदेश दिया है, उसका सदा पालन करते रहेंगे। आपका चरणस्पर्श कर और आपका आशीर्वाद लेकर आपसे विदा लेते हैं।

पाद-टिप्पणियाँ

१. मदि स्तुतिमोदमदस्वप्नकान्तिगतिषु, भ्वादिः। आशीर्लिङ्।
२. रक्षा=रक्ष। 'द्व्यचो ऽ तस्तिङः' पा० ६.३.१३२ से संहिता में दीर्घ।
३. प्र-युछ प्रमादे, भ्वादिः, शतृ, नञ्समास।
४. प्रबुधे कृधि=प्रबोधाय कुरु।

२५. पुनः हमें मन, आयु, प्राण आदि प्राप्त हों

ऋषयः अङ्गिरसः। देवता अग्निः। छन्दः भुरिग् ब्राह्मी बृहती।

पुनर्मनः पुनरायुर्मऽआगन्पुनः प्राणः पुनरात्मा मऽआगन्पुनश्चक्षुः पुनः श्रोत्रं मऽआगन्। वैश्वानरोऽअदब्धस्तनूपाऽअग्निर्नः पातु दुरितादवद्यात्॥ —यजु० ४।१५

(**पुनः मनः**) फिर मन, (**पुनः आयुः**) फिर आयु (**मे आगन्**[१]) मुझे प्राप्त हो। (**पुनः प्राणः**) फिर प्राण, (**पुनः आत्मा**) फिर आत्मा (**मे आगन्**) मुझे प्राप्त हो। (**पुनः चक्षुः**) फिर चक्षु, (**पुनः श्रोत्रम्**) पुनः कान (**मे आगन्**) मुझे प्राप्त हो। (**वैश्वानरः**[२]) सब नरों का हितकर्ता, (**अदब्धः**) अपराजित, (**तनूपाः**[३]) शरीर और आत्मा का रक्षक (**अग्निः**) अग्रनायक परमात्मा (**नः पातु**) हमें बचाये (**दुरिताद्**[४]) पापजन्य दुःख से तथा दुष्कर्म से और (**अवद्यात्**[५]) पापाचरण से तथा निन्दा से।

कोई समय था जब मेरे अन्दर मनोबल कूट-कूट कर भरा हुआ था, मेरी सङ्कल्प-शक्ति अदम्य थी। असम्भव से असम्भव प्रतीत होनेवाले कार्य हाथ में लेने में मुझे आनन्द आता था। गुरुजनों का आदेश होने पर मैं आकाश के तारे भी तोड़कर ला सकता था। मुझे आयु का बल भी प्राप्त था। पचास वर्ष का होने पर भी तीस वर्ष का युवक प्रतीत होता था। साथ ही पचास वर्ष का होने पर भी अनुभव में अस्सी वर्ष के वृद्ध को भी मात देता था। मेरे अन्दर प्राण-बल भी भरपूर था, जो शरीर के सब अङ्ग-प्रत्यङ्गों को निखारे हुए था। मेरा आत्मबल भी ऐसा था कि प्रत्येक मनुष्य मुझसे प्रभावित होता था। काम,

क्रोध आदि रिपु मेरे आत्मबल से कुचले जाने के भय से मुझसे दूर ही रहते थे। मेरी आँखें पवित्र थीं, दृष्टिशक्ति तीव्र थी। मेरे श्रोत्र पवित्र थे, श्रवणशक्ति तीव्र थी। शरीर की सब ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ सबल थीं।

परन्तु अब मुझे यह क्या हो गया है? मेरा मन सामान्य कार्यों में भी नहीं लगता है। आयु में साठ वर्ष का होने पर भी नव्वे वर्ष का जर्जर बूढ़ा लगता हूँ। प्राण, अपान आदि की शक्ति भी लुप्त हो गयी है, जिससे शरीर के अङ्गों में परस्पर सामञ्जस्य नहीं रहा है। आत्मबल से तो मानो खाली ही हो गया हूँ। आँखें मन्द हो गयी हैं, श्रोत्र शक्तिहीन हो गये हैं। ऐसी हीन अवस्था में जहाँ भी जाता हूँ, दुत्कारा जाता हूँ। सम्मान और प्रतिष्ठा मुझसे कोसों दूर चले गये हैं। दुरित ने मेरे अन्दर डेरा डाल लिया है, जिससे मैं सर्वत्र निन्दा का ही पात्र बन रहा हूँ।

ऐसी स्थिति में मैं चाहता हूँ कि पुनः मेरे अन्दर पहले जैसा मनोबल जागृत हो जाए, पुनः मुझे स्वस्थ आयु प्राप्त हो जाए, पुनः मेरे अन्दर प्राणसञ्चार हो जाए, पुनः मेरे अन्दर आत्मबल आ जाए, पुनः मुझे खोये हुए चक्षु, श्रोत्र आदि प्राप्त हो जाएँ। सब नरों का हितकर्ता, अपराजेय, शरीर और आत्मा का रक्षक अग्रणी परमेश्वर मेरे पाप-जन्य दुःखों और दुष्कर्मों का विध्वंस कर दे, जिससे मैं पापाचरण तथा गर्हणीय स्थिति से उद्धार पाकर पुनः पूर्व के समान, बल्कि उससे भी अधिक मनस्वी, आयुष्मान्, यशस्वी बनूँ।

पाद-टिप्पणियाँ

१. आ-अगन्, आङ्-गम्, लिङर्थ में लुङ्।
२. विश्वेषां नृणां हितः वैश्वानरः।
३. (तनूपाः) यः शरीरम् आत्मानं च रक्षति—द०।
४. (दुरितात्) पापजन्यात् प्राप्तव्याद् दुःखाद् दुष्कर्मणो वा—द०।
५. (अवद्यात्) पापाचरणात्—द०। अवद्य=निन्दनीय कर्म, पा० ३.१.१०१ से निपातित गर्ह्य अर्थ में।

२६. नारी के गुण-वर्णन

ऋषिः वत्सः। देवता नारी। छन्दः निचृद् ब्राह्मी पङ्क्तिः।

चिदसि मनासि धीरसि दक्षिणासि क्षत्रियासि यज्ञियास्यदितिरस्युभयतः शीर्ष्णी। सा नः सुप्राची सुप्रतीच्येधि मित्रस्त्वा पदि बध्नीतां पूषाऽध्वनस्पात्विन्द्रायाध्यक्षाय॥

—यजु० ४।१९

हे नारी! तू (**चिद्**[१] **असि**) चेतनावाली है, ज्ञानवती है। (**मना असि**) मननशीला है, मनस्विनी है (**धीः**[२] **असि**) बुद्धिमती है, ध्यान करनेवाली है। (**दक्षिणा असि**) बलवती है, त्यागमयी है। (**क्षत्रिया असि**) क्षत्रिया है। (**यज्ञिया असि**) यज्ञार्ह है, यज्ञ की अधिकारिणी है। (**अदितिः**[३] **असि**) अदीना है, अखण्डिता है। (**उभयतः शीर्ष्णी**) ज्ञान और कर्म दोनों ओर मस्तिष्क लगानेवाली है। (**सा**) वह तू (**नः**) हमारे लिए (**सुप्राची**[४]) सुन्दरता से आगे बढ़नेवाली और (**सुप्रतीची**[५]) सुन्दरता से पीछे हटनेवाली (**एधि**) हो। (**मित्रः**) तेरा वैवाहिक सप्तपदी विधि का सखा (**त्वा पदि बध्नीताम्**) तेरे साथ पैर से पैर मिलाये रखे। (**पूषा**) प्रकाशपोषक सूर्य (**अध्वनः पातु**) मार्ग से तेरी रक्षा करता रहे। (**इन्द्राय अध्यक्षाय**) सर्वाध्यक्ष जगदीश्वर के प्रति तू समर्पित रह।

इस मन्त्र में वैदिक नारी का उज्ज्वल यशोगान किया गया है। नर और नारी गृह-यज्ञ एवं समाज-यज्ञ रूप रथ के दो आवश्यक पहिये हैं, जिनके सशक्त और सर्वगुणसम्पन्न होने से ही वह रथ अविच्छिन्न गति से चल सकता है। नारी को जड़ वस्तु की तरह निष्क्रिय एवं उदासीन नहीं, प्रत्युत चेतनामयी, जागृतिसम्पन्न एवं ज्ञानवती होना चाहिए। वह मननशीला, मनस्विनी तथा शिवसङ्कल्पमयी हो। वह बुद्धि-वैभववाली तथा योग-ध्यान में मन लगानेवाली हो, वह शारीरिक एवं

आत्मिक बल से अनुप्राणित तथा त्यागमयी हो, अपरिग्रह का जीवन व्यतीत करनेवाली हो, दुःखी-दरिद्रों को अपनी सम्पत्ति का दान करनेवाली हो। वह गुण-कर्म-स्वभाव से क्षत्रिया है तो क्षात्रबल के कार्य करे, दुर्जन शत्रुओं से प्रजा की रक्षा करे। यदि क्षत्रिया नहीं है, ब्राह्मणी या वैश्य वर्ण की है, तो भी आत्मरक्षा तथा पररक्षा के लिए क्षात्रबल उसके अन्दर होना ही चाहिए। नारी धर्मशास्त्रों के अनुसार यज्ञार्ह है, यज्ञ करने-कराने की अधिकारिणी है। मध्यकाल में उससे वेदाध्ययन और यज्ञ का अधिकार छीन लिया गया, यह उसके प्रति अत्याचार ही था। आज उस अत्याचार का प्रतीकार हो रहा है। वह अदिति है, अदीना माता है, वह अखण्डनीया है, उसके अधिकारों का खण्डन नहीं, मण्डन होना चाहिए। वह 'उभयतः शीर्ष्णी' है, उसका सिर या मस्तिष्क ज्ञान और कर्म दोनों में लगता है। वह सुप्राची और सुप्रतीची है, उसका आगे बढ़ना भी सुन्दर होता है और पीछे हटना भी। उसका पीछे हटना भी आगे बढ़ने का ही एक पैतरा होता है। विवाह में सप्तपदी विधि में वर के पग के साथ पग मिला कर सात पग रख कर उससे सख्य स्थापित करती है। वह जब तक पति के साथ रहती है पग से पग मिला कर ही चलती रहती है। प्रकाशमय सूर्य और आत्म-सूर्य कण्टकाकीर्ण मार्ग में कण्टकों से उसकी रक्षा करता है। वह मार्ग की विघ्न-बाधाओं को पार करती हुई लक्ष्य पर पहुँच कर ही रहती है। सर्वाध्यक्ष जगदीश्वर को वह आत्म-सर्म्पण करके उसकी प्रेरणा के अनुसार ही जीवन व्यतीत करती है। हे नारी! हम तेरे सद्गुणों को स्मरण करते हुए तुझे सम्मान देते हैं, तेरी पूजा करते हैं।

पाद-टिप्पणियाँ

१. चित्, चिती संज्ञाने। चेततीति चित्।
२. धीः बुद्धिमती, मतुप्-लुक्। अथवा ध्यै चित्तायाम् ध्यायतीति धीः।
३. अदितिः अदीना देवमाता। निरु० ४.४९। दो अवखण्डने, न दितिः अदितिः अखण्डिता।
४. सुष्ठु प्रकर्षेण अञ्चति अग्रे गच्छतीति सुप्राची।
५. सुष्ठु प्रकर्षेण प्रत्यञ्चति प्रतिगच्छतीति सुप्रतीची।

२७. न तू मेरी हिंसा कर, न मैं तेरी हिंसा करूँ

ऋषिः वत्सः । देवता दम्पती । छन्दः आस्तारपङ्क्तिः ।

समख्ये देव्या धिया सं दक्षिणयोरुचक्षसा ।
मा मऽआयुः प्रमोषीर्मोऽअहं तव वीरं विदेय तव देवि सन्दृशि ॥

—यजु० ४ । २३

हे पत्नी! मैं (**देव्या[1] धिया**) देदीप्यमान बुद्धि के साथ (**समख्ये[2]**) कह रहा हूँ, (**उरुचक्षसा[3]**) विशाल दृष्टिवाली (**दक्षिणया**) बलवती इच्छा के साथ (**सम् अख्ये**) कह रहा हूँ कि (**मा मे आयुः प्रमोषीः[4]**) न तू मेरी आयु की हिंसा कर (**मो अहं तव**) न मैं तेरी आयु की हिंसा करूँ। (**देवि**) हे देवी! (**तव संदृशि**) तेरे संदर्शन में, मार्गदर्शन में मैं (**वीरं विदेय[5]**) वीर सन्तान को प्राप्त करूँ।

वेदादि शास्त्रों ने और सन्त-महात्माओं ने ब्रह्मचर्य की बहुत महिमा वर्णित की है। अथर्ववेद के ब्रह्मचर्यसूक्त में कहा है कि 'ब्रह्मचर्य के ही तप से राजा राष्ट्र की रक्षा करता है। आचार्य स्वयं ब्रह्मचर्य का ही पालन करके शिक्षा देने के लिए ब्रह्मचारी को चाहता है। ब्रह्मचर्य का पालन करने के पश्चात् ही कन्या युवा पति को प्राप्त करती है। ब्रह्मचर्य के ही तप से विद्वान् लोग मृत्यु को दूर भगाते हैं।' चार आश्रमों में से ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ और संन्यास इन तीन आश्रमों में पूर्णतः ब्रह्मचर्य का पालन आवश्यक है। केवल गृहस्थ आश्रम में कुछ मर्यादाओं के साथ ब्रह्मचर्यव्रत-भङ्ग की छूट है। इसका मुख्य उद्देश्य राष्ट्र को उत्कृष्ट सन्तान प्रदान करना है। राष्ट्र के उत्कृष्ट ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य ब्रह्मचारिणी रही हुई अपनी पत्नियों से जो पुत्र-पुत्रियाँ उत्पन्न करते हैं, वे राष्ट्र की अमूल्य

सम्पदा होती हैं। कोई भी राष्ट्र अपने अपरा और परा विद्याओं के धार्मिक विद्वानों, रक्षक क्षत्रियों और धनी वैश्यों पर गर्व कर सकता है। कोई दम्पती अध्यात्मवेत्ता हैं, कोई दार्शनिक हैं, कोई भूगर्भशास्त्री हैं, कोई खगोलवित् हैं, कोई वैज्ञानिक हैं, कोई रणचातुरी में दक्ष हैं, कोई व्यापारकला में निष्णात हैं, कोई कृषिकर्म के भूषण हैं, कोई पशुपालन में सिद्धि प्राप्त हैं, सबकी राष्ट्र को आवश्यकता होती है। और इनसे प्राप्त होनेवाली प्रत्येक क्षेत्र की गुणवती सन्तति की भी प्रत्येक देश को उत्कट चाह होती है। इस चाह को पूरा करता है गृहस्थाश्रम। परन्तु अति विषयासक्ति, अति भोगविलास नर और नारी दोनों की ही बर्बादी, हिंसा और विनाश का कारण बनता है। जीवन-भर वे रोग और अशक्ति के शिकार रहते हैं। अब्रह्मचर्य के ही कारण वे जीवित होते हुए भी मृततुल्य होते हैं। इसीलिए मन्त्र में पुरुष पत्नी को कह रहा है कि गृहाश्रम में रहते हुए न तू मेरी आयु की हिंसा कर, न मैं तेरी आयु की हिंसा करूँ। हम अति भोगविलास में पड़कर अपनी आयु को ही क्षीण न कर बैठें। पति पत्नी का मार्गदर्शन प्राप्त करे और पत्नी पति का मार्गदर्शन प्राप्त करे। दोनों मिलकर संयम से रहते हुए, गृहस्थाश्रम के नियमों का पालन करते हुए, प्रेम-भरे मधुर व्यवहार से एक-दूसरे की आयु बढ़ाते हुए वीर पुत्र और वीरङ्गना पुत्री को जन्म दें, जिनसे उनका घर भी महके और राष्ट्र भी सौरभ-सम्पन्न हो।

पाद-टिप्पणियाँ

१. (देव्या) देदीप्यमानया (धिया) प्रज्ञया कर्मणा वा—द०।
२. (सम्) सम्यगर्थे (अख्ये) प्रकथयानि। अत्र व्यत्ययेनात्मनेपदं लडर्थे लुङ् च—द०। ख्या प्रकथने, अदादिः।
३. उरु विशालं दीर्घं चक्षः दृष्टिः यस्यां तया दक्षिणया बलवत्या इच्छाशक्त्या।
४. प्र-मुष स्तेये। स्तेय से यहाँ खण्डन, हिंसा अभिप्रेत है।
५. विदेय=विन्देय। विदलृ लाभे। 'अत्र वा छन्दसि सर्वे विधयो भवन्तीति नुमभावः—द०।'

२८. कैसे मार्ग पर पग बढ़ायें?

ऋषिः वत्सः। देवता अग्निः। छन्दः निचृद् आर्षी अनुष्टुप्।

प्रति पन्थामपद्महि स्वस्तिगामनेहसम्।
येन विश्वाः परि द्विषो वृणक्ति विन्दते वसु॥

—यजु० ४।२९

हे अग्नि! हे अग्रनायक जगदीश्वर! हम (**स्वस्तिगाम्**[१]) कल्याण प्राप्त करानेवाले, (**अनेहसम्**[२]) निष्पाप (**पन्थां प्रति**) मार्ग पर (**अपद्महि**[३]) चलें, (**येन**) जिससे, मनुष्य (**विश्वाः द्विषः**) सब द्वेषों या द्वेषियों को (**परिवृणक्ति**[४]) दूर कर देता है और (**विन्दते**[५]) पा लेता है (**वसु**) ऐश्वर्य।

हम जीवन में न जाने कैसे-कैसे मार्गों पर चलते रहते हैं। कभी हम ऐसे बीहड़ मार्ग पर चल पड़ते हैं, जो एक तो बहुत ही कण्टकाकीर्ण होता है, दूसरे जिसके विषय में यही नहीं पता चलता कि यह हमें ले कहाँ जायेगा। कभी हम ऐसा मार्ग चुन लेते हैं, जो होता तो बहुत आकर्षक है, पर जिसका अन्त होता है खाई-खड्डे में। आओ, हमें किस मार्ग से चलना चाहिए यह हम 'अग्नि' नामवाले उस प्रभु से ही क्यों न पूछें, जो सदा हमारा अग्रनायक बनता है। प्रभु हमें सन्देश दे रहे हैं कि हम ऐसे मार्ग पर चलें, जो 'स्वस्तिगाः' हो तथा जो 'अनेहाः' भी हो। 'स्वस्तिगाः' का अर्थ है कल्याण की ओर ले जानेवाला या निर्धारित मञ्जिल पर पहुँचानेवाला। एक बार हम छोटे विद्यार्थी पैदल पहाड़ी यात्रा पर थे। हममें से कुछ सीधे सड़क पर चलते जा रहे थे। यह नहीं मालूम था कि पाँच मील आगे यह सड़क बीच में टूटी हुई है, जिससे आगे नहीं जाया जा सकता। हमें एक पहाड़ी ने बताया कि इस सड़क को छोड़कर मेरे पीछे-पीछे चढ़ाई पर चढ़ते आओ।

हम उसके पीछे-पीछे हो लिये। चढ़ाई के बाद उतराई थी और उसके समीप ही डाक-बङ्गला था, जहाँ रुक कर हमें रात्रि व्यतीत करनी थी। सड़क से जानेवाले विद्यार्थी बहुत आगे पहुँच चुके थे। वे पाँच मील जाकर फिर वापिस पाँच मील लौट कर आये और फिर उन्होंने वही रास्ता पकड़ा, जिससे हम गये थे। दस मील का उन्हें व्यर्थ ही चक्कर पड़ गया। सड़कवाला रास्ता उनके लिए 'स्वस्तिगाः' सिद्ध नहीं हुआ। यह तो भौतिक मार्ग का दृष्टान्त है। परन्तु जीवन में धर्ममार्ग ही स्वस्ति प्राप्त करानेवाला मार्ग होता है। मार्ग 'अनेहाः' अर्थात् निष्पाप भी होना चाहिए। कभी-कभी ऐसा लगता है कि हमने पाप-मार्ग से चलकर भी स्वस्ति या कल्याण को पा लिया है, परन्तु वस्तुतः वह कल्याण नहीं होता, उसके पीछे विनाश छिपा होता है। जब मनुष्य निष्पाप मार्ग से चलता है, तब उसका किसी के प्रति द्वेष नहीं रहता। परिणामतः उसके कोई द्वेषी भी नहीं होते, प्रत्युत उसके सहायक या मित्र ही अधिक होते हैं। उनकी सहायता से वह जीवन में 'वसु' या ऐश्वर्य पा लेता है। इस प्रकार भौतिक एवं आध्यात्मिक ऐश्वर्यों को प्राप्त करने का उपाय है सन्मार्ग से अर्थात् निष्पाप धर्ममार्ग से चलना। अतः आओ, हम सभी मिलकर कल्याणप्रापक निष्पाप धर्ममार्ग पर चलते हुए, द्वेषों का परित्याग कर, सबके प्रति प्रेमभाव रख कर आगे बढ़ें और सांसारिक ऐश्वर्यों के साथ अहिंसा, सत्य, न्याय, भूतदया आदि नैतिक ऐश्वर्यों को भी प्राप्त करें।

पाद-टिप्पणियाँ

१. स्वस्ति सुखं गच्छति येन तम्—द०।
२. अविद्यामानानि एहांसि हननानि यस्मिंस्तम्—द०।
३. पद गतौ, दिवादिः। श्यन् के स्थान पर शप् तथा उसका लोप होने पर लङ् लकार का रूप।
४. वृजी वर्जने, रुधादिः।
५. विद्लृ लाभे, तुदादिः।

२९. देखो, वरुण प्रभु का चमत्कार

ऋषिः वत्सः। देवता वरुणः। छन्दः विराड् आर्षी त्रिष्टुप्।

वनेषु व्यन्तरिक्षं ततान वाजमर्वत्सु पयऽउस्रियासु।
हृत्सु क्रतुं वरुणो विक्ष्वग्निं दिवि सूर्यमदधात् सोममद्रौ॥

—यजु० ४।३१

(**वरुणः**) वरुण प्रभु ने (**वनेषु**) वन-वृक्षों के ऊपर (**अन्तरिक्षम्**) अन्तरिक्ष को, (**अर्वत्सु**) घोड़ों में (**वाजं**) बल और वेग को, और (**अस्त्रियासु**[1]) गायों में (**पयः**) दूध को (**वि ततान**[2]) विस्तीर्ण किया है। उसी ने (**हृत्सु**) हृदयों में (**क्रतुं**) कर्म को, (**विक्षु**) प्रजाओं में (**अग्निं**) अग्नि को, (**दिवि**) द्युलोक में (**सूर्यं**) सूर्य को, और (**अद्रौ**) पर्वत पर (**सोमं**) सोमादि ओषधियों को (**अदधात्**) धरा है।

वरुण प्रभु की कारीगरी के चमत्कार जड़ जगत् और चेतन जगत् सर्वत्र आश्चर्य उत्पन्न करनेवाले हैं। दूर से जङ्गलों की ओर निहारो, तो ऐसा लगता है कि हरे पत्तों, रङ्ग-बिरङ्गे पुष्पों और फलों से सजाये हुए वृक्षरूप खम्भों पर हल्के नीले गगन का शामियाना तना हुआ है। यह शामियाना किसने ताना है? वरुण प्रभु की ही यह लीला है। और देखो, आग के जलते हुए गोले रूप सूर्य को बिना डोर के द्युलोक में किसने लटकाया है? यही सूर्य है, जो हमारी पृथिवी को और मंगल, बुध आदि अन्य ग्रहों तथा उपग्रहों को प्रकाश, ताप एवं प्राण प्रदान कर रहा है तथा सबको अपनी-अपनी कक्षा में स्थित रख कर अपनी परिक्रमा करवा रहा है, मानो पिता अङ्गुलि पकड़ कर बच्चों को अपने चारों ओर घुमा रहा हो। और भी देखो, पर्वतों पर अनेक प्रकार की सोम आदि ओषधियों को उत्पन्न करनेवाला कौन है? ये ओषधियाँ अनेक गुण-धर्मों को अपने अन्दर रखनेवाली हैं तथा सोम इन ओषधियों का राजा है। इस सोम ओषधि का आकाशीय सोम चन्द्रमा के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है तथा इसकी घटती-बढ़ती चन्द्रकलाओं की

घटती-बढ़ती के अनुसार होती है। इस सोम ओषधि के अनेक भेद होते हैं, जिनके रस में अद्वितीय वीरता, मेधा आदि पैदा करने की अपूर्व क्षमता होती है। यह चमत्कार भी वरुणदेव का ही किया हुआ है।

यह सब तो जड़ जगत् में दीखनेवाली हस्तकला का नमूना है। अब चेतन जगत् की ओर भी दृष्टि डालो। पशुओं में घोड़े बल और वेग के प्रतीक माने जाते हैं तथा किसी यन्त्र की बल की इकाइयाँ मापने के लिए यह कहा जाता है कि इसमें इतने घोड़ों के बल के बराबर शक्ति है। सरपट, दुलकी आदि विभिन्न चालों से चलते हुए, बोझे से भरे शकट को खींचते हुए तथा युद्ध में अनुपम वीरता दिखाते हुए घोड़े किसके मन को मुग्ध नहीं कर लेते? घोड़ों में यह अद्भुत बल और वेग किसने भरा है? वरुण प्रभु की ही यह करामात है। और, तरह-तरह की जातिवाली, माता कही जानेवाली गायों के पयोधरों में अमृतोपम दूध कौन भरता है? यह भी वरुणदेव की ही कारीगरी है। प्राणियों के हृदयों की ओर भी दृष्टिपात करो। ये हृदय शरीर के सारे अशुद्ध रक्त को शिराओं द्वारा खींच कर उसे शुद्ध करने के लिए फेफड़ों में भेजते हैं तथा उस शुद्ध हुए रक्त को संगृहीत करके फिर धमनियों द्वारा सारे शरीर में पहुँचाते हैं। शरीर में हृदय के इस अद्भुत कर्म को करनेवाला कौन है? यह भी वरुण प्रभु की ही देन है। विभिन्न राष्ट्रों की प्रजाओं को भी देखो। इनके अन्दर धधकती हुई राष्ट्रप्रेम, दृढ़ प्रतिज्ञा, वीरता, बलिदान-भावना आदि की अग्नि को कौन जगाता है? वरुणदेव ही प्रजाओं में इन विभिन्न अग्नियों को प्रज्वलित करते हैं। 'वरुण' राजाधिराज परमेश्वर का ही एक नाम है[३]। आओ, वरुण के इन चमत्कारपूर्ण उपकारों के प्रति हम अपनी कृतज्ञता दर्शाते हुए उसके प्रति नतमस्तक हों।

पाद-टिप्पणियाँ

१. अस्त्रिया=गौ। निघं. २.११
२. तनु विस्तारे, स्वादिः। लिट् लकार।
३. वृञ् वरणे, वर ईप्सायाम् इन धातुओं से उणादि उनन् प्रत्यय होने से वरुण शब्द सिद्ध होता है। ''यः सर्वान् शिष्टान् मुमुक्षून् धर्मात्मनो वृणोति, अथवा यः शिष्टैर्मुमुक्षुभिर्धर्मात्मभिर्व्रियते वर्य्यते वा स वरुणः परमेश्वरः।'' स०प्र०, समु० १

३०. अग्नियज्ञ, शिक्षायज्ञ और गृहयज्ञ

ऋषिः गोतमः । देवता यज्ञः । छन्दः आर्षी पङ्क्तिः ।

भवतं नः समनसौ सचेतसावरेपसौ ।
मा यज्ञꣳहिꣳसिष्टं मा यज्ञपतिं जातवेदसौ शिवौ भवतमद्य नः ॥

—यजु० ५ । ३

हे यजमान-पुरोहित, गुरु-शिष्य तथा गृहस्थ पति-पत्नी! तुम (**नः**) हमारे लिए (**समनसौ**) मन से युक्त अर्थात् सावधान, (**सचेतसौ**[1]) सज्ञान और (**अरेपसौ**[2]) निर्दोष (**भवतं**) होवो। (**मा यज्ञं हिंसिष्टम्**) न यज्ञ की हिंसा करो (**मा यज्ञपतिं**) न यज्ञपति की। हे (**जातवेदसौ**[3]) युगल वेदज्ञो! आप (**अद्य**) आज (**नः**) हमारे लिए (**शिवौ भवतं**) शिव होवो।

यजमान एवं पुरोहित, गुरु एवं शिष्य तथा पति एवं पत्नी अग्निहोत्र-यज्ञ, शिक्षा-यज्ञ और गृहस्थ-यज्ञ को चलाते हैं। प्रथम हम अग्निहोत्र-यज्ञ को लेते हैं। यज्ञकर्ता लोग यजमान और पुरोहित को सम्बोधन करके कह रहे हैं। तुम दोनों समनस् अर्थात् मन से सावधान रहो। यदि यजमान और पुरोहित का ध्यान यज्ञ में नहीं लग रहा है, तो यज्ञ से होनेवाले लाभों से वे प्रायः वञ्चित ही रहते हैं, क्योंकि यज्ञ के विधि-विधानों के साथ जो भावनाएँ निहित हैं, न उन्हें वे मन में लाते हैं, न मन्त्रार्थ का विचार करते हैं, न परमेश्वर का चिन्तन करते हैं, न अग्नि के तेजस्विता, ऊर्ध्वगमन आदि गुणों को ग्रहण करने का प्रयास, करते हैं। फिर उन्हें 'सचेतस्' अर्थात् सज्ञान, 'जातवेदस्' अर्थात् वेदज्ञ और 'अरेपस्' अर्थात् निर्दोष और निष्पाप होने की भी प्रेरणा की गयी है। यदि वे सज्ञान

एवं वेदज्ञ नहीं हैं तो मन्त्रार्थ, यज्ञ के लाभ आदि से अपरिचित होने के कारण यज्ञ को सफल नहीं बना सकते। यदि निर्दोष नहीं हैं, तो यज्ञ में भयङ्कर भूलें करते हुए वे यज्ञ को पूर्णता की ओर नहीं ले जा सकते। इसके विपरीत यदि यजमान और पुरोहित सावधान, सज्ञान, वेदवेत्ता और निर्दोष हैं तो न उनका यज्ञ हिंसित होगा, न यज्ञपति आत्मा हिंसित होगा, अपितु वे यज्ञ में उपस्थित सभी जनों के लिए मङ्गलकारी सिद्ध होंगे।

अब लीजिए शिक्षा-यज्ञ को। शिक्षा-यज्ञ पूर्ण होता है गुरु एवं शिष्यों से। इन्हें भी यज्ञ की पूर्णता के लिए सावधान, सज्ञान, वेदवित् और निर्दोष होना आवश्यक है। यदि वे इन गुणों से युक्त रहते हैं, तो न यज्ञ हिंसित या विघ्नित होगा, न यज्ञपति अर्थात् शिक्षा-यज्ञ के सञ्चालन कुलपति का अपयश होगा, प्रत्युत समस्त गुरुकुलवासी शिक्षायज्ञ के सफल होने से सुप्रसन्न तथा मङ्गलभाजन होंगे।

अब आते हैं तीसरे गृहस्थ-यज्ञ पर। गृहस्थ-यज्ञ के सम्पादक हैं पति-पत्नी। वे भी गृहस्थ-यज्ञ का निर्वाह करते हुए यदि सावधान, सज्ञान, वेदोक्त गृहशास्त्र के ज्ञाता तथा निर्दोष नहीं हैं, तो इस यज्ञ को सम्यक् प्रकार वे सिद्ध नहीं कर सकते। यदि वे इन गुणों से समन्वित रहते हैं, तो यज्ञ को भी सफल करते हैं तथा घर में सबसे बड़ा जो गृहपति है, उसे भी प्रसन्न रखते हैं और सब गृहवासियों के लिए भी सुखद होते हैं।

आओ, हम भी यदि इन तीनों यज्ञों के कर्ता हैं, तो इन्हें सुरुचिपूर्वक करते हुए यश के भागी बनें।

पाद-टिप्पणियाँ

१. चेतसा विज्ञानेन सहितौ सचेतसौ।

२. न विद्यते रेपः पापं दोषो वा ययोस्तौ।

३. जातं वेदः वेदज्ञानं ययोस्तौ।

३१. अग्नि में एक और अग्नि प्रविष्ट है

ऋषिः गोतमः। देवता अग्निः। छन्दः आर्षी त्रिष्टुप्।

अग्नावग्निश्चरति प्रविष्टऽऋषीणां पुत्रोऽअभिशस्तिपावा।
स नः स्योनः सुयजा यजेह देवेभ्यो हव्यꣳसदमप्रयुच्छन्त्स्वाहा॥

—यजु० ५।४

(**अग्नौ**) यज्ञाग्नि में (**अग्निः**) परमात्माग्नि (**प्रविष्टः**) प्रविष्ट हुआ (**चरति**) विचरता है। यज्ञाग्नि (**ऋषीणां पुत्रः**) ऋषियों का पुत्र है, (**अभिशस्तिपावा**) निन्दाओं और शत्रुओं से बचानेवाला है। हे यजमान! (**नः स्योनः**) हमारे लिए सुखकारी (**सः**) वह प्रसिद्ध तू (**सुयजा**) सुयज्ञ से (**इह**) यहाँ (**सदं**) सदा (**देवेभ्यः**) वायु, जल आदि दिव्य पदार्थों को सुगन्धित करने के लिए अथवा विद्वानों के हितार्थ (**अप्रयुच्छन्**) बिना प्रमाद किये (**स्वाहा**) स्वाहापूर्वक अग्नि में (**हव्यं यज**) हव्य का दान किया कर।

हे यजमान! क्या यज्ञकुण्ड में ज्वालाओं से ऊर्ध्वगामिनी होती हुई यज्ञाग्नि के अन्दर एक और अग्नि मुस्कराता हुआ नहीं दीखता? ध्यान से देख, इस भौतिक अग्नि के अन्दर एक अभौतिक दिव्य अग्नि तेजस्वी परमेश्वर बैठा हुआ है, वही इसे आभा, ज्योति और प्रकाश दे रहा है। यज्ञाग्नि की ज्वालाओं में उस दिव्य अग्नि के दर्शन कर लेगा, तो यज्ञ का दुहरा लाभ तुझे प्राप्त हो सकेगा। एक तो पर्यावरणशुद्धि का, दूसरा परमेश के दर्शन का। यज्ञकुण्ड में प्रदीप्त यज्ञाग्नि का परिचय भी जान ले। यह ऋषियों का पुत्र है, महाव्रती ऋषि-मुनि प्रतिदिन सायं-प्रातः अरणिमन्थन द्वारा इसे यज्ञकुण्ड में उत्पन्न करते रहे हैं। यह निन्दाओं से और काम, क्रोध, रोग आदि शत्रुओं से

बचानेवाला है। घृत एवं अन्य शुद्ध सुगन्धप्रद रोगहर हव्यों की आहुति से बढ़ती हुई निष्कलङ्क ज्योति को देख कर यजमान के मन में भी यह भाव आता है कि मैं अपने जीवन को उज्ज्वल और ज्योतिष्मान् करूँ, निन्दनीय कर्मों को छोड़कर सत्कर्म करूँ, काम-क्रोध-अविद्या आदि आन्तरिक तथा दुर्गन्ध-रोग आदि बाह्य शत्रुओं को नष्ट करूँ, जिससे मेरी निन्दा न होकर सर्वत्र प्रशंसा हो। यज्ञ द्वारा यजमान जो जल, वायु, वृक्ष-वनस्पति आदि की शुद्धि करता है, उससे भी वह प्रशंसाभाजन बनता है।

मन्त्र प्रेरणा कर रहा है कि हे यजमान! तू शुभ यज्ञ द्वारा सदा बिना प्रमाद के सायं-प्रातः सुगन्धि, मिष्ट, पुष्टिप्रद, रोगहर हव्यों की स्वाहापूर्वक आहुति देकर वातावरण को शुद्ध करता रह। यह 'स्वाहा' शब्द हविर्द्रव्यों की अग्नि में आहुति के अतिरिक्त अन्य द्रव्यों की सत्पात्रों में दान करने की भावना को भी जगाता है। 'सु-आ-हा' का अर्थ है सुन्दरता के साथ चारों ओर त्याग करना।

आओ, हम भी अग्नि आदि प्राकृतिक पदार्थों के अन्दर प्रभुसत्ता की झाँकी लें, हम भी अग्निहोत्र के व्रती बनकर प्रशंसाभाजन हों।

३२. द्यावापृथिवी का धारण

ऋषिः वसिष्ठः । देवता विष्णुः । छन्दः स्वराड् आर्षी त्रिष्टुप् ।

इरावती धेनुमती हि भूतꣳसूयवसिनी मनवे दशस्या ।
व्यस्कभ्ना रोदसी विष्णवेते दाधर्थ पृथिवीमभितो मयूखैः स्वाहा ॥

—यजु० ५ । १६

हे द्यावापृथिवी! तुम (**इरावती**[1]) अन्न आदि खाद्य सामग्रीवाले, (**धेनुमती**) गौओंवाले, (**सूयवसिनी**) उत्तम घास-चारे आदि से युक्त, तथा (**मनवे**) मनुष्य के लिए (**दशस्या**[2]) आवश्यक वस्तुओं का दान करनेवाले (**हि**) निश्चय से (**भूतम्**) हो गये हो। (**व्यस्कभ्नाः**[3]) थामा हुआ है (**विष्णो**) हे विष्णु! तूने (**एते रोदसी**) इन द्यावापृथिवी को (**दाधर्थ**) धारण किया हुआ है (**पृथिवीं**) पृथिवी को, (**अभितः**) चारों ओर से (**मयूखैः**) किरणों द्वारा। (**स्वाहा**) उस विष्णु की हम स्तुति, प्रार्थना, उपासना करते हैं।

'रोदसी' द्यावापृथिवी को कहते हैं।[4] समाज में द्यावापृथिवी का अर्थ पिता-माता[5] होता है। मन्त्र कह रहा है कि हे पिता-माता! तुम 'इरावती' अन्न-जलवाले, 'धेनुमती' गौओंवाले और 'सूयवसिनी' उत्तम घास-चारे से युक्त हो गये हो। ये परिगणित पदार्थ उपलक्षण हैं। तात्पर्य यह है कि तुम्हारे पास जीवनोपयोगी सब सामग्री विद्यमान है। अन्न, जल, वायु, सूर्यप्रकाश आदि हैं, गौएँ हैं, उन्हें खिलाने के लिए घास-दाना-चारा है। गौओं से दूध-घी-तक्र आदि मिलता है। तुम सत्पात्र मनुष्यों को दान भी करते हो। मनुष्यों की सेवा के लिए अतिथि-यज्ञ करते हो, पशु-पक्षियों, चींटियों आदि के लिए वलिवैश्वदेव यज्ञ करते हो और उपयोगी संस्थाओं को आर्थिक सहायता भी देते हो।

जैसे समाज में द्यावापृथिवी पिता-माता हैं, ऐसे ही

अधिदैवत में द्यावापृथिवी द्युलोक और पृथिवीलोक हैं। समाज के द्यावापृथिवी को थामने, सहारा देने और रक्षित करनेवाला विष्णु राष्ट्र का राजा होता है। ऐसे ही अधिदैवत में द्युलोक और पृथिवीलोक को थामने और रक्षित करनेवाला विष्णु सर्वव्यापक परमेश्वर है। सूर्य, नक्षत्र, ग्रह, उपग्रह सब परमेश्वर की व्यवस्था से बिना आधार के आकाश में परस्पर आकर्षणशक्ति से टिके हुए हैं, स्थिर हैं। उसी ने सूर्य की आकर्षण शक्ति से पृथिवी को धारा हुआ है और सूर्य की किरणों से प्रकाश तथा ऊर्जा देकर वह पृथिवी पर प्राणियों के जीवन को सुरक्षित किये हुए है। उसी की व्यवस्था से सूर्य के ताप से जलवाष्प उठकर अन्तरिक्ष में बादल बनते हैं और उसी की व्यवस्था से ठण्डी वायुओं के सम्पर्क से जलवाष्प पानी बनकर भूमि पर बरस जाते हैं। उसी के नियमों के अनुसार भूमि पर ऋतुएँ आती-जाती हैं, कृषकों द्वारा बोई हुई खेती अङ्कुरित होती है, वर्षा और सिंचाई से सिक्त होकर लहलहाती है और परिपक्व होती है। उसी के बनाये हुए नियमों से भूमि पर पेड़-पौधे उगते हैं, पुष्पित होते हैं और मधुर फल प्रदान करते हैं। उसी के संरक्षण में वर्षा होती है, पहाड़ों पर बर्फ पड़ती है, बर्फ पिघलकर नदियाँ बहती हैं, स्रोत फूटते हैं, नदी-नालों और वृष्टि द्वारा समुद्र में पानी जाता है, पुनः बादल बनने और बरसने का क्रम चलता है।

परमात्मा भी विष्णु है, राजा भी विष्णु है, सूर्य भी विष्णु है। आओ, इन विष्णुओं के महत्त्व को हम समझें और इनकी देनें प्राप्त करके सुखी हों।

पाद-टिप्पणियाँ

१. इरावती, धेनुमती, सूयवसिनी, रोदसी=इरावत्यौ, धेनुमत्यौ, सूयवसिन्यौ, रोदस्यौ। प्रथमा और द्वितीया के द्विवचन में पूर्वसवर्णदीर्घ। इरा=अन्न, निघं० २.७
२. दशस्या, दाशृ दाने, असुन् प्रत्यय, धातु के आ को ह्रस्व, दशस्+द्विवचन का औ। औ को या आदेश।
३. वि+स्कम्भु, सौत्र धातु पा० ३.१.८२, लङ् लकार।
४. रोदसी=द्यावापृथिवी, निघं० ३.३०।
५. द्यौष्पितः पृथिवि मातः। ऋ० ६.५१.५

३३. विद्वान् की क्षमता

ऋषिः दीर्घतमाः। देवता विद्वान्। छन्दः भुरिग् आर्षी अनुष्टुप्।

स्वराडसि सपत्नहा सत्रराडस्यभिमातिहा
जनराडसि रक्षोहा सर्वराडस्यमित्रहा ॥

—यजु० ५।२४

हे विद्वन्! आप **(स्वराड् असि)** स्वकीय पाण्डित्य से जगमगानेवाले हो, **(सपत्नहा[१])** जो एक साथ मिलकर आपसे शास्त्रार्थ करने आते हैं, उन्हें पराजित कर देनेवाले हो। आप **(सत्रराड् असि)** यज्ञ में ज्योति से ज्योतिष्मान् होनेवाले हो, **(अभिमातिहा[२])** अभिमानियों को परास्त कर देनेवाले हो। आप **(जनराड्[३] असि)** धार्मिक विद्वज्जनों में चमकनेवाले हो **(रक्षोहा)** राक्षसों का, दुष्टों का हनन या पराजय कर देनेवाले हो। आप **(सर्वराड् असि)** सबके बीच अपनी विद्या से प्रकाशमान होनेवाले हो, आप **(अमित्रहा)** शत्रुओं को हनन कर देनेवाले हो।

हे विद्वन्! हम आपके वैदुष्य पर गर्व करते हैं। आपने चारों वेद संहिताएँ शाखाओं सहित आत्मसात् की हुई हैं। ब्राह्मणग्रन्थ, आरण्यक, उपनिषदें, शिक्षा-कल्प-व्याकरण-निरुक्त-छन्द-ज्योतिष नामक षड् वेदाङ्ग, प्राच्य और पाश्चात्त्य दर्शनशास्त्र, भौतिक विज्ञान, रसायनशास्त्र, शिल्पविज्ञान आदि सकल विज्ञान भी आपको हस्तामलकवत् उपस्थित है। आप सृष्टिविज्ञान में भी पारङ्गत हैं। समस्त सैद्धान्तिक और क्रियात्मक ज्ञान के आप महारथी हैं। आप अपने स्वकीय पाण्डित्य से सूर्य के समान जगमगा रहे हो। जो अधकचरे पाण्डित्यवाले अज्ञानी लोग इकट्ठे होकर आपसे किन्हीं विषयों पर शास्त्रार्थ या ज्ञानचर्चा करने आते हैं, उनके गर्व का आप हनन कर देते

हो, उन्हें पराजित कर देते हो। हे विद्वद्वर! आप यज्ञ के भी अपूर्व ज्ञाता हो, अग्निहोत्र से लेकर अश्वमेधपर्यन्त यज्ञों के सैद्धान्तिक और क्रियात्मक ज्ञान में आप पारंगत हो। अतः यज्ञों के विषय में कोई शङ्काएँ या अपसिद्धान्त लेकर आपसे वितण्डा करने कोई अपण्डित आते हैं, तो आप उनके अभिमान को चूर कर देते हो, जैसे शतपथब्राह्मण एवं बृहदारण्यक उपनिषद् में अनेक अभिमानी प्रश्नकर्ता विद्वान् और विदुषियों का याज्ञवल्क्य महर्षि ने उनके प्रश्नों के सही उत्तर देकर अभिमान खण्डित कर दिया था।

हे विद्वच्छिरोमणि! आप 'जनराट्' भी हो, धार्मिक विद्वज्जनों में अपनी ज्ञानज्योति से चमकनेवाले हो। यदि कोई ज्ञान का दम्भ करनेवाले अज्ञानी दुष्ट राक्षस लोग आपसे वाक्छल करने के लिए आते हैं और आपको भरी सभा में हरा कर लज्जित करना चाहते हैं, उनका आप मुँहतोड़ उत्तर देकर हनन कर देते हो।

हे विद्वज्जनों के भी विद्वान् गुरुवर! आप 'सर्वराट्' हो, सभी विद्वन्मण्डली में सूर्य के समान चमकते हो। जैसे सूर्य अन्धकाररूप शत्रु की दुर्गति कर देता है, ऐसे ही जो आपके अमित्र होकर, अस्नेही शत्रु बनकर आपको पराजित करने के मनसूवे बाँधकर आपसे शास्त्रचर्चा करने आते हैं, उनकी आप अपकीर्तिरूप हत्या कर देते हो। शास्त्रार्थ में वे आपके सम्मुख टिकने नहीं पाते हैं और उनकी वही दशा होती है जो धक्का खाकर पहाड़ के ऊँचे शिखर से नीचे गिरनेवाले की होती है।

हे विद्वानों के अधिराज! हम भी आपसे शिक्षा लेकर आप-सदृश विद्वान् बनें और अपण्डितों के कुतर्कों को खण्डित करके संसार में सद्धर्म की स्थापना करें।

पाद-टिप्पणियाँ

१. ये सह पतन्ति शास्त्रार्थाय सह आगच्छन्ति ते सपत्नाः, तान् हन्ति पराजयते यः स सपत्नहा।

२. अभिमिमते इत्यभिमातयः तान् हन्ति सः—द०।

३. यो जनेषु धार्मिकेषु विद्वत्सु राजते सः—द०।

३४. तू ध्रुवा है, यजमान भी ध्रुव हो

ऋषिः दीर्घतमाः । देवता यज्ञः । छन्दः आर्षी जगती ।

ध्रुवासि ध्रुवोऽयं यजमानोऽस्मिन्नायतने प्रजया पशुभिर्भूयात् ।
घृतेन द्यावापृथिवी पूर्येथामिन्द्रस्य छदिरसि विश्वजनस्य छाया ॥

—यजु० ५ । २८

हे यजमानपत्नी[1]! तू **(ध्रुवा असि)** ध्रुव है, स्थिर है, **(अयं यजमानः)** यह यजमान भी **(अस्मिन् आयतने)** इस घर में, **(प्रजया पशुभिः)** प्रजा और पशुओं के साथ **(ध्रुवः भूयात्)** ध्रुव होवे। **(घृतेन)** घृत से **(द्यावापृथिवी)** हे आकाश-भूमि **(पूर्येथां)** तुम भर जाओ। हे यजमानपत्नी! तू **(इन्द्रस्य छदिः असि)** इन्द्र की छत है, **(विश्वजनस्य छाया)** विश्वजनों की छाया है।

हे यजमानपत्नी! तू पतिगृह में स्थिर गृहपत्नी बनकर आयी है। तेरे पतिगृहनिवास में स्थिरता है, स्वभाव में स्थिरता है, कर्त्तव्यपालन में स्थिरता है, अधिकार में स्थिरता है, सेवा में स्थिरता है, यज्ञ में स्थिरता है। तू जिस कार्य में संलग्न हो जाती है, उसे समाप्त करके ही छोड़ती है। तूने यज्ञ आरम्भ किया है, उसमें भी तुझे स्थिर रहना है। तेरा पति यजमान भी इस घर में, इस यज्ञ में, प्रजा और पशुओं के साथ स्थिर रहे। उसने प्रजा जनी है, तेरे साथ मिलकर उसके लालन-पालन और शिक्षण में स्थिरतापूर्वक लगा रहे। उसने दूध, खेती और यज्ञ के लिए गाय, बैल आदि पशु पाले हैं, तो उनके पालन-संवर्धन में स्थिरतापूर्वक संलग्न रहे। उसने ब्राह्मण का कार्य, क्षत्रिय का कार्य या वैश्य का कार्य प्रारम्भ किया है, तो उसे स्थिरमति से करता रहे। तेरी सन्तान भी स्वयं को योग्य बनाने में और घर के तथा बाहर के पूज्य जनों की सेवा में तत्पर रहे।

तुमने जो यज्ञ प्रारम्भ किया है, उसमें तुम यजमान और यजमानपत्नी हो। यज्ञ के लिए तुमने गौएँ पाली हैं। उनका घृत

सञ्चित करो। इतना घृत एकत्र कर लो कि घृत से द्यावापृथिवी भर जाएँ। प्रत्येक 'स्वाहा' के साथ तुम्हें न्यूनतम ६ माशे घृत की आहुति देनी है। यदि तुमने लक्ष आहुतियों का यज्ञ रचाया है, तो यज्ञ के लिए ही पर्याप्त घृत की आवश्यकता पड़ सकती है। यज्ञ के पश्चात् अतिथियों के सत्कार के लिए और गृहसदस्यों के द्वारा घृतसेवन किये जाने के लिए भी प्रचुर घृत अपेक्षित है। फिर घृत प्रतीक है ऐश्वर्य का, अतः इतना ऐश्वर्य कमाओ कि उसे रखने के लिए धरती-आकाश भी छोटे पड़ जाएँ। ऐश्वर्य के विषय में 'वयं स्याम पतयो रयीणाम्' यह वैदिक आदर्श है।

हे यजमानपत्नी! तू इन्द्र की छत है। छत का कार्य घर और गृहसामग्री की रक्षा करना होता है। छत रक्षा का प्रतीक है। तात्पर्य यह है कि तेरे अन्दर रक्षा का सामर्थ्य इन्द्र-जैसा है। अतः जब तक यज्ञ प्रवृत्त रहे, तब तक जो भी तेरे आश्रम में आयें उन्हें आश्रय दे, उन्हें अपनी रक्षा में ले और यज्ञ-समाप्ति पर उन्हें दक्षिणा देकर विदा कर। तू विश्वजनों की छाया है। जैसे वृक्ष की छाया थके हुए को विश्राम देती है, ग्रीष्म-तप्त को शीतलता देती है, ऐसे ही जो भी दीन-दुःखी तेरी शरण में आ जाए, उसे तेरी सुखद छाया मिलनी चाहिए। तू नगर की छाया बन जा, राष्ट्र की छाया बन जा, विश्व की छाया बन जा। तेरी यह ख्याति हो जानी चाहिए कि तेरे पास से कोई खाली हाथ नहीं लौटेगा।

हे यजमान और यजमानपत्नी! तुम्हारा यज्ञ सफल हो, तुम्हारा यज्ञ पूर्ण हो, तुम्हें भगवान् का आशीर्वाद प्राप्त हो, तुम्हारे यज्ञ का प्रसाद अन्यों को भी यज्ञ का प्रेमी बनाये।

इस मन्त्र के दयानन्दभाष्य का भावार्थ यह है—"मनुष्यों को चाहिए कि जिन यज्ञानुष्ठाता यजमान और यजमानपत्नी के द्वारा और जिस यज्ञ से निश्चल विद्या तथा सुख प्राप्त हों और दुःख नष्ट हों, उनका सदा सत्कार करें और उस यज्ञ का सदा अनुष्ठान करें।"

पाद-टिप्पणी

१. हे यज्ञानुष्ठात्रि यजमानपत्नि! यथा त्वमस्मिन्नायतने जगति स्वस्थाने यज्ञे वा प्रजया पशुभिः सह ध्रुवासि तथाऽयं यजमानो ऽपि ध्रुवोऽस्ति—द०।

३५. तू विभू है, प्रवाहण है

ऋषिः मधुच्छन्दाः । देवता अग्निः । छन्दः विराड् आर्षी अनुष्टुप् ।

विभूरसि प्रवाहणो वह्निरसि हव्यवाहनः ।
श्वात्रोऽसि प्रचेतास्तुथोऽसि विश्ववेदाः ॥

—यजु० ५।३१

हे अग्ने! हे अग्रनेता तेजस्वी परमेश्वर! तू **(विभूः असि)** सर्वव्यापक है, **(प्रवाहणः)** धन, धर्म, सद्‌गुण, सत्कर्म, आनन्द आदि की धाराएँ बहानेवाला है, **(वह्निः असि)** विश्व को वहन करनेवाला है, **(हव्यवाहनः)** सूर्य, वायु आदि देय पदार्थों को हमारे समीप पहुँचानेवाला है। **(श्वात्रः[१] असि)** शीघ्रकारी एवं गतिप्रदाता है, **(प्रचेताः[२])** प्रकृष्ट प्रज्ञावाला एवं प्रकृष्टरूप से चेतानेवाला है। **(तुथः[३] असि)** ज्ञानवर्धक है, **(विश्ववेदाः)** विश्ववेत्ता है।

हे अग्नि! हे मेरे अग्रनेता तेजोमय जगदीश्वर! तुम 'विभू' हो, ब्रह्माण्ड के कण-कण में व्यापक हो, सर्वान्तर्यामी हो। तुम्हारी इस विशेषता को यदि हम सच्चे रूप में जान लें, अनुभव कर लें, तो अकर्त्तव्यों एवं पापों से सदा बचे रहें। हे सर्वेश! तुम 'प्रवाहण' भी हो, सदा धन, धर्म, सद्‌गुण, सत्कर्म, श्रद्धा, आनन्द आदि की धाराएँ हमारी ओर बहाते रहते हो तथा हमारे अन्दर यदि कोई दुरित या दुर्गुण होते हैं, तो उन्हें धोकर हमारे पास से प्रवाहित कर नष्ट कर देते हो। हे जगदाधार! तुम वह्नि अर्थात् विश्व का वहन करनेवाले भी हो। जैसे रथ को वहन करने के कारण घोड़ा 'वह्नि' कहलाता है, वैसे ही तुम विश्वरथ के वाहक हो। हे दाता! तुम 'हव्यवाहन' नाम से भी प्रसिद्ध हो, यतः हव्य अर्थात् देय सूर्य, चन्द्र, जल,

वायु, प्राण आदि असंख्य पदार्थों के वाहक अर्थात् हमारे पास पहुँचानेवाले हो। आप ये पदार्थ यदि हमें प्राप्त न कराते, तो हम मानव क्या इनकी रचना स्वयं कर सकते थे? हे प्रभु, तुम 'श्वात्र' हो, क्षिप्रकारी हो, जिस कार्य को करना चाहते हो अविलम्ब कर लेते हो। तुम पदार्थों को गति देने के कारण भी 'श्वात्र' कहलाते हो। तुम्हीं ने वायु को गति दी है, तुम्हीं ने भूमि, चन्द्र तथा भूगोल-खगोल के अन्य गतिमय पिण्डों को गति दी है, तुम्हीं हमारे दूरंगम मन को गति देते हो। हे देव! तुम 'प्रचेताः' हो, प्रकृष्ट चित्तवाले हो, प्रकृष्ट प्रज्ञावाले हो, प्रकृष्ट रूप से चेतानेवालें हो। हे ज्ञाननिधि! तुम 'तुथ' हो, हमारे आत्मा में ज्ञान की वृद्धि करनेवाले हो। यदि तुमने हमें मन, बुद्धि, ज्ञानेन्द्रियाँ आदि ज्ञान के साधन न दिये होते, तो हमारा आत्मा अज्ञानी ही बना रहता। हे प्रभु! तुम 'विश्ववेदाः' हो, सर्वज्ञ हो, सकल ब्रह्माण्ड के अणु-अणु को जाननेवाले हो। साथ ही ज्यों ही कोई विचार हमारे मन में आता है, त्यों ही तुम उसे जान लेते हो। तुमसे छिपकर हम कुछ भी नहीं सोच पाते, कुछ भी नहीं कर पाते।

हे प्रकाशमय और प्रकाशक! तुम्हारे उत्तम गुणों को सदा स्मरण करते हुए हम तुमसे यथोचित शिक्षा ग्रहण कर स्वयं को धन्य करते रहें।

पाद-टिप्पणियाँ

१. श्वात्रमिति क्षिप्रनाम, आशु अतनं भवति, निरु० ५.३।
श्वात्रति गतिकर्मा, निघं० २.१४।
२. चेतः=प्रज्ञा, निघं० ३.९। प्रकृष्टं चेतः प्रज्ञा यस्य स प्रचेताः। चिती संज्ञाने, भ्वादिः।
३. तुथः ज्ञानवर्द्धकः। तु गतिवृद्धिहिंसासु इत्यस्माद् औणादिकः थक् प्रत्ययः—द०। ब्रह्म वै तुथः, श० ४.३.४.१५

३६. बांके वीर को प्रोत्साहन

ऋषिः अगस्त्यः। देवता अग्निः। छन्दः आर्षी त्रिष्टुप्।

अ॒यं नो॑ऽअ॒ग्निर्वरि॑वस्कृणोत्व॒यं मृधः॑ पु॒रऽए॑तु प्रभि॒न्दन्। अ॒यं वाजा॒ञ्जयतु॒ वाज॑साताव॒यꣳ शत्रू॒ञ्जयतु॒ जर्हृ॑षाण॒ः स्वाहा॑॥

—यजु० ५।३७

(**अयं**) यह (**नः**) हमारा (**अग्निः**) बांका वीर (**वरिवः**[१]) राष्ट्र का रक्षण (**कृणोतु**[२]) करे। (**अयं**) यह (**मृधः**) हिंसक आततायियों को (**प्रभिन्दन्**) छिन्न-भिन्न करता हुआ (**पुरः एतु**) आगे बढ़े। (**अयं**) यह (**वाजसातौ**) बलप्रदर्शन में (**वाजान्**[३]) शत्रु-बलों को (**ज़यतु**) जीत ले। (**अयं**) यह (**जर्हृषाणः**[४]) अतिशय हृष्ट, उत्साहित होता हुआ (**शत्रून् जयतु**) शत्रुओं को जीते। (**स्वाहा**) इसके प्रति हमारे सुवचन हैं।

मरे देश का बांका वीर साक्षात् 'अग्नि' है। वह अग्नि के समान तेजस्वी है, शत्रु को अपनी ज्वालाओं से लपेटनेवाला है, दग्ध करनेवाला है। उसके शस्त्रास्त्र आग के गोले बरसाते हैं, शत्रुपुरी में गिरकर जनसंहार मचा देते हैं, पुरी को भस्मसात् कर देते हैं। वह संग्रामाग्रणी वीर राष्ट्र की शत्रु से रक्षा करने में अद्वितीय है। उसके सेनापतित्व में सैंकड़ों सेनाएँ शत्रु से लोहा लेने के लिए रणाङ्गण में निकल पड़ती हैं। वह हिंसकों को, आतङ्कवादियों को छिन्न-भिन्न करता हुआ, कुचलता हुआ, धूल में मिलाता हुआ संग्राम में आगे बढ़े। संग्राम का बिगुल बजने पर वह हर्षित, उत्साहित, उल्लसित हो कि आज अवसर मिला है रण में अपना युद्धकौशल दिखाने का, युद्ध के उभयपक्षसंमत नियमों का पालन करते हुए शत्रु को हताहत,

व्याकुल, उद्वेजित और धराशायी करने का, न केवल स्वपक्ष से, अपितु शत्रुपक्ष से भी प्रशंसा पाने का। हमारा रणबांकुरा वीर दिखा देना चाहता है कि संहार हमारा उद्देश्य नहीं है, हमारा उद्देश्य है शान्ति। शान्ति लाने के लिए भीषण संहार भी करना पड़ता है, तो हम चूकते नहीं हैं। बलप्रदर्शन में हम शत्रु के बल को मात दे सकते हैं। हँसते-हँसते, हृष्ट-उल्लसित-उत्साहित होते हुए हम शत्रुओं को जीत सकते हैं। आत्मसम्मान बनाये रखते हुए हम सन्धि भी कर सकते हैं, शत्रु को अपना भी बना सकते हैं, पारस्परिक द्वन्द्व को समाप्त भी कर सकते हैं। परन्तु शत्रु को यह अनुभव हो जाना चाहिए कि हम किस सीमा के वीर हैं, किस धन के धनी हैं। वीरता हमारा मन्त्र है, मौत के मुँह में पहुँचानेवाला हमारा अस्त्र है, बाँके वीरों को झुका देनेवाला हमारा उत्साह है, 'कट जाय सिर न झुकना' हमारा नारा है। किन्तु अवसर आने पर हम झुकना भी जानते हैं, झुकते हैं तो ऐसे झुकते हैं कि झुकने पर भी हमारे सिर ऊँचे रहते हैं।

हे अग्निज्वाल के समान दमकनेवाले राष्ट्रवीर! समय आ गया है, संनद्ध कर ले अपनी सेना, सज्जित कर ले अपने संहारक शस्त्रास्त्र, कूच कर दे अधर्म पर धर्म की विजय के लिए। विजयी होकर आ। राष्ट्र तेरा अभिनन्दन करेगा, तेरे विजयगीत गायेगा, तेरे प्रति सुवचन कहेगा।

पाद-टिप्पणियाँ

१. वरिवः भृशं रक्षणम्—द०।

२. कृणोतु, कृवि हिंसाकरणयोः, स्वादिः।

३. वाजः=बल, निघं० २.९, अधिक पाठ।

४. हृष तुष्टौ, अत्यर्थं हृष्यन्।

३५. हे जननायक! विक्रम दिखा

ऋषिः अगस्त्यः । देवता विष्णुः । छन्दः भुरिग् आर्षी अनुष्टुप् ।

उरु विष्णो विक्रमस्वोरु क्षयाय नस्कृधि ।
घृतं घृतयोने पिब प्रप्र यज्ञपतिं तिर स्वाहा ॥

—यजु० ५।३८

(विष्णो[1]) हे व्यापक प्रभाववाले जननायक! तू **(उरु)** बहुत अधिक **(विक्रमस्व)** विक्रम दिखा, **(उरु)** बहुत अधिक **(क्षयाय[2])** निवास के लिए **(नः कृधि)** हमें कर, पात्र बना। **(घृतयोने[3])** हे घृत के भण्डार! **(घृतं पिब)** घृत पी, पिला। **(यज्ञपतिं)** यज्ञपति को **(प्र प्र तिर[4])** प्रकृष्टरूप से बढ़ा। **(स्वाहा)** एतदर्थ हम देय कर की आहुति देते हैं।

हे विष्णु! हे व्यापक प्रभाववाले जननायक! तुम विक्रम दिखाओ। जब तक विक्रम नहीं दिखाओगे, तब तक रिपुदल तुम्हें अकर्मण्य, निष्प्रभाव, गौरवरहित, बाल भी बांका न कर सकनेवाला समझता रहेगा। शत्रुदल पर आक्रमण कर दो, उसके छक्के छुड़ा दो, उसे हमारे राष्ट्र के प्रति दुर्भावना रखने का स्वाद चखा दो, उसे विनाश के कगार पर पहुँचा दो। यदि तुम नीति के रूप में शत्रु को विनष्ट नहीं भी करना चाहते हो, तो कम से कम आतङ्कित तो कर ही दो। ऐसा तो कर दो कि वह तुम्हारा लोहा मानने लगे। फिर तो वह स्वयं ही सन्धि का प्रस्ताव लेकर तुम्हारे पास आयेगा।

हे नेतृत्वकुशल, जनरंजक वीर! जहाँ तुम शत्रुपराजय या रिपुदलभञ्जन का कार्य करोगे, वहाँ प्रजाओं के महान् निवासक भी बनो। सर्वजनोपकारी रचनात्मक कार्यों द्वारा हमारे लिए सुखकारी बनो। हमारा धर्म में निवास कराओ, धैर्य में निवास

कराओ, ऐश्वर्य में निवास कराओ, वीरता में निवास कराओ, उच्चता में निवास कराओ, दिव्यता में निवास कराओ।

हे जननायक! तुम राष्ट्र में घृत की योनि हो, घृत के घर हो, भण्डार हो। घृत सब प्रकार की समृद्धि का प्रतीक है। जो भी राष्ट्र में दुग्ध, घृत, मधु, धनधान्य आदि की विपुल समृद्धि दृष्टिगोचर होती है, उसके कारण तुम ही हो। उस समृद्धि का तुम स्वयं भी उपभोग करो तथा प्रजाजनों को भी कराओ।

अन्त में एक बात पर हम तुम्हारा ध्यान और आकृष्ट करते हैं। राष्ट्र में दो प्रकार के व्यक्ति तुम्हें मिलेंगे। कुछ यज्ञपति हैं और कुछ कृपण हैं। जो यज्ञपति हैं, वे यज्ञभावना को अपने अन्दर धारण करते हुए सदा दूसरों का उपकार करते रहते हैं। दूसरे जो कृपण हैं, वे सारे धन-धान्य को अपने पास समेटने का यत्न करते रहते हैं, अन्य लोग जीते हैं या मरते हैं, इसकी उन्हें कुछ चिन्ता नहीं होती। हे जननायक! हमारा तुमसे निवेदन है कि तुम यज्ञपतियों को ही उत्साहित करो, बढ़ाओ, सरसाओ, इसके विपरीत जो स्वार्थी लोग हैं, उन्हें किसी प्रकार का बढ़ावा न देकर हतोत्साह करो।

हमारी उक्त सब प्रार्थनाएँ तुम पूर्ण कर सको, एतदर्थ हम 'स्वाहा' करते हैं, कर रूप में नियत अपना भाग स्वाहा की भावना से प्रसन्नतापूर्वक तुम्हें अर्पित करते हैं।

पाद-टिप्पणियाँ

१. विष्लृ व्याप्तौ। वेवेष्टि व्याप्नोति स्वप्रभावेण सर्वत्र यः सः।
२. क्षि निवासगत्योः। क्षयो निवासे पा० ६.१.२०१, आद्युदात्त क्षय शब्द निवासवाचक होता है, विनाशवाचक अन्तोदात्त होता है।
३. घृतं योनौ गृहे यस्य स घृतयोनिः। योनि=गृह, निघं० ३.४।
४. प्रतिरति=वर्द्धयति।

३८. आत्मा सूर्य, मन सोम

ऋषिः अगस्त्यः। देवता सविता सोमश्च। छन्दः क. साम्नी बृहती, र. निचृद् आर्षी पङ्क्तिः।

कदेव सवितरेष ते सोमस्तꣳरक्षस्व मा त्वा दभन्।
रएतत्त्वं देव सोम देवो देवाँ२ ॥ऽउपागाऽइदमहं मनुष्यान्त्सह
रायस्पोषेण स्वाहा निर्वरुणस्य पाशान्मुच्ये॥

—यजु० ५।३९

(देव सवितः) हे प्रकाशमान जीवात्मारूप सूर्य! **(एषः ते सोमः)** यह तेरा मन रूप चन्द्रमा है, **(तं रक्षस्व)** उसकी रक्षा कर। **(मा त्वा दभन्[१])** कोई भी शत्रु तुझे दबा न पायें। **(एतत् त्वं)** यह तू **(देव सोम)** हे दिव्य मन रूप चन्द्र! **(देवः)** जगमग करता हुआ **(देवान्)** प्रजाजनों को **(उपागाः)** प्राप्त हुआ है। आगे मन रूप सोम कहता है—**(इदम् अहम्)** यह मैं मन रूप सोम **(मनुष्यान्)** मनुष्यों को **(रायस्पोषेण सह)** ऐश्वर्य की पुष्टि के साथ [प्राप्त होता हूँ]। **(स्वाहा)** मेरा स्वागत हो। मैं **(वरुणस्य पाशात्)** वरुण के पाश से **(निर् मुच्ये)** निर्मुक्त होता हूँ, छूटता हूँ।

जैसे बाहर प्रकाशमान सविता सूर्य अन्तरिक्षस्थ चन्द्ररूप सोम को प्रकाशित करता है, वैसे ही हमारे शरीर के अन्दर आत्मा-रूप सूर्य मन-रूप चन्द्र को प्रकाशित करता है। मन्त्र में सविता नाम से जीवात्मा-रूप सूर्य को सम्बोधन करके कहा गया है कि जो तुम्हारा मन-रूप चन्द्र है, उसकी सदा रक्षा करते रहना। कहावत है कि मन ही मनुष्यों के बन्ध और मोक्ष का कारण होता है। जीवात्मा यदि मन-रूप चन्द्र को प्रकाशित करता रहेगा, तो वह सही रास्ते पर चलेगा और

मनुष्य को सदा सरसता-सफलता प्राप्त कराता रहेगा। अतः जीवात्मा के लिए आवश्यक है कि वह मन की सदा रक्षा करता रहे। परन्तु जीवात्मा मन की रक्षा तभी कर सकता है, जब वह स्वयं काम, क्रोध आदि रिपुओं से अपराजित रहे। अतः जीवात्मा को भी सावधान किया गया है कि याद रख, तुझे कोई शत्रु दबा न सके। आगे मन रूप चन्द्र को कहते हैं—हे दिव्य मन-रूप चन्द्र! दृढ़ सङ्कल्पों की दीप्ति से जगमगाता हुआ तू सब प्रजाजनों को प्राप्त हुआ है, वैसा ही बना रह। यदि तू जीवात्मा का प्रकाश अपने ऊपर नहीं पड़ने देगा और निस्तेज हो जायेगा, तो तू मनुष्यों का कुछ भी उपकार नहीं कर सकेगा, अपितु उनके पतन का ही कारण बनेगा।

अब मन उत्तर देता है कि मुझे तुम्हारी बात स्वीकार है। मैं तुम पूज्यजनों को सर्वविध पुष्टि के साथ प्राप्त होता हूँ। अपने सङ्कल्प-बल से तुम्हारे अन्दर प्राण फूँकता रहूँगा तथा सारथि जैसे लगाम द्वारा रथ के घोड़ों को नियन्त्रण में रखता है, वैसे ही मैं तुम्हारे इन्द्रिय-रूप अश्वों को नियन्त्रित करता रहूँगा, एवं अन्धाधुन्ध विषयों की ओर भागने नहीं दूँगा। परिणामतः तुम्हें सबल आध्यात्मिक और भौतिक ऐश्वर्य प्राप्त होते रहेंगे। परन्तु मुझसे लाभ पाने के लिए आवश्यक यह है कि तुम भी मुझे 'स्वाहा' कहो, मेरा स्वागत करो। मैं मन भी यदि जीवात्मा के नियन्त्रण से बाहर होकर कुराह पर चलने-चलाने लगूँगा, तो 'वरुण' प्रभु के पाशों से बाँधा जाऊँगा। अतः मैं सावधान रहता हुआ 'वरुण' के पाशों से छूटा रहता हूँ। हे मानवो! तुम मुझसे जो आशा करते हो, उसे मैं पूर्ण करता रहूँगा और निरन्तर तुम्हारी उन्नति में संलग्न रहूँगा।

पाद-टिप्पणी

१. (दभन्) हिंस्युः। अत्र लिङर्थे लङ्, अडभावश्च—द०।
दभु दम्भे, दभ्नोति, स्वादिः। दभ्नोति वधकर्मा, निघं० २.१९।

३९. पर्यावरण शुद्ध रखें

ऋषिः अगस्त्यः । देवता यज्ञः । छन्दः ब्राह्मी त्रिष्टुप् ।

द्यां मा लेखीरन्तरिक्षं मा हिꣳसीः पृथिव्या सम्भव ।
अयꣳहि त्वा स्वधितिस्तेतिजानः प्रणिनाय महते सौभगाय ।
अतस्त्वं देव वनस्पते शतवल्शो विरोह सहस्रवल्शा वि वयꣳरुहेम ॥

—यजु० ५।४३

हे मनुष्य! तू **(द्यां)** द्युलोक को **(मा लेखीः[१])** मत खुरच, मत विकृत कर, **(अन्तरिक्षं)** अन्तरिक्ष को **(मा लेखीः)** मत विकृत कर। **(पृथिव्या संभव)** पृथिवी के साथ अच्छे पर्यावरण में रह। **(अयं हि तेतिजानः[२] स्वधितिः)** यह तीक्ष्ण कुल्हाड़ा **(महते सौभगाय)** महान् सौभाग्य के लिए **(त्वा प्रणिनाय[३])** तुझे प्रेरित कर रहा है। **(अतः)** इसलिए **(देव वनस्पते)** हे हरीभरी वनस्पति! **(त्वं)** तू **(शतवल्शः[४])** सैंकड़ों अंकुरों से युक्त होकर **(विरोह)** बढ़। **(वयं)** हम **(सहस्रवल्शाः)** सहस्र अुंकरोंवाले होकर **(विरुहेम)** बढ़ें।

वेदों का आदेश है कि मानव शुद्ध वायु में श्वास ले, शुद्ध जल का पान करे, शुद्ध अन्न खाये, शुद्ध मिट्टी में खेले-कूदे, शुद्ध भूमि में खेती करे। ऐसा होने पर ही उसे वेदप्रतिपादित सौ वर्ष या सौ से भी अधिक वर्ष की आयु प्राप्त हो सकती है। परन्तु आज न केवल हमारे देश में, अपितु विदेशों में भी प्रदूषण इतना बढ़ गया है कि मनुष्य को न शुद्ध वायु सुलभ है, न शुद्ध मिट्टी और शुद्ध भूमि सुलभ है। कल-कारखानों से निकले अपद्रव्य धुआँ, गैस, कूड़ा-कचरा, वन-विनाश आदि इस प्रदूषण के कारण हैं। प्रदूषण इस स्थिति तक पहुँच गया है कि कई स्थानों पर तेजाबी वर्षा हो रही है। प्रस्तुत मन्त्र प्रेरित कर रहा है कि हे मनुष्य! द्युलोक को विकृत मत कर, अन्तरिक्ष को विकृत मत कर। कारखानों की गैसें, धुआँ, बाहर नालियों में बहनेवाले तेजाबी द्रव्यों की गन्ध वायुमण्डल

में मिलकर आकाश में जहाँ तक पहुँच सकते हैं, वहाँ तक उनसे आकाश विकृत हो चुका है। शत्रु द्वारा छोड़े गये अणु-बम आदि शास्त्रास्त्र भी आकाश को मलिन कर रहे हैं। यदि वेद के सन्देश की ओर लोगों का ध्यान न गया, तो एक दिन विनाश निश्चित है। आकाश से जो हवाएँ आयेंगी, जो वर्षा होगी, जो ओले गिरेंगे, जो बिजलियाँ लहरायेंगी, जो चक्रवात उठेंगे, जो उल्कापात होंगे, जो सूर्यकिरणें नीचे आयेंगी, सब ऐसे विषैले होंगे जिनमें मनुष्य का श्वास लेना भी मृत्यु को निमन्त्रण देनेवाला होगा। अतः चेत रे मानव! चेत जा, आकाश को ऐसा शुद्ध कर ले कि वहाँ से अमृत की वर्षा हो, जीवनदायी हवाएँ चलें, सूर्य की प्राणदायक रश्मियाँ प्राप्त हों। पृथिवी पर शुद्ध पर्यावरण में निवास कर। अशुद्ध पर्यावरण रोगों को निमन्त्रण देगा, कराहटों को जन्म देगा, शिशुओं की और युवक-युवतियों की मौतें लायेगा।

हे मानव! एक बात और याद रखना। वातावरण को शुद्ध करने में वृक्ष-वनस्पतियों का बहुत बड़ा हाथ है। प्राणी जो अशुद्ध कार्बन डायक्साइड गैस छोड़ते हैं, वह वृक्ष-वनस्पतियों का प्राण है। वे उसे ग्रहण करके पनपती हैं, और बदले में ऑक्सीजन गैस छोड़ती है, जो जीवधारियों का प्राण है। वृक्ष वर्षा लाने में भी कारण बनते हैं। इन्हें काटना बर्बादी को बुलाना है। अतः वृक्षों को नष्ट मत कर, अपितु नये-नये वृक्ष उगा। यह जो कुल्हाड़ा तेरे हाथ में है, इसका सदुपयोग कर। यह वृक्षों को सजाने-सँवारने के लिए है, काट कर समाप्त कर देने के लिए नहीं। इस कुल्हाड़े के द्वारा वृक्षों की इस तरह कतरन कर कि उनकी नवीन-नवीन सैंकड़ों शाखाएँ फूटें और वृक्ष बढ़कर दुगने-चौगुने विशाल हो जाएँ। साथ ही नये पौधे भी अङ्कुरित हों और बढ़कर नये विशाल वृक्ष बनें। हे मानव! तू वृक्षों को भी बढ़ा और स्वयं भी बढ़। सन्तति से बढ़, सम्पदा से बढ़, वीरता से बढ़, विजय से बढ़। तू पर्यावरण की जय बोल, पर्यावरण तेरी जय बोलेगा।

पाद-टिप्पणियाँ

१. लिख अक्षरविन्यासे। इह तु हिंसार्थः—म०।
२. तिज निशाने (तीक्ष्णीकरणे), यङन्तात् शानच्।
३. प्र णीञ् प्रापणे, यहाँ प्रेरणार्थक।
४. शतवल्शः=बह्वङ्कुरः।

४०. विष्णु के कर्म देखो।

ऋषिः—मेधातिथिः। देवता—विष्णुः। छन्दः—निचृद् आर्षी गायत्री।

विष्णोः कर्माणि पश्यत यतो व्रतानि पस्पशे। इन्द्रस्य युज्यः सखा॥

—यजु० ६।४

हे मनुष्यो! (**विष्णोः**[१]) चराचर जगत् में व्यापक परमेश्वर के (**कर्माणि**) कर्मों को (**पश्यत**) देखो, (**यतः**) क्योंकि उसने (**व्रतानि**) व्रतों को, नियमों को (**पस्पशे**[२]) ग्रहण किया हुआ है। वह (**इन्द्रस्य**) जीवात्मा का (**युज्यः**) सहयोगी (**सखा**) सखा है।

क्या तुम जानते हो कि 'विष्णु' कौन है, और उसके कर्म क्या है? 'विष्णु' शब्द व्याप्ति अर्थ वाली 'विष्लृ' धातु से बनता है। अतः जो चराचर जगत् में व्यापक जगदीश्वर है, उसका नाम विष्णु हैं। वेद में विष्णु का एक प्रधान कार्य यह बतलाया गया है कि वह तीन स्थानों में अपने पग रखता है[३]। इसका आशय यह है कि विष्णु परमेश्वर पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्यौ की त्रिलोकी में सर्वत्र व्याप्त है। यह भी कहा गया है कि उसके तीन पगों में समस्त भुवन आ जाते हैं।[४] इससे उसके पगों की महिमा और भी अधिक बढ़ जाती है, केवल पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्यौ तक ही सीमित नहीं रहती। उसका यह कार्य भी वर्णित किया गया है कि उसने पार्थिव लोकों की रचना की है और वह उत्तर सधस्थ अन्तरिक्ष और द्यौ को भी थामे हुए है। उसने तीन स्तरोंवाली पृथिवी और तीन स्तरोंवाले द्युलोक को धारण किया हुआ है।[५] पौराणिक परम्परा में ब्रह्मा, विष्णु और महेश इन त्रिदेवों में भी विष्णु का कार्य ब्रह्माण्ड को धारण करना ही है, जबकि ब्रह्मा और महेश क्रमशः जगत् का उत्पादन और संहार करते हैं। जो भी ब्रह्माण्ड के सञ्चालन का कार्य है वह सब विष्णु का है। ग्रहों

द्वारा सूर्य की परिक्रमा किया जाना, ऋतुचक्र और संवत्सरचक्र का चलना, बादल बनना, वर्षा होना, नदियाँ प्रवाहित होना, वनस्पतियों का उगना और बढ़ना, पतझड़ आना, पुनः वृक्षों का नये पत्र-परिधान से सज्जित, पुष्पित और फलित होना, पर्वतों पर बर्फ जमना, क्रम से दिन-रात्रियों का आना-जाना, नक्षत्र-लोकों का सञ्चालित होता, प्राणिजगत् का जनन-वर्धन-मरण होना आदि विष्णु के कर्मों पर जब हम दृष्टिपात करते हैं, तब आश्चर्यचकित होकर उसके प्रति नतमस्तक हो जाते हैं। इसलिए वेद कह रहा है कि हे मनुष्यो! विष्णु के कर्मों को देखो, सराहो और उसके प्रति सिर झुकाओ। विष्णु के कर्मों पर दृष्टिपात करने से यह बात भी हमारे सम्मुख आ जाती है कि वह सब कार्य व्रतों और नियमों के अनुसार ही कर रहा है। उसी के नियमबद्ध कर्मों को देख कर वैज्ञानिक लोग आकर्षणशक्ति आदि नियमों का आविष्कार करते हैं।

'विष्णु' जीवात्मा का सहयोगी सखा भी है। विष्णु है सर्वशक्तिमान् और जीवात्मा है अल्पशक्तिमान्। जीवात्मा शक्तिस्रोत विष्णु से सख्य स्थापित करके शक्तिमान् होता और प्रत्येक क्षेत्र में बड़े-बड़े ऐसे कार्य करने में समर्थ हो जाता है, जिन्हें देख कर उसे छोटा परमात्मा मानने की इच्छा होती है।

हे मनुष्यो! विष्णु से सायुज्य स्थापित करो, उससे मैत्री करो, उससे शक्ति की धारा ग्रहण करो और सशक्त होकर तुम भी एक छोटा संसार बना दो और उसका सञ्चालन करो।

पाद-टिप्पणियाँ

१. विष्लृ व्याप्तौ। वेवेष्टि व्याप्नोति चराचरं जगत् स विष्णुः—स०प्र०, समु० १
२. स्पश बाधनस्पर्शनयोः, भ्वादिः। पस्पशे स्पृशति गृह्णाति।
३. इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम्। —ऋ० १.२२.१७
४. यस्योरुषु त्रिषु विक्रमणेष्वधि क्षियन्ति भुवनानि विश्वा। —ऋ० १.१५४.२
५. य उ त्रिधातु पृथिवीभुत द्यामेको दाधार भुवनानि विश्वा। —ऋ० १.१५४.४

४१. तेरे सब अङ्गों की शक्ति बढ़े

ऋषिः मेधातिथिः । देवता विद्वांसः । छन्दः क. भुरिग् आर्ची त्रिष्टुप्, र. आर्षी पङ्क्तिः

कमनस्तऽआप्यायतां वाक् तऽआप्यायतां प्राणस्तऽआप्यायतां चक्षुस्तऽआप्यायताᳬ श्रोत्रं तऽआप्यायताम्। रयत्ते क्रूरं यदास्थितं तत्तऽआप्यायतां निष्ट्यायतां तत्ते शुध्यतु शमहोभ्यः । ओषधे त्रायस्व स्वधिते मैनᳬहिᳬसीः ॥

—यजु० ६।१५

हे शिष्य! मेरी शिक्षा से **(ते मनः आप्यायाम्[1])** तेरे मन की शक्ति बढ़े, **(ते वाक् आप्यायताम्)** तेरी वाणी की शक्ति बढ़े, **(ते प्राणः आप्यायताम्)** तेरी प्राणशक्ति बढ़े, **(ते चक्षुः आप्यायताम्)** तेरी आँख की शक्ति बढ़े, **(ते श्रोत्रम् आप्यायताम्)** तेरी श्रोत्र-शक्ति बढ़े। **(यत् ते क्रूरं)** जो तेरा क्रूर स्वभाव था **(यत् आस्थितं)** जो अब स्वस्थ हो गया है **(तत् ते आप्यायतां)** वह तेरा शान्त स्वभाव बढ़े। यदि तेरा अन्य कोई अङ्ग **(निष्ट्यायतां[2])** विकृत या अशुद्ध हो जाए **(तत् ते शुध्यतु)** वह तेरा अङ्ग शुद्ध हो जाए। तुझे **(शम्)** शान्ति प्राप्त हो **(अहोभ्यः)** सब दिनों के लिए। **(ओषधे)** हे ओषधिरूप आचार्य! आप अपने शिष्य की **(त्रायस्व)** दुर्गुणों और दुर्व्यसनों से रक्षा कीजिए। **(स्वधिते[3])** हे वज्र के समान कठोर आचार्य! **(एनं मा हिंसीः)** इस अपने शिष्य की हिंसा मत कीजिए।

दयानन्दभाष्य में यह मन्त्र आचार्य की ओर से शिष्य को कहा गया है। जब माता-पिता अपने पुत्र को गुरुकुल में प्रविष्ट करा देते हैं, तब उसके शारीरिक, मानसिक, आत्मिक, शैक्षणिक

विकास का और उसे सब दृष्टियों से योग्य बनाने का उत्तरदायित्व आचार्य का हो जाता है। अतः आचार्य कह रहा है कि मेरे शिक्षण से तेरे मन की शक्ति बढ़े। मन के द्वारा शिष्य मनन-चिन्तन करता है, अन्य ज्ञानेन्द्रियों से प्राप्त होनेवाले चाक्षुष, श्रावण आदि ज्ञान में भी मन माध्यम बनता है और मन शिव सङ्कल्प द्वारा उसके चरित्रवान् होने में भी कारण बनता है। अतः मन के बढ़ने का बहुत महत्त्व है। फिर आचार्य कहता है कि तेरी वाणी बढ़े, वाणी की शक्ति समुन्नत हो। शिष्य वाणी द्वारा ही मन्त्र, श्लोक, गीत आदि का उच्चारण करेगा, पठित पाठ को स्मरण करके आचार्य को सुनायेगा, भाषण-कला का अभ्यास करेगा। फिर शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य तथा पोषण के लिए प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान आदि प्राणमय कोष का समृद्ध और बलवान् होना भी आवश्यक है। जैसे धौंकनी द्वारा आग धौंकने से धातुओं के मल दग्ध हो जाते हैं, वैसे ही प्राणायाम से इन्द्रियों के दोष नष्ट हो जाते हैं। योग-क्रियाओं का भी मुख्य केन्द्र प्राण ही है। चक्षु की दृष्टिशक्ति और श्रोत्र की श्रवणशक्ति यदि न्यून हो जाए, तो भी शिष्य का विकास नहीं हो सकता। इनकी कार्यशक्ति भी बढ़ी रहनी चाहिए। इनके द्वारा शिष्य भद्र को ही देखे और भद्र को ही सुने इसका भी ध्यान रखा जाना चाहिए। यदि शिष्य का स्वभाव क्रूर है, तो आचार्य द्वारा उसे मधुर और शान्त किया जाना आवश्यक है और स्वभाव का माधुर्य निरन्तर बढ़ते रहना चाहिए। अन्यथा वह काम, क्रोध आदि विकारों को जन्म देगा। इन परिगणित शक्तियों और अङ्गों के अतिरिक्त भी यदि शिष्य के मस्तिष्क, हृदय, रक्तसंस्थान, पाचनसंस्थान आदि में या मन, बुद्धि, चित्त, आत्मा आदि में कोई विकार या दोष आ जाता है, तो आचार्य द्वारा उसे भी शुद्ध किया जाना चाहिए। शिष्य को सब दिनों में शान्ति प्राप्त रहनी चाहिए, मानसिक अशान्ति रहने से सभी कार्यों को करने में बाधा उपस्थित हो सकती है।

अथर्ववेद के ब्रह्मचर्यसूक्त में आचार्य की विशेषताएँ बताते हुए उसे 'ओषधि'[४] भी कहा गया है, क्योंकि वह उसके शारीरिक और मानसिक रोगों को दूर करता है। अतः प्रस्तुत मन्त्र कहता है कि हे ओषधिरूप आचार्य, आप शिष्य की दुर्गुणों, दुर्व्यसनों व रोगों से रक्षा भी कीजिए। आचार्य शिष्य के प्रति मृदु होने के साथ-साथ वज्र के समान कठोर भी होता है, तभी वह तपस्या और नियमपालन करा पाता है। परन्तु वह कठोरता शिष्य की हिंसा या हानि के लिए नहीं, प्रत्युत उसके कल्याण के लिए होती है।

हे शिष्य! तू आचार्याधीन वास करके सर्वगुणसम्पन्न बन और हे आचार्यवर! आप उसे अपनी विद्या और चारित्र्य की संजीवनी बूटी से सर्वोन्नत जीवन प्रदान कीजिए।

पाद-टिप्पणियाँ

१. प्यायी वृद्धौ, भ्वादिः।

२. नि-ष्ट्यै शब्दसंघातयोः, भ्वादिः।

३. स्वधिति=वज्र, निघं० २.२०।

४. आचार्यो मृत्युर्वरुणः सोम ओषधयः पयः। अ० ११.५.१४

४२. उद्‌बोधन

ऋषिः दीर्घतमाः। देवता अग्निः। छन्दः क. प्राजापत्या अनुष्टुप्, र. आर्ची पङ्क्तिः, उ. दैवी पङ्क्तिः।

क सं ते मनो मनसा सं प्राणः प्राणेन गच्छताम् ।
र रेडस्यग्निष्ट्वा श्रीणात्वापस्त्वा समरिणन्वातस्य त्वा ध्राज्यै
पूष्णो रंह्या ऊष्मणो व्यथिषत्प्र उ युतं द्वेषः ॥

—यजु० ६।१८

हे मानव! (**ते मनः**) तेरा मन (**मनसा**) मनन से, और (**प्राणः**) प्राण (**प्राणेन**) महाप्राण से (**सं गच्छताम्**) मिले। तू (**रेड्[1] असि**) शत्रु-हिंसक है। (**अग्निः**) अग्नि (**त्वा**) तुझे (**श्रीणातु[2]**) परिपक्व करे। (**आपः**) नदियाँ (**त्वा**) तुझे (**समरिणन्[3]**) संघर्षरत करें। (**त्वा**) तुझे (**वातस्य**) वायु की (**ध्राज्यै[4]**) गति के लिए, और (**पूष्णः**) सूर्य के (**रंह्यै[5]**) वेग के लिए [प्रेरित करता हूँ]। प्रत्येक मनुष्य (**ऊष्मणः**) ऊष्मा से (**व्यथिषत्[6]**) व्यथित हो। उससे (**द्वेषः**) द्वेष (**प्रयुतं[7]**) पृथक् रहे।

हे मानव! तू स्वयं को अल्प शक्तिवाला मत समझ। तू विराट् शक्ति का पुंज है। आवश्यकता इस बात की है कि तू अपनी शक्ति को पहचाने। तू प्रकृति से सन्देश ले और आगे बढ़। देख, तू अपने मन से मनन कर, दृढ़ सङ्कल्प कर, शिव सङ्कल्प कर और उसे पूरा करने की ठान ले। कोई बाधा तुझे सङ्कल्प पूरा करने से रोक नहीं सकेगी। अपने प्राण को महाप्राण से संयुक्त कर। तू संसार का सर्वोच्च प्राणी है, तेरे प्राण में वह शक्ति है, जो सागर को सुखा दे, पर्वत को मैदान बना दे, बड़े से बड़े सम्राट् को भिक्षुक बना दे और भिक्षुक के सिर पर राजमुकुट रख दे। तेरी हुङ्कार से महाबली शत्रु का भी दर्प चूर हो सकता है, तेरा मनोवल यमराज को भी पराजित कर सकता है। तेरी साँस मृत को भी जीवन प्रदान

कर सकती है। तू 'रेड्' है, शत्रु-हिंसक है, विघ्न बाधाओं को निरस्त करनेवाला है, आततायी को विध्वंस्त कर सकनेवाला है, वैरी को निहत्था और पंगु कर सकता है, संहारक का संहार कर सकता है। तेरे अन्दर अग्नि जलनी चाहिए, ज्वाला धधकनी चाहिए, उससे तू परिपक्व होगा, तेरी न्यूनताएँ दूर होंगी, तेरा कच्चापन निरस्त होगा, तू आग बनकर धधकेगा। तू नदियों से संघर्ष करना सीख। नदियाँ अपने अदम्य प्रवाह से पहाड़ों को तोड़ती हुई, वृक्षों को गिराती हुई, चट्टानों को लाँघती हुई आगे ही आगे बढ़ती जाती हैं। तू भी मार्ग की रुकावटों से सङ्घर्ष कर, रुकावटें खड़ी करनेवालों से सङ्घर्ष कर, आगे ही आगे बढ़ता चल। तू वायु की गति से चल, चंझावात बनकर उमड़। तू सूर्य का वेग धारण कर। सूर्य स्वयं तीव्रता से घूम रहा है और ग्रह-उपग्रहों को अपने चारों ओर घुमा रहा है। तू भी सूर्य के समान केन्द्र में रहकर अन्य राष्ट्रों को अपने चारों ओर घुमा, उनकी गतिविधि का निर्णायक बन। ध्यान रख, उत्कर्ष पाकर तू ऊष्मा से व्यथा मान, अहङ्कार की गर्मी से प्रताड़ित न हो। उत्कर्ष की पराकाष्ठा पर पहुँच कर भी तू विनम्र हो, विनयी हो, परमात्मा के सम्मुख झुक, महात्माओं के चरणों में मत्था टेक, संन्यासियों का आदर कर। शत्रु के दर्प का दलन कर, किन्तु मन में द्वेष किसी के प्रति मत रख। संहार और विजय कर्त्तव्यबुद्धि से कर, मन में द्वेष रख कर नहीं। पराजित शत्रुओं से भी सन्धि करके उन्हें अपना मित्र बना। तब शत्रु भी तेरा जयकार करेंगे।

पाद-टिप्पणियाँ

१. (रेड्) शत्रुहिंसकः। अत्र रिषतेर्हिंसार्थात् कर्तरि विच्—द०।
२. श्रीणातु परिपचतु। श्रीञ् पाके, क्र्यादिः।
३. सम् अरिणन् प्राप्नुवन्तु। रिणाति इति गतिकर्मसु पठितम्, निघं० २.१४—द०।
४. (ध्राज्यै) गत्यै। अत्र गत्यर्थाद् ध्रज धातोः 'इञजादिभ्यः' पा० ३.३.१०८ वार्तिक इति इञ् प्रत्ययः।
५. (रंह्यै) गत्यै—द०। रहि गतौ, भ्वादिः।
६. व्यथ भयसंचलनयोः, लेट् लकार।
७. प्र-यु मिश्रणामिश्रणयोः। प्रयुतं पृथक्।

४३. समुद्र में जा, अन्तरिक्ष में जा

ऋषिः—दीर्घतमाः। देवता—मनुष्यः। छन्दः—क. साम्नी उष्णिक्, ख. स्वराड् ब्राह्मी उष्णिक्, र. भुरिग् आर्षी उष्णिक्, उ. आर्षी उष्णिक्।

क समुद्रं गच्छ स्वाहाऽन्तरिक्षं गच्छ स्वाहा ख देवंᳪसवितारं गच्छ स्वाहा मित्रावरुणौ गच्छ स्वाहाऽहोरात्रे गच्छ स्वाहा छन्दांᳪसि गच्छ स्वाहा द्यावापृथिवी गच्छ स्वाहा र यज्ञं गच्छ स्वाहा सोमं गच्छ स्वाहा दिव्यं नभो गच्छ स्वाहाग्निं वैश्वानरं गच्छ स्वाहा उ मनो मे हार्दि यच्छ दिवं ते धूमो गच्छतु स्वर्ज्योतिः पृथिवीं भस्मनापृण स्वाहा॥ —यजु० ६।२१

हे मनुष्य! तू (**समुद्रं गच्छ**) समुद्र में जा (**स्वाहा**) जलयान रचने की विद्या से सिद्ध समुद्रयान द्वारा। (**अन्तरिक्षं गच्छ**) अन्तरिक्ष में जा (**स्वाहा**) खगोल विद्या से रचित विमान द्वारा। (**देवं सवितारं गच्छ**) द्योतमान सर्वोत्पादक परमेश्वर को प्राप्त कर (**स्वाहा**) वेदवाणी द्वारा। (**मित्रावरुणौ गच्छ**) प्राण और उदान को सिद्ध कर (**स्वाहा**) प्राणायामाभ्याससहित योगयुक्त वाणीद्वारा। (**अहोरात्रे गच्छ**) दिन-रात्रि को जान (**स्वाहा**) कालविद्या एवं ज्योतिषशास्त्र की वाणी द्वारा। (**छन्दांसि गच्छ**) ऋग्-यजुः-साम-अथर्व चारों वेदों को अध्ययन-अध्यापनपूर्वक श्रवण-मनन-निदिध्यासन-साक्षात्कार द्वारा ज्ञान का विषय बना (**स्वाहा**) वेदाङ्गादि विज्ञानसहित वाणी द्वारा। (**द्यावापृथिवी गच्छ**) सूर्य और पृथिवी को अर्थात् सब देशदेशान्तरों को ज्ञान का विषय बना (**स्वाहा**) भूमियान-अन्तरिक्षयान-भूगोल-भूगर्भ-खगोलविद्या द्वारा। (**यज्ञं गच्छ**) अग्निहोत्र, शिल्प, राजनीति आदि यज्ञ को प्राप्त कर (**स्वाहा**) यज्ञविद्या की वाणी द्वारा।

(सोमं गच्छ) सोमलता आदि ओषधि समूह को जान और प्रयुक्त कर **(स्वाहा)** वैद्यकशास्त्र की वाणी द्वारा। **(दिव्यं नभः गच्छ)** आकाशस्थ वृष्टिजल को प्राप्त कर **(स्वाहा)** विद्युद्विद्या की वाणी द्वारा। **(मे मनः)** मेरे मन को **(हार्दिं यच्छ)** प्रेम प्रदान कर। **(ते धूमः)** तेरी यन्त्रकलाओं की अग्नि का धुआँ और **(स्वः ज्योतिः)** चमकीली ज्योति **(दिवं गच्छतु)** आकाश में पहुँचे। तू **(पृथिवीं भस्मना आपृण)** भूमि को भस्म से भर दे **(स्वाहा)** कल-कारखानों की विद्या द्वारा।[१]

हे मानव! सङ्कल्प करने के लिए तुझे मन मिला है, निश्चयात्पक ज्ञान करने के लिए बुद्धि मिली है, ज्ञान की साधन ज्ञानेन्द्रियाँ तेरे पास हैं, कर्म करने के लिए कर्मेन्द्रियाँ और अङ्ग-प्रत्यङ्ग हैं। तुझ जैसा मूल्यवान् प्राणी ब्रह्माण्ड के किसी कोने में अन्य कोई नहीं है। तू इन साधनों का उपयोग करके उत्कर्ष को प्राप्त कर। प्रकृति की अद्‌भुत देन अग्नि, जल, वायु, भूमि, खुला आकाश, ओषधि, वनस्पति, पर्वत, समुद्र तुझे परमेश्वर की ओर से बिना मूल्य प्राप्त है। तू अपनी बुद्धि का प्रयोग करके नवीन-नवीन आविष्कार कर, अपने और समाज के लिए नये-नये सुखसाधन जुटा। तू आध्यात्मिक उन्नति भी कर और भौतिक क्षेत्र में भी उन्नति के शिखर पर पहुँच जा। तू योगाभ्यास कर, प्राणायाम की साधना कर, प्राण को ऊपर-ऊपर के चक्रों में ले जाता हुआ ऊर्ध्वारोहण कर। धारणा, ध्यान से समाधि तक पहुँच, अपने प्राण और उदान को सिद्ध कर। प्रणव को धनुष और अपने आत्मा को शर बनाकर ब्रह्मरूप लक्ष्य पर छोड़। द्योतमान, सर्वोत्पादक सविता प्रभु का साक्षात्कार कर। चारों वेद, वेदाङ्ग, दर्शनशास्त्र, भूगोल-खगोल-शास्त्र, वैद्यकशास्त्र आदि का अध्ययन कर। दिन-रात्रि-मास-ऋतु-अयन-संवत्सर आदि की कालविद्या को जान। अग्नि-यज्ञ, शिल्प-यज्ञ, वृष्टि-यज्ञ, राजनीति-यज्ञ आदि की यज्ञविद्या को जान। वृष्टि-विज्ञान को सीख, अनावृष्टि होने पर

बिना बादलों के वर्षा करा, अतिवृष्टि होने पर वृष्टि को रोकने की कला भी सीख। तू भूयान, जलयान और अन्तरिक्षयान बना। जलपोतों से समुद्र पार कर, अन्तरिक्ष में विमानों की उड़ान भर। प्रकृति के पदार्थों से विद्युत् उत्पन्न करके उसके प्रकाश से रात्रि को भी दिन में बदल दे, विद्युत् से कलायन्त्रों को भी चला। तेरे कारखानों का धूम आकाश में छा जाए। भूमि को यज्ञभस्म से और शिल्पशालाओं की भस्म से भर दे। तू इतनी वैज्ञानिक उन्नति कर कि परमात्मा की सृष्टि को भी चार चाँद लगा दे।

पाद-टिप्पणी

१. मन्त्रार्थ दयानन्दभाष्य से गृहीत। स्वाहा=वाक्, निघं० १.११। वाक्=वाणी, वाङ्मय, विद्या। गतेस्त्रयोऽर्थाः ज्ञानं गमनं प्राप्तिश्च।

४४. जल तथा ओषधियों की हिंसा मत करो

ऋषिः दीर्घतमाः। देवता वरुणः। छन्दः क. आर्षी त्रिष्टुप्, र. निचृद् अनुष्टुप्।

क मापो मौषधीर्हिंꣳसीर्धाम्नोधाम्नो राजँस्ततो वरुण नो मुञ्च। यदाहुरघ्न्याऽइति वरुणेति शपामहे ततो वरुण नो मुञ्च। र सुमित्रिया नऽआपओषधयः सन्तु दुर्मित्रियास्तस्मै सन्तु योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मः ॥

—यजु० ६।२२

हे **(वरुण राजन्)** वरणीय राजन्! **(मा अपः)** न जलों को, **(मा ओषधीः)** न ओषधियों को **(हिंसीः)** हिंसित या दूषित करो। **(धाम्नः धाम्नः)** प्रत्येक स्थान से **(ततः)** उस हिंसा या प्रदूषण से **(नः मुञ्च)** हमें छुड़ा दो। **(शपामहे)** हम शपथ लेते हैं कि **(यद् आहुः)** जो यह कहते हैं कि गौएँ **(अघ्न्याः इति)** अघ्न्या हैं, न मारने-काटने योग्य हैं, **(ततः)** उससे **(वरुण)** हे श्रेष्ठ राजन् **(नो मुञ्च)** हमें मत छुड़ा। **(सुमित्रियाः)** सुमित्रों के समान हों **(नः)** हमारे लिए **(आपः)** जल और **(ओषधयः)** ओषधियाँ, **(दुर्मित्रियाः तस्मै सन्तु)** दुर्मित्रों के समान उसके लिए हों **(यः अस्मान् द्वेष्टि)** जो हमसे द्वेष करता है, **(यं च वयं द्विष्मः)** और जिससे हम द्वेष करते हैं।

हे मानव! यदि तू शुद्ध साग-पात खाना चाहता है और शुद्ध जल पीना चाहता है, तो जल और ओषधियों को न प्रदूषित कर, न समाप्त कर। प्रदूषित जल पीने और प्रदूषित ओषधियों तथा उनके पत्र, पुष्प, अन्न, फल, फली आदि के

खाने से यह पवित्र नर-तन मलिनताओं और रोगों का अड्डा बन जाएगा। यदि जल और ओषधियाँ दुर्लभ हो जाएँ, तब तो मनुष्य का जीवन ही विपत्ति में पड़ जाएगा। हे श्रेष्ठ राजन्! हे प्रजा द्वारा प्रजा में से बहुसम्मति द्वारा चुने हुए राजन्! धाम-धाम में, स्थान-स्थान में इस जल-प्रदूषण और ओषधि-प्रदूषण तथा जल-विनाश और ओषधि-विनाश से लोगों को राजनियम द्वारा रोकिये। साथ ही राष्ट्र में गौओं का संरक्षण भी आवश्यक है, अतः जनता से प्रतिज्ञा करवाइये, हस्ताक्षर-अभियान प्रारम्भ करवाइये कि कहीं भी गोवध न हो, गौएँ मारी-काटी न जाएँ न ही गोमांस का भक्षण और व्यापार हो। यदि कोई गोमांस खाता है, तो उसे आजीवन कारावास का दण्ड दिया जाए। जल और ओषधियाँ हमारे साथ मित्र जैसा आचरण करें, अर्थात् जैसे मित्र मित्र को लाभ पहुँचाता है, वैसे ही शुद्ध जल और शुद्ध ओषधि-वनस्पतियाँ हमें लाभ पहुँचाएँ, शरीर की भूख-प्यास मिटाएँ, शरीर को स्वस्थ रखें और शरीर को पुष्ट करें। परन्तु समाज में ऐसे लोग भी हैं, जो पर्यावरणशुद्धि की ओर कुछ ध्यान नहीं देते, जान-बूझकर कूपों, सरोवरों तथा नदियों का जल प्रदूषित करते हैं, वनस्पतियों-ओषधियों को दूषित जल से सींचते हैं, दूषित खाद देते हैं वे जल और ओषधियों के भी द्वेषी हैं, हमारे भी द्वेषी हैं। उनके प्रति जल और ओषधियाँ मित्रवत् नहीं, अपितु दुर्मित्र या शत्रु के समान आचरण करें। हम जल और ओषधियों से मित्रवत् व्यवहार करते हैं, अतः हमें सुख दें, जो उनसे अमित्रवत् व्यवहार करते हैं, उनके प्रति वे भी अमित्र हों। तभी उन्हें शिक्षा मिलेगी।

४५. जिसके प्रभु रक्षक हैं

ऋषिः मधुच्छन्दाः । देवता अग्निः । छन्दः भुरिग् आर्षी गायत्री ।

यमग्ने पृत्सु मर्त्यमवा वाजेषु यं जुनाः ।
स यन्ता शश्वतीरिषः स्वाहा ॥

—यजु० ६ । २९

(**अग्ने**) हे अग्रनायक जगदीश्वर! आप (**यं मर्त्यम्**) जिस मनुष्य को (**पृत्सु**[1]) संग्रामों में, सङ्घर्षों में (**अवाः**[2]) रक्षित करते हो, (**यम्**) जिसे (**वाजेषु**) आन्तरिक बलों के निमित्त (**जुनाः**[3]) प्रेरित करते हो, (**सः**) वह (**यन्ता**[4]) प्राप्त कर लेता है (**शश्वतीः इषः**[5]) अविनश्वर इच्छासिद्धियों को, (**स्वाहा**[6]) यह कथन सत्य है।

जीवन में मनुष्य को अनेक सङ्घर्षों का सामना करना पड़ता है। कभी आध्यात्मिक सङ्घर्षों से जूझना पड़ता है, तो कभी बाह्य सङ्घर्षों से। काम, क्रोध आदि षड् रिपु ही उसे उद्विग्न किये रखने में पर्याप्त हैं। फिर हिंसा, असत्य, तस्करी, रिश्वतखोरी, धोखाधड़ी आदि अन्य मन के आन्तरिक शत्रुओं की अपार सेना उसे कवलित करने के लिए खड़ी रहती है। परन्तु इन अन्तःशत्रुओं से घबरा कर मनुष्य सङ्घर्षों पर विजय नहीं पा सकता। वह सङ्घर्षों का स्वागत करे और उन्हें परास्त करने का प्रयास करे, तो अग्रनेता प्रभु उसके सहायक होते हैं और उसकी रक्षा करते हैं। वे उसे संग्रामों तथा सङ्घर्षों में विजयी होने के लिए आन्तरिक बल प्रदान करते हैं। धन्य हैं वे लोग, जो आन्तरिक संग्रामों और सङ्घर्षों में परम प्रभु से रक्षा, मनोबल तथा विजयी होने का आशीर्वाद प्राप्त करते हैं। जितना ही अधिक अन्तःशत्रु मनुष्य को दबोचते हैं, उतना ही

अधिक साहस और अन्तर्बल मनुष्य को जुटाना होता है। यदि योगसाधक सचमुच इन आन्तरिक विपदाओं में प्रभुकृपा से विजयी हो जाए, तो अविनश्वर इच्छासिद्धियों को प्राप्त कर लेता है। कामदेव के जय से उसके चेहरे पर एक सात्त्विक तेज आ जाता है। क्रोध के जय से वह शत्रुओं को भी मित्र बना लेता है। लोभ के जय से उसमें दानशीलता एवं परोपकार-भावना घर कर लेती है। मोह के वश से राग-द्वेष उससे छूट जाते हैं तथा उसे वैराग्य की प्राप्ति हो जाती है। मद या अभिमान के जय से वह इतना विनयी बन जाता है कि उसकी बात को कोई टाल नहीं सकता। मत्सर के जय से वह सबके प्रति समदर्शी हो जाता है। हिंसा के जय से सब प्राणियों का उसके प्रति निर्वैर हो जाता है। असत्य के जय से वाणी में ऐसी शक्ति आ जाती है, जो सबको प्रभावित करती है। स्तेय के जय से सब वस्तुओं की प्राप्ति स्वयमेव होने लगती है। प्रभु जिसे अन्तर्युद्धों में रक्षा प्रदान करते हैं तथा अन्तर्बल की प्राप्ति करा देते हैं, उसे सचमुच ऐसी अमोघ दिव्य शक्तियाँ स्वतः प्राप्त हो जाती हैं।

पाद-टिप्पणियाँ

१. पृत्सु=संग्रामेषु। निघं० २.१७
२. अवाः अवसि रक्षसि। लेट्, 'इतश्च लोपः परस्मैपदेषु' पा० ३.४.९७, से इकारलोप, 'लेटोऽडाटौ' पा० ३.४.९४ से आट् का आगम।
३. जुनाः, जु गतौ, श्ना, सिप्, इतश्च लोपः परस्मैपदेषु।
४. यम धातुरत्र प्राप्त्यर्थः। 'तृजन्तमेतत्, आद्युदात्तत्वात्'—उवटः।
५. इषः इच्छासिद्धीः, इषु इच्छायाम्।

४६. हे माँ!

ऋषिः मधुच्छन्दाः। देवता अम्बा। छन्दः आर्षी उष्णिक्।

प्रागपागुदगधराक्सर्वतस्त्वा दिशऽआधावन्तु।
अम्ब निष्पर समरीर्विदाम् ॥

—यजु० ६।३६

(**अम्ब**) हे माता! (**प्राक्**) पूर्व से, (**अपाक्**) पश्चिम से, (**उदक्**) उत्तर से, (**अधराक्**) दक्षिण से, (**सर्वतः दिशः**) सब दिशाओं से, प्रजाएँ (**त्वा आधावन्तु**) तेरे पास दौड़कर आयें। तू (**अरीः**[१]) प्रजाओं को (**निष्पर**[२]) पालित-पूरित कर। वे प्रजाएँ तुझे (**सं विदाम्**[३]) प्रीतिपूर्वक जानें।

हम सामाजिक मनुष्यों के परस्पर कई प्रकार के सगे या कृत्रिम सम्बन्ध होते हैं। माँ और सन्तानों का बड़ा ही प्यारा मधुर सगा सम्बन्ध है। जब तक पुत्र-पुत्री अल्पवयस्क होते हैं, तब तक माता-पिता के ही आश्रित रहते हैं, किन्तु युवक-युवती होकर तथा पढ़-लिख कर योग्य बनकर विवाहोपरान्त वे अपना पृथक् संसार बना लेते हैं और अपना-अपना कार्य करने के लिए कोई पूर्व में, कोई पश्चिम में, कोई उत्तर में, कोई दक्षिण में चला जाता है। किन्तु माँ उनसे छूटती नहीं है, न वे माँ को भुला पाते हैं। जिस किसी भी दिशा में पुत्र-पुत्री बसे होते हैं, समय निकाल कर वहाँ से वे माता-पिता से मिलने आते हैं। माँ भी उनका दुलार करती है। उनकी कोई कठिनाई या समस्या होती है, तो उसका समाधान करती है और उन्हें आशीर्वाद देती है। वे कितने ही बड़े हो गये हों, किन्तु माँ के लिए तो पुत्र-पुत्रियाँ ही हैं। मन्त्र कह रहा है कि हे माँ! सन्तानें सब दिशाओं से तेरे पास दौड़ती चली आयें

और तू उनका पालन-पूरण कर, उन्हें प्यार और आशीष दे, उन्हें किसी अन्य वस्तु की आवश्यकता है, तो वह भी उन्हें भरपूर प्रदान कर। किन्तु सन्तानों का भी कुछ कर्त्तव्य है। वे भी माँ के प्रति सद्भाव प्रकट करें, उसके प्रति प्रेम और आदर प्रदर्शित करें तथा वे भी उसका पालन-पूरण करें। ऋषि अपने भाष्य में लिखते हैं—"माता-पिता को योग्य है कि अपने सन्तानों को विद्या आदि सद्गुणों में प्रवृत्त करके निरन्तर उनकी रक्षा करें और सन्तानों को योग्य है कि माता-पिता की सब प्रकार से सेवा करें।"

हे राजरानी! तुम भी राष्ट्र की प्रजाओं की माँ हो, सब दिशाओं में तुम्हारी प्रजाएँ फैली हुई हैं। वे तुम्हारा आशीष पाने के लिए तुम्हारे पास दौड़कर आयेंगी, तुम उनका निवेदन सुनो, उन्हें न्याय दो, उनके कष्ट दूर करो, उन पर अपना आशीर्वाद बरसाओ। वे भी तुम्हें आदर देंगी, तुम पर विश्वास प्रकट करेंगी और तुम्हारे प्रति अपनी राजभक्ति प्रदर्शित करेंगी।

हे जगदीश्वरी! तुम भी हमारी माँ हो, हम सब तुम्हारी सन्तानें हैं। हम बालक-बालिकाओं के समान दौड़कर तुम्हारी गोदी में आ रहे हैं, स्तुति-प्रार्थना-उपासना से तुम्हें रिझा रहे हैं। हमें किस वस्तु की आवश्यकता है, यह तुम स्वयं देखो और माँ की मुस्कराहट के साथ हमारी ओर निहार कर हमें गद्गद करो।

पाद-टिप्पणियाँ

१. प्रजा वा अरीः। श० ३.९.४.२१

२. पृ पालनपूरणयोः, जुहोत्यादिः। पर=पिपृहि।
विकरणव्यत्यय, लोट्।

३. संविदाम् संविदताम्। विद ज्ञाने, लोपस्त आत्मनेपदेषु, पा० ७.१.४१ से तकार-लोप।

४७. प्रभु का अमर नाम सोम

ऋषिः गोतमः। देवता सोमः। छन्दः निचृद् आर्षी पङ्क्तिः।

मधुमतीर्नऽइषस्कृधि यत्ते सोमादाभ्यं नाम जागृवि
तस्मै ते सोम सोमाय स्वाहा स्वाहोर्वुन्तरिक्षमन्वेमि ॥

—यजु० ७।२

(**नः इषः**[१]) हमारी इच्छाओं को (**मधुमतीः**) मधुर (**कृधि**) कर। (**यत् ते**) जो तेरा (**सोम**) हे सोम (**अदाभ्यं**[२] **नाम**) अदभ्य अमर नाम है, वह हमारे सम्मुख (**जागृवि**) सदा जागृत रहे। (**तस्मै ते सोमाय**) उस तेरे सोम नाम का (**सोम**) हे परमात्मन् (**स्वाहा**[३]) हम सुप्रचार करते हैं। (**स्वाहा**[४]) हम तुझे आत्मसमर्पण करते हैं। तेरी कृपा से मैं (**उरु अन्तरिक्षं**) विस्तीर्म अन्तरिक्ष में (**अन्वेमि**[५]) पहुँच रहा हूँ।

हम जो इच्छाएँ करते हैं, वे मधुर भी हो सकती हैं और कटु भी। क्या ही अच्छा हो नदी में बाढ़ आ जाए और नदी-किनारे बसा यह नया नगर उजड़ जाए, इस विशाल दस-मञ्जिले भवन पर बिजली गिर जाए तो कैसा अच्छा हो, अन्तरिक्ष में उड़ते हुए इस वायुयान में आग लग जाए, तो इन उड़ाकुओं को धनी होने का मजा मिल जाए, ऐसी इच्छाएँ कटु कहलाती हैं। इनके विपरीत जनकल्याण की भावनाएँ मधुर इच्छाओं की श्रेणी में आती हैं। यथा, संसार में सब लोग ईश्वरपूजक, धर्मात्मा और सुखी हों, सब राष्ट्र परस्पर प्रेम से रहें और विश्वशान्ति का स्वप्न पूरा हो। हम शान्ति के अग्रदूत सोम प्रभु से याचना करते हैं कि हमारे अन्दर मधुर इच्छाएँ ही जन्म लें। हम अपने पड़ोसी का हित चाहें और समस्त

संसार के हित की कामना करें। सुख, शान्ति, सरसता बरसानेवनाला प्रभु का 'सोम' नाम अमर है। हम चाहते हैं कि वह हमारे सम्मुख सदा जागृत रहे, जिससे हम संसार की सुख, शान्ति एवं सरसता की मधुर इच्छाएँ सदा अपने मन में संजोते रहें और उनकी पूर्ति के लिए प्रयत्नशील हों। हे प्रभु! हम तुम्हारे सोम नाम की 'स्वाहा-ध्वनि' करते हैं, उसका जन-जन में सुप्रचार करते हैं, जिससे सारा जन-समुदाय शान्ति का उपासक बन जाए। हे सोम प्रभु! हम तुम्हारे प्रति अपने आत्मा को 'स्वाहा' करते हैं, तुम्हें आत्म-समर्पण करते हैं। हे सोम! तुम्हारी कृपा, तुम्हारी सदिच्छा, तुम्हारी प्रेरणा, तुम्हारा आशीर्वाद हमें प्राप्त हो जाए, तो हम नीले गगन में चमकाए हुए तुम्हारे चाँद के समान अन्तरिक्ष में पहुँच सकते हैं, पृथिवी से उठकर उन्नति के शिखर पर आसीन हो सकते हैं। तुम्हारी सत्प्रेरणा से हमने उड़ान भरनी प्रारम्भ कर दी है। अब हम ऊर्ध्वयात्रा करते-करते विशाल वैज्ञानिक अन्तरिक्ष में जा पहुँचे हैं। सर्वसाधारण भी अपेक्षा बहुत ऊँचे आध्यात्मिक स्तर पर भी पहुँच गये हैं। अब हम तुम्हारे बनाये सौम्य चन्द्रमा के समान चमक रहे हैं, धरती पर सरसता का स्रोत बहा रहे हैं। हे प्रभु, तुम स्वयं 'सोम' हो, तुमने हमें भी 'सोम' बना दिया है। हम तुम्हारे प्रति नमन करते हैं।

पाद-टिप्पणियाँ

१. इषु इच्छायाम्, तुदादिः।
२. अदाभ्यम् अहिंसनीयम्—द०। दभ्नोति वधकर्मा, निघं० २.१९।
३. सु-आह=स्वाहा।
४. सु-आ-हा धातु त्यागार्थक, सुन्दर रूप से सर्वतः समर्पण।
५. अनु-इण् गतौ, अदादिः।

४८. योगैश्वर्य का पान कर

ऋषिः गोतमः। देवता मघवा। छन्दः आर्षी उष्णिक्।

उपयामगृहीतोऽस्यन्तर्यच्छ मघवन् पाहि सोमम्।
उरुष्य रायऽएषो यजस्व ॥

—यजु० ७।४

हे साधक! तू (**उपयामगृहीतः असि**) यम-नियमों से गृहीत है, (**अन्तः यच्छ**) आन्तरिक नियन्त्रण कर। (**मघवन्**) हे योगैश्वर्ययुक्त! तू (**सोमं पाहि**) समाधिजन्य आनन्दरस का पान कर। (**रायः**) ऐश्वर्यों को (**उरुष्य**[१]) रक्षित कर। (**इषः**[२]) इच्छासिद्धियों को (**आ यजस्व**) प्राप्त कर।

हे साधक! यह प्रसन्नता का विषय है कि तूने योगमार्ग पर चलना आरम्भ किया है, तू योगप्रसिद्ध यम-नियमों को ग्रहण कर रहा है। योगशास्त्र में अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ये पाँच यम कहलाते हैं। अष्टाङ्ग योग में सर्वप्रथम ये ही आते हैं, क्योंकि जब तक साधक इन्हें क्रियान्वित नहीं कर लेता, तब तक योग के अगले सोपानों पर चढ़ना कठिन होता है। हे साधक! तू यम-नियमों को अङ्गीकार करके अपने आन्तरिक नियन्त्रण में लग जा, अपने इन्द्रिय, मन, बुद्धि और आत्मा को साध, कुमार्ग पर जाने से रोक, अन्तर्मुख कर। इस प्रकार तू शनैः-शनैः योगैश्वर्यों से युक्त होता चलेगा। तूआसन, प्राणायाम, धारणा, ध्यान के पड़ावों से गुजरता हुआ समाधि की स्थिति तक पहुँच जाएगा। 'समाधि' की स्थिति को पाकर तू समाधिजन्य आनन्दरसरूप 'सोम' को रक्षित कर उसका पान कर। साधना में अग्रसर रहते हुए यदि कोई विघ्न तेरे मार्ग में बाधक बन कर आयें,

तो उनसे तू योगैश्वर्यों की रक्षा करता रह, क्योंकि यदि तू उनके वश में हो जाएगा, तो तेरी सारी उपलब्धि मिट्टी में मिल जाएगी। यदि तू विघ्नों से पराजित नहीं होगा, तो योग की राह तुझे अनेक इच्छासिद्धियों को प्राप्त करा सकेगी। तब तू इच्छामात्र से पापी को पुण्यात्मा बना सकेगा, अधर्मात्मा को धर्मात्मा बना सकेगा, अभद्र को सर्वतोभद्र बना सकेगा, असुन्दर को सुन्दर बना सकेगा, निन्दास्पद को यशस्वी कर सकेगा। योग की पराकाष्ठा पर पहुँच कर तो तू अनबरसते बादलों को भी बरसा सकेगा, भूकम्प के निर्भय झटकों को आनन्द के झूले में परिवर्तित कर सकेगा, सागर के उत्पीडक तूफान को मनभावनी लहरों में बदल सकेगा, विश्व को विपत्ति से पार लगा सकेगा। इतने ऊँचे योगी आज दुर्लभ हैं। हे साधक! प्रभुकृपा से तेरी साधना सफल हो।

पाद-टिप्पणियाँ

१. उरुष्यतिः रक्षाकर्मा, निरु० ५.२३।

२. एषः=आ इषः। इषु इच्छायाम्।

४९. तेरे अन्दर भी द्यावापृथिवी और अन्तरिक्ष हैं

ऋषिः गोतमः। देवता ईश्वरः। छन्दः आर्षी पङ्क्तिः।

अन्तस्ते द्यावापृथिवी दधाम्यन्तर्दधाम्युर्वन्तरिक्षम्।
सजूर्देवेभिरवरैः परैश्चान्तर्यामे मघवन् मादयस्व॥

—यजु० ७।५

ईश्वर कह रहा है—हे योगसाधक **(ते अन्तः)** तेरे अन्दर **(द्यावापृथिवी)** द्युलोक और पृथिवीलोक को **(दधामि)** रखता हूँ। **(अन्तः दधामि)** अन्दर रखता हूँ **(उरु अन्तरिक्षम्)** विशाल अन्तरिक्ष को। **(अवरैः परैः च देवेभिः)** अवर और पर देवों से **(सजूः[१])** समान प्रीतिवाला होकर **(अन्तर्यामे)** अन्तर्यज्ञ में **(मघवन्)** हे योगैश्वर्य के धनी! तू **(मादयस्व[२])** स्वयं को आनन्दित कर।

हे मानव! तू अन्तर्यज्ञ रचा। देख, बाहरी सृष्टि में सूर्य, पृथिवी, अन्तरिक्ष मिलकर यज्ञ रचा रहे हैं। सूर्य पृथिवी को प्रकाश और ताप देता है। वही अपनी किरणों से पार्थिव जल को भाप बना कर अन्तरिक्ष में ले जाता और बादल बनाता है। बादलों से वृष्टि करके शुष्क भूमि को सरस करता है, उस पर हरियाली पैदा करता है। अन्तरिक्ष चन्द्र द्वारा भूमि को शीतलता पहुँचाता है और सौम्य प्राण देकर जड़-चेतन को परिपुष्ट करता है। पृथिवी भी अपने अन्दर जो ऐश्वर्य भरा पड़ा है, जो पवन, नीर, अग्नि, सोना, चाँदी, हीरे, मूँगे आदि अमूल्य द्रव्यों की निधि रखी हुई है, उसे अपने पास न रख कर दूसरों के उपयोग के लिए दे देती है। सूर्य, पृथिवी और अन्तरिक्ष अलग-अलग भी परोपकाररूप यज्ञ कर रहे हैं और

परस्पर सामञ्जस्य द्वारा भी जनकल्याण का यज्ञ रचा रहे हैं। हे साधक! तू यह मत समझ कि सूर्य, पृथिवी, अन्तरिक्ष केवल बाहर ही हैं, प्रत्युत तेरे शरीर के अन्दर भी ये विद्यमान हैं। तेरा आत्मा सूर्य है, तेरा शरीर या अन्नमयकोष पृथिवी है। तेरे प्राणमय, मनोमय और विज्ञानमय कोष अन्तरिक्ष हैं, जिनमें प्राण, मन और बुद्धि निवास करते हैं। इनमें तू परस्पर सामञ्जस्य उत्पन्न करके अन्तर्यज्ञ रचा। तेरा आत्म-सूर्य देहस्थ इन्द्रियों को तथा अन्तरिक्षस्थ प्राण, मन एवं बुद्धि को सुप्रकाशित करता रहे, अपने ताप से इनके दोषों को दग्ध करता रहे और ये सब मिलकर आत्मा को ज्ञान आदि से परिपुष्ट करते रहें। साथ ही अन्तर्यज्ञ रचाने के लिए तुझे अपने इन्द्रिय, प्राण, मन एवं बुद्धि को सुप्रकाशित करता रहे, अपने ताप से इनके दोषों को दग्ध करता रहे और ये सब मिलकर आत्मा को ज्ञान आदि से परिपुष्ट करते रहें। साथ ही अन्तर्यज्ञ रचाने के लिए तुझे अपने इन्द्रिय, प्राण, मन, बुद्धि एवं आत्मा को अन्तर्मुख करना होगा। पूर्णतः बहिर्मुख रहते हुए ये अन्तर्यज्ञ के यजमान एवं होता, उद्गाता, अध्वर्यु तथा ब्रह्मा नहीं बन सकते। अन्तर्यज्ञ में तू अपने आत्मा को यजमान बना, मन को ब्रह्मा बना, चक्षु-श्रोत्र आदि को होता बना, वाणी को उद्गाता बना, प्राण को अध्वर्यु बना। तू शरीरस्थ अवर और पर दोनों देवों से सहयोग ले। इन्द्रियाँ और प्राण अवर देव हैं, आत्मा, मन, बुद्धि पर कोटि के देव हैं। इनके द्वारा योगसाधना करता हुआ तू परब्रह्म को प्राप्त करके ब्रह्मानन्द का अनुभव कर। यह ब्रह्मानन्द एवं सांसारिक आनन्दों से बढ़कर है। लाखों सांसारिक आनन्द मिलकर भी एक ब्रह्मानन्द की बराबरी नहीं कर सकते, ऐसा योगी ऋषियों ने अपने अनुभव से बताया है।

पाद-टिप्पणियाँ

१. सजूः समानजोषणः समानप्रीतियुक्तः—म०।
   जुषी प्रीतिसेवनयोः, तुदादिः।
२. मदी हर्षे, माद्यति, दिवादिः। णिच्, मादयस्व।

५०. योगविद्या के प्रचारार्थ विद्वान् योगी का आह्वान

ऋषिः देवश्रवाः। देवता यज्ञपतिः। छन्दः ब्राह्मी बृहती।

आत्मने मे वर्चोदा वर्चसे पवस्वौजसे मे वर्चोदा वर्चसे पवस्वायुषे मे वर्चोदा वर्चसे पवस्व विश्वाभ्यो मे प्रजाभ्यो वर्चोदसौ वर्चसे पवेथाम्॥ —यजु० ७।२८

हे (**वर्चोदाः**[१]) योगविद्या और ब्रह्मविद्या के दाता योगी विद्वन्! आप (**मे आत्मने**) मेरे आत्मा के लिए (**वर्चसे**) योगवर्चस और ब्रह्मवर्चस प्रदानार्थ (**पवस्व**) प्रवृत्त हों। हे (**वर्चोदाः**) वर्चस्विता के दाता! आप (**मे ओजसे**[२]) मेरे आत्मबल के लिए (**वर्चसे**[३]) योगबलप्रदानार्थ (**पवस्व**) प्रवृत्त हों। हे (**वर्चोदाः**[४]) देहबल के दाता! आप (**मे आयुषे**) मेरे दीर्घायुष्य के लिए (**वर्चसे**) शारीरिक बल प्रदानार्थ (**पवस्व**) प्रवृत्त हों। हे (**वर्चोदसौ**) योगदाता हठयोगी और ध्यानयोगी विद्वानो! आप दोनों (**मे विश्वाभ्यः प्रजाभ्यः**) मेरी सब प्रजाओं के लिए (**वर्चसे**) ब्रह्मबलप्रदानार्थ (**पवेथाम्**) प्रवृत्त हों।

मैंने सांसारिक विद्याएँ तो बहुत सीख ली हैं और उनका विद्वान् कहलाने का सौभाग्य भी प्राप्त कर लिया है, किन्तु योगविद्या और ब्रह्मविद्या में अभी कोरा ही हूँ। अनुभवी लोग बताते हैं कि शरीर, मन, मस्तिष्क, आत्मा सबके विकास के लिए योग और ब्रह्मविद्या की शिक्षा आवश्यक है। अतः मैं योगी गुरु की शरण में आया हूँ। हे योगसाधना और ब्रह्मविद्या में पारङ्गत योगी विद्वन्! आप मेरे आत्मा के उत्कर्ष के लिए योग की क्रियाएँ सिखाइये, जिससे में ब्रह्मवर्चस प्राप्त कर सकूँ। आप मुझे यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार,

धारणा, ध्यान, समाधि रूप अष्ट योगाङ्गों में निष्णात कर दीजिए। ध्यानयोग के अभ्यास से मुझे ऐसी सिद्धि प्राप्त कराने की कृपा कीजिए कि मैं जिस विषय में भी जितनी भी देर मन को केन्द्रित करना चाहूँ कर सकूँ और मन को निर्विषय भी कर सकूँ तथा सविकल्पक और निर्विकल्पक समाधि का भी आनन्द ले सकूँ। आप मुझे ब्रह्मविषयक सम्पूर्ण शास्त्रज्ञान और ब्रह्मसाक्षात्कार भी कराने का अनुग्रह कीजिए।

हे वर्चस्विता के दाता योगी गुरुवर! मैंने सुना है कि आत्मा में बहुत बड़ी-बड़ी शक्तियाँ निहित हैं। जिसने आत्मसाधना कर ली है, वह योगी जिसे जो आशीर्वाद दे देता है, वह सत्य सिद्ध हो जाता है। आत्मबल बड़े-बड़े शक्तिशाली विद्युत्-यन्त्रों से भी बड़ा है, आत्मबल धरती को कहीं से कहीं फेंक देनेवाले अणुबम से भी बड़ा है, आत्मबल ग्रह-उपग्रहों को अपनी परिक्रमा करानेवाले सूर्य के बल से भी बड़ा है।

हे देहबल के दाता योगी आचार्यवर! योगविद्या से आप मेरे शरीर में वह शक्ति भर दीजिए कि मैं दीर्घायुष्य प्राप्त कर सकूँ। वेद ने प्राण, चक्षु आदि के लिए त्र्यायुष अर्थात् तीन सौ वर्ष की आयु प्राप्त करने की बात कही है। मैं उससे भी आगे बढ़कर इच्छामरण की शक्ति प्राप्त कर सकूँ। हे योग-शिक्षाप्रदाता हठयोगी और ध्यानयोगी विद्वानो! आप कृपा करके केवल मुझे ही नहीं, मेरी सब प्रजाओं को योगबल और ब्रह्मबल प्रदानार्थ प्रवृत्त होने की कृपा करें, जिससे मैं और मेरी सब प्रजाएँ दीर्घायु, आत्मबली और ब्रह्मबली बन सकें।

पाद-टिप्पणियाँ

१. (वर्चोदाः) योगब्रह्मविद्याप्रद—द०।
२. (ओजसे) आत्मबलाय—द०।
३. (वर्चसे) योगबलप्रकाशाय—द०।
४. (वर्चोदाः) वर्चो बलं ददाति तत्सम्बुद्धौ—द०।

५१. बालक का गुरुकुल-प्रवेश

ऋषिः गृत्समदः । देवता विश्वेदेवाः । छन्दः क. आर्षी गायत्री, र. निचृद् आर्षी उष्णिक् ।

क विश्वे देवास आगत शृणुता म इमꣳहवम् ।
एदं बर्हिर्निषीदत । र उपयामगृहीतोऽसि विश्वेभ्यस्त्वा
देवेभ्यऽएष ते योनिर्विश्वेभ्यस्त्वा देवेभ्यः ॥

—यजु० ७।३४

शिष्य कहता है—(**विश्वे देवासः**) हे सब विद्वान् गुरुजनो! (**आ गत**[1]) आओ, (**शृणुत**[2]) सुनो (**मे**) मेरे (**इमं हवम्**) इस पढ़ाये हुए पाठ को, (**इदं बर्हिः**) इस कुशासन पर (**निषीदत**) बैठो। आगे माता-पिता बालक को कहते हैं—(**उपयामगृहीतः**[3] **असि**) तू यम-नियमों से जकड़ा हुआ है। हमने (**त्वा**) तुझे (**विश्वेभ्यः देवेभ्यः**) सब विद्वान् गुरुओं को सौंपा है, (**एषः**) यह गुरुकुल (**ते योनिः**[4]) तेरा घर है। हमने (**त्वा**) तुझे (**विश्वेभ्यः देवेभ्यः**) सब दिव्य गुणों की प्राप्ति के लिए [गुरुकुल में प्रविष्ट किया है]।

वैदिक शिक्षापद्धति के अनुसार माता-पिता द्वारा गुरुकुल में प्रविष्ट कराया गया बालक गुरुजनों का ही हो जाता है। आचार्य के साथ उसका पिता-पुत्र का सम्बन्ध होता है। आचार्य उसका पिता और सावित्री (गायत्री ऋचा) उसकी माता होती है। प्रस्तुत मन्त्र के पूर्वभाग में गुरुकुल में प्रविष्ट शिष्य गुरुजनों को आदर के साथ बुलाता हुआ कह रहा है कि हे सब विद्वान् गुरुजनो! आओ, इस कुशानिर्मित आसन पर बैठो, आप जो पाठ पढ़ा चुके हैं, उसे सुनो। इससे सूचित होता है कि गुरुजनों का यह कर्त्तव्य है कि वे दैनिक, साप्ताहिक, पाक्षिक, मासिक, त्रैमासिक, षाण्मासिक, वार्षिक

परीक्षाएँ शिष्यों की लिया करें[5], जिससे उन्हें शिष्यों की प्रगति और योग्यता का ज्ञान होता रहे तथा शिष्य भी पाठ में अपनी दुर्बलता या सबलता जानकर तदनुसार पाठ की तैयारी में ध्यान दिया करें।

मन्त्र के उत्तरार्ध में गुरुकुल में बालक से मिलने तथा अध्ययन में उसकी प्रगति जानने के लिए आये हुए माता-पिता घर लौटते समय बालक को कह रहे हैं। हे बालक! तू यम-नियमों से या संस्था के नियमों-उपनियमों से जकड़ा हुआ है, इस बात का सदा ध्यान रखना। गुरुकुल में तू केवल विद्याध्ययन के लिए नहीं आया है, अपितु चरित्रनिर्माण भी तेरे गुरुकुल-प्रवेश का उद्देश्य है। अतः गुरुकुल के किसी नियम की अवहेलना मत करना। हम तुझे विद्वान् गुरुओं को सौंप चुके हैं। अब वे ही तेरे विद्याप्रदाता, आचारनिर्माता और सर्वहितकर्ता हैं। अब वे ही तेरे माता-पिता भी हैं। हम तो तुम्हारे आचार्यों से स्वीकृति लेकर कभी-कभी ही तुम्हारी अध्ययन, व्यायाम, व्रतपालन में प्रगति देखने के लिए तुम्हारे पास आ सकते हैं। इस गुरुकुल को ही अपना घर समझो। यह भी ध्यान रखो कि सभी वेदों, आर्ष शास्त्रों, दिव्य गुणों एवं दिव्य व्रतों की प्राप्ति के लिए हमने तुम्हें गुरुकुल में भेजा है। अतः दत्रचित्त होकर सभी विद्याओं का अध्ययन एवं व्रतों का पालन करते हुए तुम विद्यास्नातक एवं व्रतस्नातक बनकर समावर्तन संस्कार के पश्चात् हमारे पास घर आओगे।

पाद-टिप्पणियाँ

१. आगत=आगच्छत, छान्दस रूप।
२. शृणुता=शृणुत, छान्दस दीर्घ।
३. (उपयामगृहीतः) अध्यापननियमैः स्वीकृतः ७.३३—द०।
४. योनिः=गृह, निघं० ३.४।
५. द्रष्टव्य, ऋ० ४.३.७ द०भा० का भावार्थ—'अध्यापक लोगों को विद्यार्थियों को पढ़ा के प्रत्येक अठवाड़े, प्रत्येक पक्ष, प्रतिमास, प्रति छमाही और प्रति वर्ष परीक्षा यथायोग्य करनी चाहिए'।

५२. ब्राह्मण गुरु को प्राप्त करूँ

ऋषिः अङ्गिरसः। देवता ब्राह्मणः। छन्दः भुरिग् आर्षी त्रिष्टुप्।

ब्राह्मणमद्य विदेयं पितृमन्तं पैतृमत्यमृषिमार्षेयꣳसुधातुदक्षिणम्।
अस्मद्राता देवत्रा गच्छत प्रदातारमाविशत ॥

—यजु० ७।४६

मैं (**अद्य**) आज (**ब्राह्मणं**) ब्राह्मण गुरु को (**विदेयम्**) प्राप्त करूँ, (**पितृमन्तं**[१]) जो प्रशस्त पिता की सन्तान हो, (**पैतृमत्यम्**[२]) जो पितृजनों के अनुभवपूर्ण मतों से परिचित हो, (**ऋषिम्**) जो ऋषि हो, (**आर्षेयम्**[३]) आर्ष पाठविधि पढ़ाने में कुशल हो, (**सुधातु-दक्षिणम्**[४]) उत्तम धर्मप्रचार की दक्षिणा लेनेवाला हो। आगे गुरु शिष्यों को कहता है— (**अस्मद्राताः**[५]) हमसे विद्या दिये हुए आप लोग (**देवत्रा**[६]) प्रजाजनों में (**गच्छत**) जाओ, (**प्रदातारम्**) जो समाज तुम्हें उपदेश देने का निमन्त्रण दे अथवा जो समाज या सङ्गठन तुम्हें कार्य दे उसके मध्य (**आ विशत**) प्रविष्ट हो जाओ।

मैं चाहता हूँ कि मैं ब्राह्मण गुरु का शिष्य बनूँ। ब्राह्मण वह होता है, जो ब्रह्मज्ञानी होने के साथ वेदादि शास्त्रों को और सैद्धान्तिक तथा क्रियात्मक विज्ञान को भी जानता हो और जिसके गुण-कर्म-स्वभाव ब्राह्मण के हों। वह विविध विद्याओं का अथवा जिस विद्या को शिष्य पढ़ना चाहता है, उसका हस्तामलकवत् ज्ञान शिष्य को करा सकता हो और अध्यात्म या योग का ज्ञान भी दे सकता हो। मन्त्र में ब्राह्मण के कुछ अन्य विशेषण भी दिये गये हैं। वह 'पितृमान्' होना चाहिए। यहाँ मतुप् प्रत्यय प्रशस्त अर्थ में हैं, अर्थात् वह प्रशस्त पिता का पुत्र होना चाहिए, क्योंकि पिता के गुण पुत्र में भी आते हैं। दूसरा विशेषण है 'पैतृमत्य' अर्थात् पिता, पितामह, प्रपितामह तथा अन्य अनुभवी पितरों के अनुभवपूर्ण मतों की जानकारी उसे होनी चाहिए। तीसरा विशेषण है 'ऋषि', अर्थात् जिन

विद्याओं का वह अध्यापक है, उन विद्याओं का उसे साक्षाद् द्रष्टा होना चाहिए, अधकचरा ज्ञान होने पर वह उन विद्याओं में शिष्य को पारङ्गत नहीं करा सकता। चौथा विशेषण है 'आर्षेय' अर्थात् उसे आर्ष पाठविधि पढ़ाने में रुचि और दक्षता होनी चाहिए। अनार्ष ग्रन्थों की कपोलकल्पित, चारित्रिक दृष्टि से हानिकर तथा सन्देहास्पद बातें शिष्य को पढ़ाना घातक हो सकता है। पाँचवाँ विशेषण है 'सुधातु-दक्षिणम्', अर्थात् शिष्यों को स्नातक बनाते समय उसे उनसे सद्धर्मप्रचार की दक्षिणा मांगनी चाहिए। 'धर्म' में धारणार्थक 'धृ' धातु है और 'धातु' में धारणार्थक 'धा' धातु, अतः धर्म और धातु शब्द समानार्थक हैं। ऐसा श्रेष्ठ ब्राह्मण मेरा गुरु होगा, तो मैं भी उसका योग्य शिष्य बन सकूँगा।

मन्त्र का उत्तरार्ध गुरुओं की ओर से शिष्यों को कहा गया है। हे शिष्यो! हमसे ज्ञान दिये हुए तुम दिव्य प्रजाओं या विद्वान् जनों के बीच में जाओ। वे तुम्हारी योग्यता का मूल्याङ्कन करेंगे। वे तुम्हें भाषण, उपदेश या वेदकथा करने का नियन्त्रण दें, तो उसे स्वीकार करके उनकी इच्छा पूर्ण करो और उन्हें ज्ञान की बातें बताओ। वे तुम्हें किसी वैतनिक सेवा में लेना चाहें, तो उसे भी स्वीकार करो और पूरी योग्यता, तत्परता तथा सचाई के साथ सेवा करो तथा हम गुरुजनों का नाम भी उज्ज्वल करो। दक्षिणा का तुम्हारा आदर्श भी हमारे आदर्श से मिलता-जुलता होना चाहिए, अर्थात् अच्छी जीविका के लिए जितना द्रव्य आवश्यक है, उसमें सन्तोष करना चाहिए।

पाद-टिप्पणियाँ

१. (पितृमन्तं) प्रशस्ताः पितरो रक्षकाः सत्यासत्योपदेशका विद्यन्ते यस्य तम्—द०।
२. पैतृमत्यम्—पितृणानिदं पैतृ, पैतृणि अनुभवपूर्णानि यानि मतानि तेषु साधुम्।
३. (आर्षेयम्) आर्षपाठविधिम् अधीते वेद अध्यापयति वेदयति वा स आर्षेयः तम्।
४. सुधातुः सद्धर्मो दक्षिणा यस्य तम्! नात्र सुधातुः स्वर्णरजतादिः।
५. अस्माभिः राताः दत्तविद्याः, रा दाने।
६. देवत्रा=देवेषु। सप्तमी के अर्थ में त्रा प्रत्यय।

५३. चतुर्थाश्रमी संन्यासी

ऋषिः आङ्गिरसः। देवता आदित्यः। छन्दः निचृद् आर्षी पङ्क्तिः।

कदा चन प्रयुच्छस्युभे निपासि जन्मनी ।
तुरीयादित्य सवनं तऽइन्द्रियमातस्थावमृतं दिव्यादित्येभ्यस्त्वा ॥

—यजु० ८।३

क्या आप (**कदा चन**) कभी (**प्रयुच्छसि**) प्रमाद करते हो? अर्थात् कभी नहीं करते। (**उभे जन्मनी**) माता-पिता से दिया जन्म और विद्याजन्य जन्म दोनों की (**निपासि**) आप रक्षा करते हो, लाज रखते हो। (**तुरीय आदित्य**) हे चतुर्थाश्रमी संन्यासी! (**ते इन्द्रियम्**) आपका प्रत्येक इन्द्रिय-व्यापार (**सवनम्**) यज्ञ होता है। आपका (**अमृतम्**) अमृतमय उपदेश (**दिवि**) श्रोताओं के आत्मा में (**आ तस्थौ**) स्थित हो जाता है, घर कर जाता है।

हे संन्यासी-प्रवर! आप 'तुरीय आदित्य' हैं। आदित्य का अर्थ है विद्वान्, क्योंकि वह वेदादि शास्त्रों का रस ग्रहण किये होता है।[१] 'तुरीय' का अर्थ है चतुर्थ। इस प्रकार 'तुरीय आदित्य' चतुर्थाश्रमी विद्वान् अर्थात् संन्यासी का वाचक होता है। हे परिव्राट्! आपने पुत्रैषणा, वित्तैषणा और लोकैषणा तीनों एषणाओं का त्याग करके लोकोपकार का ही व्रत ग्रहण किया हुआ है।[१] इस समय आप हम छात्रों के आचार्य भी हैं। गुरुकुल को आदर्श शैली से चलाने और ब्रह्मचारियों को विद्यादान करने के साथ-साथ जनता में वेदप्रचार का व्रत भी आपने धारण किया हुआ है, अतः समय निकालकर आप वेदोपदेश हेतु बाहर भी जाते हैं। आप कभी अपने कर्त्तव्य के पालन में प्रमाद नहीं करते। आपने अपने दोनों जन्म सफल किये हुए हैं। प्रथम जन्म माता-पिता से होता है, जब बालक माता के गर्भ से बाहर निकलता है। द्वितीय जन्म आचार्य से होता है, जब पर्याप्त समय आचार्य के गर्भ में रहकर ब्रह्मचारी

अपना समावर्तन संस्कार करा कर स्नातक बनता है। आपने इन दोनों जन्मों को फलवान् किया है। माता-पिता से प्राथमिक शिक्षा पाकर, गुरुकुल में प्रविष्ट होकर गुरुजनों से उच्च शिक्षा ग्रहण कर आप उच्चकोटि के विद्वान् बने हैं और अब अपनी विद्वत्ता का लाभ अन्यों को पहुँचा रहे हैं। अब आप स्वयं आचार्य बनकर हम ब्रह्मचारियों को द्वितीय जन्म दिलाने के अनवरत प्रयास में लगे हुए हैं, जिससे हमारे दोनों जन्म सफल हो सकें। इस प्रकार आप अपने और ब्रह्मचारियों के दोनों के दोनों जन्मों को सफल करते हैं।

हे भगवन्! आपके सभी इन्द्रियों के व्यापारों ने यज्ञ का रूप धारण किया हुआ है। आपका देखना, सुनना, विचार करना, निश्चय करना आदि सभी व्यापार अन्यों को लाभ पहुँचाने के लिए होते हैं। "चाहे निन्दा, चाहे प्रशंसा, चाहे मान, चाहे अपमान, चाहे जीना, चाहे मृत्यु, चाहे हानि, चाहे लाभ हो, चाहे कोई प्रीति करे, चाहे वैर बाँधे, चाहे अन्न-पान, वस्त्र, उत्तम स्थान न मिले वा मिले, चाहे शीत-उष्ण कितना ही क्यों न हो संन्यासी सबका सहन करे और अधर्म का खण्डन तथा धर्म का मण्डन सदा करता रहे। जिस-जिस कर्म से गृहस्थों की उन्नति हो वा माता, पिता, पुत्र, स्त्री, पति, बन्धु, बहिन, मित्र, पड़ोसी, नौकर, बड़े और छोटों में विरोध छूट कर प्रेम बढ़े उस-उसका उपदेश करे।"[२] आप संन्यासी के इन तथा अन्य शास्त्रोक्त कर्त्तव्यों का सदा निर्वाह करते हो, कभी उसमें प्रमाद नहीं करते। आपका अमृतोपदेश श्रोताओं के दिव्यगुणी आत्मा में स्थिर हो जाता है, घर कर जाता है। मन्त्र का अन्तिम वाक्य पिता अपने पुत्रों से कह रहा है—हे पुत्र! तूने प्राथमिक शिक्षा हमारे पास रहकर तथा स्थानीय पाठशाला में पढ़कर प्राप्त कर ली है, अब हम तुझे संन्यासी गुरुजन रूप आदित्यों को सौंप रहे हैं, जिससे तू विद्वान् बन सके।

पाद-टिप्पणियाँ

१. "पुत्रैषणा वित्तैषणा लोकैषणा मया परित्यक्ता। मत्तः सर्वेभ्योऽभयमस्तु स्वाहा" इस वाक्य को बोल के सबके सामने जल को भूमि में छोड़ देवे। —संस्कारविधि, संन्यास-प्रकरण।

२. संस्कारविधि, संन्यास-प्रकरण 'यमान् सेवेत सततं' श्लोक से आगे की भाषा।

५४. गृहाश्रम

ऋषिः ब्रह्मा। देवता गृहपतयः। छन्दः क. प्राजापत्या अनुष्टुप्, र. निचृद् आर्षी जगती।

क विवस्वन्नादित्यैष ते सोमपीथस्तस्मिन् मत्स्व। र श्रदस्मै नरो वचसे दधातन यदाशीर्दा दम्पती वाममश्नुतः।
पुमान् पुत्रो जायते विन्दते वस्वधा विश्वाहारपऽएधते गृहे॥

—यजु० ८।५

हे (**विवस्वन्**[१]) अविद्यान्धकार को दूर किये हुए (**आदित्य**) आदित्य के समान प्रकाश से युक्त ब्रह्मचारिन्! (**एषः**) यह गृहाश्रम (**ते**) तेरे लिए (**सोमपीथः**[२]) सोम आदि पौष्टिक ओषधियों के पान का आश्रम है। (**तस्मिन्**) उसमें (**मत्स्व**[३]) आनन्दलाभ कर। (**नरः**) हे मनुष्यो! (**अस्मै वचसे**) इस वचन के लिए (**श्रद्दधातन**) श्रद्धा रखो (**यत्**) कि (**आशीर्दा**[४]) दूध का दान करनेवाले (**दम्पती**) पति-पत्नी (**वामम्**[५]) प्रशस्त फल (**अश्नुतः**) प्राप्त करते हैं। उनके यहाँ (**पुमान् पुत्रः**) पुरुषार्थी पुत्र (**जायते**) पैदा होता है, जो (**वसु विन्दते**[६]) धन प्राप्त करता है, (**अध**) और (**विश्वाहा**) सब दिनों में (**अरपः**[७]) निष्पाप होकर (**गृहे**) घर में (**एधते**) बढ़ता है।

हे ब्रह्मचारी! गुरुकुल में आचार्याधीन निवास करके तू 'विवस्वान्' हो गया है, तू अपने अज्ञानान्धकार को दूर करके सूर्य-सदृश हो गया है। सावित्री रूप अदिति का पुत्र होने से तू आदित्य है। अब तेरा समावर्तन संस्कार हो चुका है और तू गृहाश्रम में प्रवेश के लिए उद्यत है। यह गृहाश्रम 'सोमपीथ' है, अर्थात् इसमें बल-वृद्धि के लिए सोम आदि पौष्टिक और सात्त्विक ओषधियों के रस का पान किया जाता है। 'सोमपीथ' का अर्थ वीर्यरक्षा भी होता है, अतः यह वीर्यरक्षा का भी आश्रम है। इसमें वीर्यक्षय केवल राष्ट्र को उत्तम सन्तान प्रदान

करने के लिए होता है। इस आश्रम में तेरा स्वागत है। इस आश्रम में तू पत्नी और सन्तान के साथ आनन्दपूर्वक रह। यह आश्रम सम्पत्ति-अर्जन का आश्रम भी है, किन्तु इसमें केवल सम्पत्ति का अर्जन ही नहीं करना है, प्रत्युत दान भी करना है। दान अनेक वस्तुओं का हो सकता है, उनमें गाय का दान या दूध का दान सर्वश्रेष्ठ माना गया है। मन्त्र कह रहा है कि हे मनुष्यो! इस वचन पर विश्वास रखो कि दूध के दानी पति-पत्नी सुन्दर और प्रशस्त फल पाते हैं। दान से धन घटता नहीं, प्रत्युत बढ़ता ही है। उनके घर में पुरुषार्थी पुत्र जन्म लेता है, और वह भौतिक तथा आध्यात्मिक सब प्रकार की सम्पत्ति अर्जित करता है। अपार भौतिक धन का स्वामी होकर भी वह कभी पाप में लिप्त नहीं होता। सांसारिक सुख-सम्पदा को हेय माननेवाले कतिपय मनीषियों का कथन है कि लक्ष्मी पाकर मनुष्य पाप के गर्त में गिर जाता है। परन्तु वेद समन्वयवादी है। वह कहता है कि दोनों हाथों से भर-भर कर कमाओ, किन्तु पाप की लक्ष्मी नहीं, पुण्य की लक्ष्मी कमाओ। सम्पत्ति पाकर भी पुण्य के कार्य करो। सम्पत्ति कमाओ भी, उसका दान भी करो। दानी लोगों के घर में जो पुत्र उत्पन्न होता है, वह सब दिन निष्पाप रहता हुआ निरन्तर वृद्धि और उन्नति प्राप्त करता है।

हे विवस्वन् आदित्य! गृहाश्रम में प्रवेश करता हुआ तू वेद के इन वचनों और आशीर्वादों को सदा स्मरण रख। हम तेरा अभिनन्दन करते हैं।

पाद-टिप्पणियाँ

१. विवासयति अपगमयति अविद्यातमांसि यः स विवस्वान्।
२. सोमः पीयते यस्मिन् सः—द०।
३. मत्स्व, मदी हर्षे, दिवादि। वेद में अदादि भी होने से शप् का लुक्।
४. आशिरं दुग्धं दत्तः यौ तौ आशीर्दौ, 'सुपां सुलुक्०' पा० ७.१.३९ से औ का आ। 'आशीः आश्रयणाद् वा आश्रपणाद् वा, 'इन्द्राय गाव आशिरम् ऋ० ८.६९.६' इत्यपि निगमो भवति' निरु० ६.३५।
५. वाम=प्रशस्य, निघं० ३.८।
६. विद्लृ लाभे, तुदादिः।
७. न विद्यन्ते रपांसि पापानि यस्य सः। 'रपो रिप्रमिति पापनामनी भवतः' निरु० ४.४८।

५५. पापों और अपराधों से छुटकारा

ऋषिः भरद्वाजः। देवता परमेश्वरो विद्वांश्च। छन्दः १. निचृत् साम्नी उष्णिक्, २. साम्नी उष्णिक्, ३, ४, ५. प्राजापत्या उष्णिक्, ६. निचृद् आर्षी उष्णिक्।

१ देवकृतस्यैनसोऽवयजनमसि २ मनुष्यकृतस्यैनसोऽवयजनमसि
३ पितृकृतस्यैनसोऽवयजनमस्या ४ त्मकृतस्यैनसोऽवयजनमस्ये ५ नसऽएनसोऽ
वयजनमसि। ६ यच्चाहमेनो विद्वाँश्चकार यच्चाविद्वाँस्तस्य
सर्वस्यैनसोऽवयजनमसि॥

—यजु० ८।१३

हे परमात्मन् और योगी विद्वन्! आप (**देवकृतस्य**) विद्वानों के द्वारा किये गये तथा विद्वानों के प्रति किये गये (**एनसः**) पाप या अपराध के (**अवयजनम् असि**) दूर करनेवाले हो। (**मनुष्यकृतस्य**) मनुष्यों के द्वारा किये गये तथा मनुष्यों के प्रति किये गये (**एनसः**) पाप या अपराध के (**अवयजनम् असि**) दूर करनेवाले हो। (**पितृकृतस्य**) पिताओं, पितामहों, प्रपितामहों के द्वारा किये गये तथा इनके प्रति किये गये (**एनसः**) पाप या अपराध के (**अवयजनम् असि**) दूर करनेवाले हो, (**आत्मकृतस्य**) आत्मा के द्वारा तथा आत्मा के प्रति किये गये (**एनसः**) पाप या अपराध के (**अवयजनम् असि**) दूर करनेवाले हो। (**एनसः एनसः**) प्रत्येक पाप या अपराध के (**अवयजनम् असि**) दूर करनेवाले हो। (**यत् च अहम् एनः**) जो कोई मैंने पाप या अपराध (**विद्वान्**) जानकर (**चकार**) किया है, (**यत् च**) और जो (**अविद्वान्**) अनजाने में किया है (**तस्य सर्वस्व एनसः**) उस सब पाप या अपराध के आप (**अवयजनम् असि**) दूर करनेवाले हो।

हमने मनुष्यजन्म सत्कर्म करने के लिए पाया है, पाप या

अपराध में प्रवृत्त होने के लिए नहीं। ईश्वर सर्वज्ञ और सर्वव्यापक है। ज्यों ही हम पाप या अपराध करते हैं, त्यों ही वह उसे देख लेता है और उसका फल हमें कभी न कभी मिलकर ही रहता है। यह सब जानते हुए भी मनुष्य प्रलोभनवश पाप करता ही है। कम या अधिक प्रायः सभी लोग कभी न कभी पाप-पङ्क में फँस ही जाते हैं। देवजन अर्थात् विद्वान् लोग भी यह जानते हुए भी कि पाप करना बुरा है, पाप के वश हो जाते हैं। ये 'देवकृत' पाप कहलाते हैं। परन्तु न्यायाधीश परमात्मा का जब उन्हें स्मरण होता है, तब वे शिक्षा ले लेते हैं कि आगे हम पाप नहीं करेंगे। विद्वानों के प्रति दूसरों के द्वारा किये गये पाप या अपराध भी 'देवकृत एनस्' में आते हैं। विद्वानों के प्रति ज़ैसा सम्मानजनक व्यवहार करना चाहिए वैसा न करके हम उनका निरादर करते हैं या उन्हें कष्ट पहुँचाते हैं, यह विद्वानों के प्रति किया गया पाप या अपराध है। ईश्वर का स्मरण हमें इन पापों से भी बचा सकता है। परमेश्वर स्वयं भी अपनी कृपा की कोर से हमें पापमय जीवन से मुक्त रहने की प्रेरणा कर सकते हैं।

दूसरे पाप 'मनुष्यकृत' हैं, अर्थात् जनसामान्य द्वारा किये जानेवाले पाप और जनसामान्य के प्रति किये गये पाप। एक राहभटका राही हमसे कहीं का मार्ग पूछता है। हम उसे सही मार्ग न बतला कर गलत मार्ग बतला देते हैं और सोचते हैं कि जब यह गलत स्थान पर पहुँचेगा तब इसकी कैसी दुर्गति होगी। हम इसी में मजा लेते हैं। हम किसी दीन-दुःखी को सताते हैं, उसके कटे पर नमक छिड़कते हैं, और उसमें आनन्द मनाते हैं। हम किसी निरीह की हत्या कर देते हैं। प्रभु की दिव्यता का स्मरण हमें ऐसे सब पापों और अपराधों से बचा सकता है और हमें दिव्य बना सकता है।

तीसरे पाप 'पितृकृत' होते हैं, अर्थात् पिता, पितामह और प्रपितामह जो पाप करते हैं या इनके प्रति दूसरे लोग जो पाप करते हैं। बुजुर्ग लोगों से ही छोटे लोग शिक्षा लेते हैं। ये ही

पाप करने लग जायेंगे, तो इनकी देखा-देखी छोटे लोग भी पाप करने से नहीं डरेंगे। इसी प्रकार छोटे लोगों द्वारा इनका अपमान किया जाना, इन्हें दुःखी करना आदि पाप भी इसी श्रेणी में आते हैं। परमेश्वर की मनभावनी कृपा और उसकी न्याय की तराजू का ध्यान हमें इन पापों से भी बचा सकता है।

चौथे पाप 'आत्मकृत' होते हैं, अर्थात् अपने द्वारा अपने प्रति या अपने द्वारा दूसरों के प्रति किये गये पाप। आत्मा का अपने प्रति पाप यह है कि आत्मा में जो असीम शक्ति छिपी है, उसे न पहचान कर उसे अल्पशक्ति, दीन-हीन समझना। ये परिगणित पाप ही नहीं, सभी प्रकार के पाप या अपराध परमेश्वर की छत्रछाया में जाने से दूर हो सकते हैं। पाप और अपराध मनुष्य जान-बूझकर भी करता है, और अनजाने में भी। इनमें से किसी भी प्रकार के पाप हों, न्यायकारी, दण्डदाता, सत्प्रेरणा के स्रोत परम प्रभु की कृपा से दूर हो सकते हैं। योगी विद्वान् जन भी अपने उपदेशों, योगप्रयोगों, जीवन-ज्योतियों तथा सत्परामर्शों से पापियों को देवता बना सकते हैं, अपराधियों को पुण्यात्मा बना सकते हैं। आओ, हम भी परम प्रभु और योगी विद्वानों से जागृति प्राप्त करें।



५६. राजा से प्रजाजनों की प्रार्थना

ऋषिः अत्रिः। देवता इन्द्रः। छन्दः भुरिग् आर्षी त्रिष्टुप्।

समिन्द्र णो मनसा नेषि गोभिः सꣳसूरिभिर्मघवन्त्सꣳस्वस्त्या।
सं ब्रह्मणा देवकृतं यदस्ति सं देवानाꣳसुमतौ यज्ञियानाꣳस्वाहा॥

—यजु० ८।१५

(**इन्द्र**) हे परमैश्वर्यवान् राजन्! आप (**नः**) हम प्रजाओं को (**मनसा**) मनोबल से और (**गोभिः**) भूमि तथा गौओं से (**सं नेषि**) संयुक्त करते हो। (**मघवन्**) हे विद्याधनाधीश! (**सूरिभिः**) विद्वानों से (**सं**) संयुक्त करते हो, (**स्वस्त्या**) स्वस्ति से (**सं**) संयुक्त करते हो। (**सं ब्रह्मणा**) संयुक्त करते हो उस ज्ञान से (**यत्**) जो (**ब्रह्मकृतम् अस्ति**) ईश्वरकृत तथा विद्वज्जनों से कृत है। (**सम्**) संयुक्त हों हम (**यज्ञियानां देवानां**) पूजनीय विद्वानों की (**सुमतौ**) सुमति में, (**स्वाहा**) हमारी यह कामना पूर्ण हो।

हे ऐश्वर्यशाली राजन्! हम प्रजाजनों ने मिलकर आपको राजा के पद पर आसीन किया है। हमारे उत्थान के लिए आप जो अनेक प्रशंसास्पद कार्य कर रहे हो, उनके लिए हम आपके प्रति कृतज्ञताप्रकाशन करते हैं। प्रथम कार्य तो आपने यह किया है कि हमें मनोबल से अनुप्राणित कर दिया है। हम समझ गये हैं कि जिस कठिन से कठिन कार्य का भी शुभारम्भ करेंगे, वह अवश्य पूर्ण होकर रहेगा। फिर आपने हमें निवासभवन, सार्वजनिक भवन तथा कृषि के लिए भूमि आबंटित की है और आपने अपनी राजकीय गोशाला से उत्तम जाति की गौएँ गोपालकों को दिलवायी हैं। तीसरा कार्य आपने हमारे लिए यह किया है कि राष्ट्र में उच्चकोटि के विद्वान्

उत्पन्न किये हैं, जो राष्ट्र के गौरव हैं। प्राथमिक कक्षाओं से लेकर उच्च शिक्षा तक की सम्पूर्ण व्यवस्था आपने देश के होनहार बालकों और युवकों को दिलवायी है। शिक्षा पर होनेवाला अधिकांश व्यय आपने राजकीय कोष से कराया है। आपने नगर-नगर में विद्यालय, माध्यमिक विद्यालय, महाविद्यालय और विश्वविद्यालय स्थापित किये हैं। चौथा कार्य आपने हमारे लिए यह किया है कि प्रत्येक प्रजाजन को 'स्वस्ति' से युक्त किया है। सब प्रजाओं का अपना विशेष अस्तित्व हो गया है, प्रत्येक मनुष्य विपुल धन-धान्य, समृद्धि, सुविधा, सद्गुण, वर्चस्व, देहबल, मनोबल, आत्मबल आदि से परिपूर्ण हो गया है। पाँचवा लाभ आपने हमें यह पहुँचाया है कि आपने हमें 'ब्रह्मकृत' ज्ञान से संयुक्त कर दिया है। 'ब्रह्म' नाम परमेश्वर का भी है और विद्वानों का भी। जो परमेश्वरकृत वेद हैं उनका ज्ञान भी आपने राष्ट्रवासियों को ग्रहण करने का अवसर दिया है और विद्वत्कृत ब्राह्मणग्रन्थ, आरण्यक, उपनिषद्, धर्मशास्त्र भौतिक विज्ञान, शिल्पशास्त्र, भूगर्भशास्त्र, खगोलशास्त्र, आयुर्वेद, धनुर्वेद आदि की शिक्षा की भी व्यवस्था की है।

हमारा आपसे निवेदन है कि सदा ही पूजनीय विद्वानों की सुमति हमें प्राप्त होती रहे। हमारी यह कामना पूर्ण हो।

५७. होता का वरण

ऋषिः अत्रिः। देवता गृहपतयः। छन्दः स्वराड् आर्षी त्रिष्टुप्।

वयꣳहि त्वा प्रयति यज्ञेऽअस्मिन्नग्ने होतारमवृणीमहीह ।
ऋधगयाऽऋधगुताशमिष्ठाः प्रजानन् यज्ञमुपयाहि विद्वान्त्स्वाहा ॥

—यजु० ८।२०

(अग्ने) हे विद्वन्! **(वयं हि)** हम गृहपतियों ने निश्चयपूर्वक **(अस्मिन् प्रयति[1] यज्ञे)** इस प्रारभ्यमाण यज्ञ में **(त्वा)** आपको **(होतारम्)** होता, यज्ञनिष्पादक **(अवृणीमहि)** वरण किया है। आप पहले भी **(इह)** यहाँ **(ऋधक्[2])** समृद्धिपूर्वक **(अशमिष्ठाः)** शान्ति या पूर्णाहुति करते रहे हैं। अतः **(विद्वान्)** विद्वान् आप **(प्रजानन्)** यज्ञ के विधि-विधान को जानते हुए **(यज्ञम् उपयाहि)** यज्ञ में आइये, और **(स्वाहा)** आहुति दिलवाइये।

बड़े यज्ञों में चार ऋत्विज् होते हैं—होता, उद्गाता, अध्वर्यु और ब्रह्मा। होता मन्त्रपाठ, उद्गाता सामगान, अध्वर्यु यज्ञ का विधि-विधान और ब्रह्मा अध्यक्षता तथा सञ्चालन करता है। एक, दो, तीन ऋत्विजों से भी कार्यनिर्वाह हो सकता है। "अच्छे विद्वान्, धार्मिक, जितेन्द्रिय, कर्म करने में कुशल, निर्लोभ, परोपकारी, दुर्व्यसनों से रहित, कुलीन, सुशील, वैदिक मतवाले, वेदवित् एक, दो, तीन अथवा चार (ऋत्विजों) का वरण करे। जो एक हो तो उसका पुरोहित, जो दो हों तो ऋत्विक्, पुरोहित और तीन हों तो ऋत्विक्, पुरोहित और अध्यक्ष और जो चार हों तो होता, अध्वर्यु, उद्गाता और ब्रह्मा[3]।" एक पुरोहित रखने पर उसे ऋत्विक्, पुरोहित या होता भी कह देते हैं। वहाँ 'होता' का अर्थ यज्ञनिष्पादक[4]

होता है। प्रस्तुत मन्त्र में यज्ञनिष्पादक पुरोहित अर्थ में ही 'होता' शब्द है।

हे विद्वन्! आप यज्ञ कराने में कुशल हैं। यज्ञनिष्पादन में प्रमुख बातें होती हैं वेद तथा कर्मकाण्ड का पाण्डित्य, शुद्ध तथा स्पष्ट मन्त्रोच्चारण, भाषणकला तथा अनुभव। आप एक अनुभवी पुरोहित हैं और यज्ञ के विधि-विधान प्रभावपूर्ण शैली से कराने में निष्णात हैं और अच्छे उपदेशक तथा मार्गदर्शक हैं। अतः आपसे निवेदन है कि आप हमारे पवित्र यज्ञ के होता बनने की हमारी अभ्यर्थना स्वीकार करने की कृपा करें। आपने अब तक सब यजमानों का यज्ञ समृद्धिपूर्वक निष्पन्न किया है और समृद्धिपूर्वक ही उसकी पूर्णाहुति की है। आप यज्ञविधियों की जो प्रभावोत्पादक व्याख्या करते हैं, उससे यज्ञ को चार चाँद लग जाते हैं। आप आइये और हम यजमानों से स्वाहापूर्वक आहुति डलवाने की कृपा कीजिए। हम गृहपति जन आपका स्वागत करते हैं, आपको वरण करते हैं।

पाद-टिप्पणियाँ

१. प्र-इण् गतौ, शतृ, सप्तमी विभक्ति। प्रयति प्रगच्छति प्रवर्तमाने।
२. ऋधगिति पृथग्भावस्य प्रवचनं भवति, अथापि ऋध्नोत्यर्थे दृश्यते। 'ऋधगया ऋधगुताशमिष्ठाः' य० ८.२०, ऋध्नुवन् अयाक्षीः ऋध्नुवन् अशमिष्ठाः इति च। —निरु० ४.६०
३. संस्कारविधि, स्वामी दयानन्द सरस्वती, सामान्य प्रकरण।
४. (होतारम्) यज्ञनिष्पादकम्—द०।

५८. इन्दु की वाणी

ऋषिः अत्रिः। देवता वाक्। छन्दः आर्षी जगती।

पुरुदस्मो विषुरूपऽइन्दुरन्तर्महिमानमानञ्ज धीरः ।
एकपदीं द्विपदीं त्रिपदीं चतुष्पदीमष्टापदीं भुवनानु प्रथन्ताꣳस्वाहा ॥

—यजु० ८।३०

(**पुरुदस्मः**[१]) अतिशय दुःखक्षयकर्ता, (**विषुरूपः**) विविध रूपों वाला, (**धीरः**) धीर, बुद्धिमान् (**इन्दुः**[२]) आनन्द से आर्द्र करनेवाले परमेश्वर ने (**अन्तः**) शरीर तथा ब्रह्माण्ड के अन्दर (**महिमानं**) महिमा को (**आनञ्ज**[३]) प्रकट किया हुआ है। उसकी (**एकपदीं**) ओम् रूप एक पदवाली, (**द्विपदीं**) अभ्युदय और निःश्रेयस इन दो पदोंवाली, (**त्रिपदीं**) मन, बुद्धि, आत्मा इन तीन पदोंवाली, (**चतुष्पदीं**) धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष इन चार पदोंवाली और (**अष्टापदीं**) ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र इन चार वर्णों तथा ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ, संन्यास इन चार आश्रमों रूप आठ पदोंवाली (**स्वाहा**) वाणी को (**भुवना**) सब घर (**अनुप्रथन्ताम्**) अनुकूलरूप से विस्तीर्ण करें, फैलाएँ।

परमेश्वर का एक नाम 'इन्दु' भी है। उणादि कोष में इसे आर्द्र करनेवाली 'उन्द्' धातु से उ प्रत्यय तथा धातु के उ को इ करके निष्पन्न किया गया है। जो उपासकों को आनन्दवर्षा से आर्द्र करता है, वह परमात्मा 'इन्दु' कहलाता है[२]। वह 'पुरुदस्म[१]' है, बहुत अधिक दुःख, दोष आदि का क्षय करनेवाला है। जो सच्चे भाव से दुःखदोषादि से छूटने के लिए परमेश्वर से प्रार्थना करता है, उसकी वे प्रभु सुनते हैं। वह 'विषुरूप' भी है, अर्थात् विविध रूपोंवाला है—सच्चिदानन्दस्वरूप,

निराकार, सर्वशक्तिमान्, न्यायकारी, दयालु, अजन्मा, अनन्त, निर्विकार, अनादि, अनुपम, सर्वाधार, सर्वेश्वर, सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी, अजर, अमर, अभय, नित्य, पवित्र, सृष्टिकर्ता आदि अनन्त रूपोंवाला है। वह धीर अर्थात् धैर्यसम्पन्न तथा बुद्धिमान् (धी-र) भी है। उस इन्दु ने शरीर में तथा ब्रह्माण्ड में सर्वत्र अपनी महिमा को प्रकट किया हुआ है। सृष्टि में जिधर भी दृष्टि डालो, उसी की महिमा दृष्टिगोचर होती है, क्योंकि चारों ओर जो अद्‌भुत सृष्टि की कला और छवि है वह मनुष्यकृत तो हो नहीं सकती! जब उसकी सृष्टि इतनी महान् और अचरजभरी है, तब उसकी वेदवाणी क्यों न निराली होगी। उसका अध्ययन और मनन करने पर ज्ञात होता है कि सचमुच वह अति अभिनन्दनीय है। कहीं वह एकपदी है, कहीं द्विपदी है, कहीं त्रिपदी है, कहीं चतुष्पदी है, कहीं अष्टापदी है। ओम्, सत्यम्, शिवम्, स्वस्ति, नमः, स्वाहा आदि एकपदी वाक् है, जिसमें एक पद से वाक्यार्थ निकल आता है। एक परब्रह्म का वर्णन करने के कारण भी वह एकपदी है। कहीं वह द्विपदी है, अभ्युदय-निःश्रेयस, ऋत-सत्य, आत्मोपकार-परोपकार, इन्द्र-अग्नि, मित्र-वरुण, व्यक्ति-समाज, गुरु-शिष्य आदि युगल विषयों का वर्णन करती है। कहीं वह त्रिपदी है, जहाँ ईश्वर-जीव-प्रकृति, मन-बुद्धि-आत्मा आदि त्रैत का वर्णन करती है। कहीं वह चतुष्पदी है, जहाँ धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष इन चार विषयों की चर्चा है। कहीं वह अष्टापदी है, जहाँ समाज के चार वर्णों तथा चार आश्रमों का प्रतिपादन करती है। चार आश्रमों की चर्चा मनुप्रोक्त नामों से न होकर अन्य नामों से भी हो सकती है, जैसे वानप्रस्थ का उल्लेख मुनि नाम से और संन्यासी का वर्णन यति नाम से मिलता है। ऐसे-ऐसे महत्त्वपूर्ण विषयों का जिस इन्दु की वाणी में वर्णन है, उसका विस्तार, प्रसार, प्रचार सकल गृहों के निवासियों को करना चाहिए। बड़े-बड़े नास्तिक लोग भी ईश्वरकृत किसी घटनाचक्र को देख कर आस्तिक बन गये,

बड़े-बड़े नास्तिकता का दम भरनेवाले लोगों ने अन्त समय में परमात्मा का स्मरण करके आँखें मूँदीं।

अतः आओ हम भी 'इन्दु' प्रभु का गुणगान करें, उसकी वेदवाणी का प्रचार-प्रसार करें और उसने हमें उन्नति के लिए नर-तन दिया है, उसके लिए उसके कृतज्ञ हों।

पाद-टिप्पणियाँ

१. पुरु बहु दुःखदोषादीन् दस्यति उपक्षयति स पुरुदस्मः। पुरु-दसु उपक्षये-मक् प्रत्यय।

२. उनत्ति आर्द्रीकरोति आनन्दवर्षाभिः भक्तजनान् यः स इन्दुः। 'इन्देरुच्च' उ० १.१२ से उ प्रत्यय और धातु के इ को उ।

३. अञ्जू व्यक्तिम्रक्षणकान्तिगतिषु, लिट्।

५९. उससे बढ़कर कोई पैदा नहीं हुआ

ऋषिः विवस्वान्। देवता प्रजापतिः (परमेश्वरः)।
छन्दः भुरिग् आर्षी त्रिष्टुप्।

यस्मान्न जातः परोऽअन्योऽअस्ति यऽआविवेश भुवनानि विश्वा।
प्रजापतिः प्रजया सꣳरराणस्त्रीणि ज्योतीꣳषि सचते स षोडशी॥

—यजु० ८।३६

(**यस्मात् परः**) जिससे उत्कृष्ट (**अन्यः न जातः अस्ति**) अन्य कोई उत्पन्न नहीं हुआ है, (**यः**) जो (**आविवेश**) प्रविष्ट है (**विश्वा भुवनानि**) सब भुवनों में। वह (**प्रजापतिः**) प्रजापालक परमेश्वर (**प्रजया**) अपनी प्रजा के साथ (**संरराणः**[1]) सम्यक् क्रीडा करता हुआ (**त्रीणि ज्योतींषि सचते**[2]) अग्नि-विद्युत्-सूर्य तथा मन-बुद्धि-आत्मा इन तीनों-तीनों ज्योतियों में समवेत है।

क्या तुम पूछते हो कि प्रजापति से बढ़कर कौन है? परन्तु यदि तुम प्रजापति को सच्चे अर्थों में जान लो, तो अपने प्रश्न का उत्तर तुम्हें स्वयमेव मिल जाएगा। प्रजापति वह है, जिसने विश्व की सब जड़-चेतन प्रजाओं को जन्म दिया है। ब्रह्माण्ड में जो कुछ दृष्टिगोचर होता है भूमि, चन्द्र, ग्रह, उपग्रह, सूर्य, तारावलि सब उसी का पैदा किया हुआ है। ये सब लोक-लोकान्तर बड़े ही विलक्षण हैं। हम मानव इनके विषय में बहुत कम जान पाये हैं। किन्तु जितना भी जान पाये हैं, वही हमें आश्चर्यचकित कर देता है। जिस भूमि पर हम रहते हैं, उसमें दिन-रात्रि के आवागमन की, ऋतुओं के निर्माण की, जल के वाष्पीकरण की, अन्तरिक्ष से जलवृष्टि की, नदियों के बहने की, सागर के लहराने की, वनस्पतियों

के उगने की, प्राणियों के जन्म लेने की, श्वास-प्रश्वास आदि द्वारा जीवनधारण की कैसी सुव्यवस्था उसने की हुई है, यही क्या कम अचरज पैदा करनेवाली बात है! फिर अन्य लोकलोकान्तरों का तो कहना ही क्या है! प्रजापति सब प्रजाओं को केवल जन्म ही नहीं देता, किन्तु इन सबका पति अर्थात् अधीश्वर और पालक भी है। इतना पता लग जाने के बाद अपने प्रश्न का उत्तर तुम स्वयं दे सकोगे कि प्रजापति से अधिक बड़ा विश्व-ब्रह्माण्ड में कोई नहीं है।

प्रजापति सब लोकों का न केवल जन्मदाता, व्यवस्थापक और पालक है, अपितु वह सब भुवनों के अन्दर प्रविष्ट भी है, सर्वान्तर्यामी है। अपनी उत्पन्न की हुई प्रत्येक जड़-चेतन प्रजा के साथ वह यथायोग्य क्रीडा कर रहा है। किसी को गति देता है, किसी को स्थिर रखता है, किसी को तपाता है, किसी को शीतलता देता है, किसी को चमकाता है, किसी को निस्तेज रखता है, किसी को आकाश में उड़ाता है, किसी को नीचे पटकता है, किसी को सुन्दरता देता है, किसी पर काला-कलूटा रङ्ग फेर देता है।

वह पार्थिव ज्योति अग्नि, अन्तरिक्ष-ज्योति विद्युत् और द्यौ की ज्योति आदित्य तीनों में समवेत है। आन्तर ज्योति मन, बुद्धि और आत्मा में भी विराजमान होकर उन्हें शक्ति दे रहा है। वह प्रजापति 'षोडशी' है, सोलहों कलाओं से युक्त चन्द्रमा के समान परिपूर्ण है, उसमें किसी कला की न्यूनता नहीं है। आओ, हम सब उस प्रजापति प्रभु का गुणगान करते हुए उसकी आज्ञा का पालन करें।

पाद-टिप्पणियाँ

१. संरराणः सम्यक् रममाणः—म०। रमु क्रीडायाम्।

२. षच समवाये, भ्वादिः।

६०. तुझे विश्वकर्मा इन्द्र की शरण में देता हूँ

ऋषिः शासः। देवता विश्वकर्मा ईश्वरः। छन्दः क. भुरिग् आर्षी त्रिष्टुप्, र. विराड् आर्षी अनुष्टुप्।

क वाचस्पतिं विश्वकर्माणमूतये मनोजुवं वाजेऽअद्या हुवेम।
स नो विश्वानि हवनानि जोषद्विश्वशम्भूरवसे साधुकर्मा।
र उपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वा विश्वकर्मणऽएष
ते योनिरिन्द्राय त्वा विश्वकर्मणे ॥

—यजु० ८।४५

हम (**वाचस्पतिं**) वाणी के स्वामी, (**मनोजुवं**) मन को गति देनेवाले, (**विश्वकर्माणं**) विश्व के कर्मों के कर्ता परमेश्वर को (**अद्य**) आज (**वाजे**[1]) संग्राम में (**हुवेम**) पुकारें। (**स विश्वशम्भूः साधुकर्मा**) वह विश्वकल्याणकारी, साधु कर्मोंवाला परमेश्वर (**अवसे**) रक्षा के लिए (**नः विश्वानि हवनानि**) हमारी सब पुकारों को (**जोषत्**) प्रीतिपूर्वक सुने। हे मानव! तू (**उपयामगृहीतः असि**) यम-नियमों से जकड़ा हुआ है, (**इन्द्राय त्वा विश्वकर्मणे**) तुझे विश्व के कर्ता परमैश्वर्यवान् जगदीश्वर की शरण में देता हूँ। (**एष ते योनिः**[2]) यह तेरा शरणस्थान है। (**इन्द्राय त्वा विश्वकर्मणे**) तुझे सब उत्कृष्ट कर्मों के कर्ता विघ्नोच्छेदक जगदीश्वर की शरण में देता हूँ।

क्या तुम जानते हो कि प्रकृति में जो अद्‌भुत क्रियाएँ हो रही हैं, उनका करनेवाला कौन है? सम्भवतः तुम कहोगे कि प्रकृति स्वयं अपने खेल रचाती है। स्वयं उषा छिटकती है, सूर्योदय होता है, सूर्यास्त होता है, काली निशा आती है, चाँदनी चमकती है, ग्रीष्म ऋतु आती है, बरसात आती है, शीत ऋतु का आगमन होता है, पर्वतों पर बर्फ गिरता है,

नदियाँ बहती हैं, समुद्र में गिरती है, वनस्पतियाँ उगती हैं, लताएँ वृक्षों की गलबहियाँ लेती हैं, रङ्गबिरङ्गे पुष्प खिलते हैं, फल आते हैं। प्रकृति का कम्प्यूटर स्वयं काम करता है, उसे चलानेवाला कोई नहीं है। परन्तु ऐसा कम्प्यूटर आज तक कोई नहीं बना जिसे कभी निरीक्षणकर्ता की, टूटा तार जोड़नेवाले की आवश्यकता न हो। कोई विश्वकर्मा परमेश्वर है, जो विश्व के कार्यों को करने में प्रकृति की सहायता करता है। वह केवल प्रकृति की बाह्य करामातों को ही नहीं, शरीर के अन्दर होनेवाले आश्चर्यजनक कार्यों को भी करता-करवाता है। जीभ जो वाणी बोलती है, उसमें उसी का कर्तृत्व है, मन जो चिन्तन करता है या चक्षु-श्रोत्र आदि के देखने-सुनने आदि में माध्यम बनता है, उसमें उसी की कला है। वह 'साधुकर्मा' है, सत्य-शिव-सुन्दर कर्मों को ही करता है। आओ, हम उसे पुकारें, उच्च ज्ञान और कर्म की प्राप्ति के लिए उसके द्वार खटखटायें, मानव से देव बनने के लिए उसकी शरण में जाएँ।

हे मानव! जो 'उपयाम' है, जो समीप होकर प्रकृति के कम्प्यूटर को नियन्त्रित करता है, उसी को तुम पकड़ो, उसी की शरण में जाओ। उसी से यम-नियमों की डोर पकड़ो। उसी 'विश्वकर्मा इन्द्र' से कर्तृत्व की कला सीखो, उसी से बाह्य और आध्यात्मिक उड़ान की शिक्षा लो। उसी से अपरा और परा विद्या का सूत्र पकड़ो। उसी से सूत्रों का भाष्य करने की विद्या प्राप्त करो। वह तुम्हारा 'योनिरूप' है, तुम्हारा निवासगृह है, तुम्हारा शरणालय है। उसी विश्व-रचयिता, विश्व की प्रत्येक क्रिया का सञ्चालन करनेवाले परमैश्वर्यवान् प्रभु की शरण में तुम्हें भेजता हूँ। उसी की स्तुति करो, उसी से प्रार्थना करो, उसी की उपासना करो। वह तुम्हारा कल्याण करेगा, वह तुम्हें साधु मार्ग द्वारा लक्ष्य पर पहुँचायेगा। देवासुरसंग्राम में वही तुम्हें विजय दिलायेगा।

पाद-टिप्पणियाँ

१. वाज=संग्राम। निघं० २.१७

२. योनि=गृह। निघं० ३.४

६१. जीवन्मुक्ति का चित्रण

ऋषयः देवाः। देवता प्रजापतिः। छन्दः निचृद् आर्षी बृहती।

सत्रस्य ऽऋद्धिरस्यगन्म ज्योतिरमृताऽअभूम ।
दिवं पृथिव्याऽअध्यारुहामाविदाम देवान्त्स्वर्ज्योतिः ॥

—यजु० ८।५२

हे जीवन्मुक्ति! तू (**सत्रस्य**) जीवन-यज्ञ की (**ऋद्धिः असि**) समृद्धि है। (**अगन्म ज्योतिः**) पहुँच गये हैं हम प्रजापति रूप ज्योति तक। (**अमृताः अभूम**) अमर हो गये हैं, जीवन्मुक्त हो गये हैं। (**पृथिव्याः दिवम् अध्यारुहाम**) पृथिवी से द्युलोक में चढ़ गये हैं, निचले स्तर से सर्वोच्च स्तर पर पहुँच गये हैं। हमने (**अविदाम देवान्**) पा लिया है, दिव्य गुणों को, (**स्वः**) आनन्द को, (**ज्योतिः**) दिव्य प्रकाश को।

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष ये जीवन के पुरुषार्थ-चतुष्टय कहलाते हैं। धर्माचरण, धर्मानुकूल उपायों से अर्थसञ्चय एवं धर्मानुकूल काम का सेवन करते हुए मोक्ष के लिए प्रयत्नशील रहना मानव-जीवन का चरम लक्ष्य है। मुक्ति के मुख्य उपाय हैं विवेक, वैराग्य, षट्क सम्पत्ति (शम, दम, उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा, समाधान) और वृत्ति-चतुष्टय (मैत्री, करुणा, मुदिता, उपेक्षा)। इन उपायों द्वारा अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश इन पाँच क्लेशों से छूट कर मनुष्य मुक्ति का परमानन्द प्राप्त करता है। उक्त साधनों के अतिरिक्त "परमेश्वर की आज्ञा पालने, अधर्म-अविद्या-कुसङ्ग-कुसंस्कार, बुरे व्यसनों से अलग रहने, सत्यभाषण, परोपकार, विद्या, पक्षपातरहित न्यायधर्म की वृद्धि करने, परमेश्वर की स्तुति-प्रार्थना-उपासना

अर्थात् योगाभ्यास करने, विद्या पढ़ने-पढ़ाने, धर्म से पुरुषार्थ कर ज्ञान की उन्नति करने, पक्षपातरहित न्यायधर्मानुसार आचरण करने आदि साधनों से मुक्ति और इनसे विपरीत ईश्वराज्ञाभङ्ग आदि से बन्ध होता है।''[१] जब मनुष्य उस परमात्मा के दर्शन कर लेता है, जो अपने आत्मा के भीतर और सर्वत्र बाहर भी व्याप रहा है तब उससे अज्ञानरूपी गाँठ कट जाती है, उसके सब संशय छिन्न हो जाते हैं और दुष्ट कर्म क्षय को प्राप्त हो जाते हैं।[२] इस स्थिति में जब तक शरीरपात नहीं होता, तब तक वह जीवन्मुक्त कहाता है। ऐसे ही कोई मनुष्य अपनी आनन्दमय जीवन्मुक्ति का वर्णन करते हुए प्रस्तुत मन्त्र में कह रहे हैं—

'हे जीवन्मुक्ति! तू हमारे जीवन-यज्ञ की अतिशय समृद्ध अवस्था है। इस अवस्था में हमने प्रजापति परमात्मारूप ज्योति को पा लिया है। हम अमर हो गये हैं। हम पृथिवी से उठकर अन्तरिक्ष में पहुँच गये हैं, हमने ऊर्ध्व स्तर को पा लिया है। हमने दिव्य गुण पा लिये हैं। हमने आनन्द पा लिया है। हमने दिव्य प्रकाश प्राप्त कर लिया है। हम जीवन्मुक्त हो गये हैं। देहपात के अनन्तर अब हम सुदीर्घ काल तक मुक्ति का आनन्द पाते रहेंगे, प्रभु के साहचर्य का दिव्य सुख अनुभव करते रहेंगे।'

पाद-टिप्पणियाँ

१. स० प्र०, समु० ९।

२. मु० उप० २.२.१८

६२. देहधारक चौंतीस तत्त्व

ऋषिः वसिष्ठः । देवता विश्वेदेवाः । छन्दः भुरिक् आर्षी त्रिष्टुप् ।

चतुस्त्रिꣳशत्तन्तवो ये वितत्निरे यऽइमं यज्ञꣳस्वधया ददन्ते ।
तेषां छिन्नꣳसम्वेतद्दधामि स्वाहा घर्मोऽअप्येतु देवान् ॥

—यजु० ८।६१

(चतुस्त्रिंशत्) चौंतीस **(तन्तवः)** सूत्र **(ये वितत्निरे)** जो देहरूप ताने को तन रहे हैं, **(ये)** जो **(इमं यज्ञं)** इस जीवन-यज्ञ को **(स्वधया)** आत्मधारणशक्ति से **(ददन्ते[१])** धारण कर रहे हैं, **(तेषां छिन्नं)** उनके छिन्न हुए अंश को **(एतत् सं दधामि)** यह संधान कर रहा हूँ, पूर्ण कर रहा हूँ। **(स्वाहा)** शरीर में यथोचित ओषधि की आहुति से स्वस्थ किया हुआ **(घर्मः[२])** जीवन-यज्ञ **(देवान्)** दिव्य गुणों को **(अप्येतु)** प्राप्त हो।

यों तो प्रत्येक पदार्थ पञ्च तत्त्वों के विभिन्न अनुपातों के मेल से बना है, तो भी देहधारक तत्त्व चौंतीस माने जा सकते हैं। पञ्चभूत, १० इन्द्रियाँ, १० प्राण, अहङ्कारचतुष्टय (मन, बुद्धि, चित्त, अहङ्कार), ४ धातुएँ (अस्थि, मांस, मज्जा, रक्त), १ आत्मा। इनमें से किसी की भी न्यूनता या दुर्बलता होने पर शरीर न्यून या दुर्बल हो जाता है। उदाहरणार्थ इन्द्रियाँ, प्राण, मन, बुद्धि या आत्मा के दुर्बल हो जाने से शरीर अस्वस्थ या दयनीय लगने लगता है। आँख की दूरदृष्टि या समीपदृष्टि यदि अल्प हो जाती है, तो उस कमी को दूर करने के लिए हम उपनेत्र (ऐनक) का प्रयोग करते हैं। कभी-कभी आँख में मोतिया उतर आता है, तब शल्यक्रिया करानी पड़ती है और कृत्रिम लैन्स डाला जाता है। शल्यक्रिया यदि सफल न हो,

तो एक आँख या दोनों आँखें सदा के लिए बेकार हो जाती हैं। तब अन्धा हो जाने से कितनी बड़ी कमी शरीर में अनुभव होने लगती है। इसी प्रकार श्रवणशक्ति कम हो जाने से या सर्वथा नष्ट हो जाने से भी शरीर अल्पसामर्थ्य हो जाता है। प्राण, अपान आदि के ठीक काम न करने से भी पाचन-संस्थान, रक्त-संस्थान, ज्ञानतन्तु-संस्थान आदि अपना कार्य ठीक प्रकार से नहीं कर पाते। मनोबल या आत्मबल न्यून हो जाए, तब तो मनुष्य नकारे के तुल्य हो जाता है, क्योंकि कठिन कार्य करने की या सङ्कटों से मुकाबला करने की शक्ति उसके अन्दर नहीं रहती। उक्त सभी चौंतीसों तत्त्व स्वात्मधारण-शक्ति से हमारे जीवन-यज्ञ को धृत या सञ्चालित कर रहे हैं। यदि इनमें से किसी का भी अंश न्यून हो जाता है, तो यथोचित चिकित्सा द्वारा या शरीर में ओषधि की आहुति द्वारा मैं उसे पूर्ण कर लेता हूँ। परन्तु कमी को पूर्ण करके स्वस्थ किया हुआ भी जीवन-यज्ञ किसी काम का नहीं है, यदि उसमें सद्गुणों का समावेश न हो। अतः शरीरस्थ आत्मा में मैं सत्य, अहिंसा, न्याय, दयालुता, सेवाभाव आदि सद्गुणों का समावेश भी करता हूँ। तब स्वस्थ और सर्वगुणसम्पन्न मेरा जीवन उन्नति और परोपकार में लगकर यशस्वी हो उठता है।

पाद-टिप्पणियाँ

१. ददन्ते धारयन्ति, दद दानधारणयोः—म०।

२. घर्मः=यज्ञ, निघं० ३.१७

६३. अष्टाङ्गयोग का दूध

ऋषिः वसिष्ठः । देवता यज्ञः । छन्दः स्वराड् आर्षी त्रिष्टुप् ।

यज्ञस्य दोहो विततः पुरुत्रा सोऽअष्टधा दिवमन्वाततान ।
य यज्ञ धुक्ष्व महि मे प्रजायाᳬरायस्पोषं विश्वमायुरशीय स्वाहा ॥

—यजु० ८ । ६२

(**यज्ञस्य**) योग-यज्ञ का (**दोहः**) दूध (**पुरुत्रा**) बहुत स्थानों में (**विततः**) फैला हुआ है । (**सः**) वह यज्ञ (**अष्टधा**) यम, नियम आदि आठ योगाङ्गों के खम्भों पर (**दिवं**) आत्मा रूप द्युलोक का (**अन्वाततान**) तम्बू तानता है । (**नः यज्ञ**) वह तू हे योगयज्ञ (**मे प्रजायां**) मेरी प्रजा में (**महि रायस्पोषं**) महान् योगैश्वर्य की पुष्टि को (**धुक्ष्व**) दोहन कर । मैं योगबल से (**विश्वम् आयुः**) सम्पूर्ण आयु (**अशीय**) प्राप्त करूँ । (**स्वाहा**) योग-यज्ञ में मेरी आहुति है ।

क्या तुम ऐसे यज्ञ को जानते हो, जो दूध देता है, अनेक स्थानों पर जिसकी शालाएँ दूध बाँटने के लिए खुली हुई हैं और जो आठ खम्भों पर द्युलोक का तम्बू तानता है ? यह यज्ञ योग-यज्ञ है, जिसमें सब चित्तवृत्तियों का अभ्यास और वैराग्य के द्वारा अथवा ईश्वरप्रणिधान के द्वारा निरोध करके, मार्ग में आनेवाले चित्तविक्षेपरूप अन्तरायों (विघ्नों) का प्रतिषेध करके समाधि प्राप्त की जाती है, अध्यात्मप्रसाद मिलता है, जिसमें ऋतम्भरा प्रज्ञा का उदय होता है । ईश्वर के स्वरूप का साक्षात्कार, आनन्द और शान्ति ही उस योग-यज्ञ का दूध है । देश-विदेश में जहाँ-जहाँ भी योग के शिविर लगते हैं और योगसाधना होती है, वहाँ-वहाँ वह दूध बँट रहा है । आगे मन्त्र कहता है कि वह यज्ञ आठ प्रकार से या आठ साधनों से द्युलोक का तम्बू तानता है । योग-यज्ञ के आठ अङ्ग होते

हैं—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि। अध्यात्म में शरीर पृथिवी है, मन अन्तरिक्ष है और आत्मा द्युलोक है। अतः द्युलोक का तम्बू तानने का अभिप्राय है आत्मा की ऋद्धि-सिद्धि को फैलाना। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ये पाँच यम कहलाते हैं। जो अहिंसा को अपने अन्दर प्रतिष्ठित कर लेता है, उसके प्रति सब प्राणी वैर को त्याग देते हैं। सत्य प्रतिष्ठित कर लेने पर योगी जो आशीर्वाद देता है, वह सत्य सिद्ध हो जाता है। अस्तेय की प्रतिष्ठा से वह सब रत्नों की प्राप्ति का अधिकारी हो जाता है। ब्रह्मचर्य की प्रतिष्ठा से वीर्यलाभ होता है। अपरिग्रह की स्थिरता से पूर्व जन्म की बातें याद आ जाती हैं। शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वरप्रणिधान ये पाँच नियम हैं। शौच से शरीर इन्द्रियाँ, मन आदि सर्वथा शुद्ध रहते हैं। सन्तोष से सर्वोत्तम सुख की प्राप्ति होती है। तप से अशुद्धिक्षय होकर शरीर, इन्द्रियों और मन की अणिमा, लघिमा आदि सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। स्वाध्याय से अभीष्ट विषय का ज्ञान होता है। ईश्वरप्रणिधान से समाधि सिद्ध होती है। चिरकाल तक जिससे सुखपूर्वक बैठ सके वह आसन कहलाता है, उससे सर्दी-गर्मी आदि द्वन्द्व नहीं सताते। प्राणायाम से प्रकाशावरण का क्षय होता है और धारणाओं में मन की योग्यता हो जाती है। इन्द्रियों का बाह्य विषयों से हटाना प्रत्याहार कहाता है। उससे इन्द्रियाँ वश में हो जाती हैं। चित्त का किसी देश-विशेष में लगाये रखना धारणा कहलाती है। चित्त को जिस विषय में लगाना हो चिरकाल तक उसमें लगाये रखना ध्यान कहलाता है। समाधि में चित्त निर्विषय हो जाता है, उससे आनन्द की अनुभूति तथा ईश्वर-साक्षात्कार होता है। इस प्रकार योगयज्ञ अष्टाङ्गों द्वारा आत्मा को आध्यात्मिक सुख प्रदान करता है। मन्त्र के अन्तिम भाग में कहा गया है कि योगयज्ञ द्वारा प्रजाओं में योगैश्वर्य की पुष्टि होती है तथा पूर्ण आयु प्राप्त हो सकती है। ये सब अष्टाङ्गयोग के दूध हैं। आइये, हम भी अष्टाङ्गयोग की उपासना करके उसके दूध का पान करने का सौभाग्य प्राप्त करें।

६४. हे बली! वायुवेग से चल

ऋषिः बृहस्पतिः। देवता वाजी। छन्दः भुरिग् आर्षी त्रिष्टुप्।

वातरंहा भव वाजिन् युज्यमानऽइन्द्रस्येव दक्षिणः श्रियैधि।
युञ्जन्तु त्वा मरुतो विश्ववेदसऽआ ते त्वष्टा पत्सु जवं दधातु॥

—यजु० ९।८

हे (**वाजिन्**) बली मनुष्य! तू (**नियुज्यमानः**) कर्म में नियुक्त होता हुआ (**वातरंहाः भव**) वायु के समान वेगवाला हो। (**इन्द्रस्य इव**) राजा की तरह (**श्रिया**) लक्ष्मी से (**दक्षिणः**) सम्पन्न (**एधि**) हो। (**युञ्जन्तु**) कार्यों में प्रेरित करें (**त्वा**) तुझे (**विश्ववेदसः**) सकल विद्याओं के वेत्ता (**मरुतः**) विद्वान् जन। (**त्वष्टा**) जगत् का शिल्पी परमेश्वर (**ते पत्सु**) तेरे पैरों में (**जवं**) वेग (**आ दधातु**) ला देवे।

हे वीर! संसार तुझे बली कहता है और तू भी स्वयं को बली मानता है। तो फिर मरियल चाल से क्यों चल रहा है? क्या इस उदासी-भरे मन और निष्क्रिय चाल से तुझे सङ्कोच नहीं होता? तू यह भी नहीं सोचता कि जग क्या कहेगा। तेरे बल को धिक्कारेगा या सराहेगा।

हे बली! उड़, वायुवेग से उड़। बैलगाड़ी का युग नहीं रहा, वायुयान से यात्रा कर। जलपोत में बैठकर जहाँ तू चार दिन-रात में पहुँचेगा, वहाँ वायुयान से पाँच घण्टे में पहुँच जाएगा। करने को बहुत कुछ है, समय कम है। अतः प्रत्येक कार्य तीव्र गति से कर। आज के वैज्ञानिक आविष्कारों का भी लाभ उठा। वायुवेग से भी नहीं, मनोवेग से उड़। मन एक सेकेण्ड में अमरीका पहुँच जाता है। तू बैलगाड़ी से भूमि पर चलेगा, नाव से समुद्र पार करेगा, तो हिसाब तो लगा कि अमरीका कितने महीनों में पहुँचेगा। केवल यात्रा में ही तेजी लाने के लिए मैं तुझे नहीं प्रेरणा दे रहा हूँ। यात्रा तो उपलक्षण है, उदाहरण है, सब कार्यों में तुझे तेजी लानी होगी। परन्तु

एक बात याद रख। कार्य में अन्धाधुन्धी भी नहीं करनी है। सोच-विचार कर पहले निर्णय कर ले कि किस कार्य को करना है, कैसे करना है, कितने समय में करना है, यह कार्य व्यर्थ तो सिद्ध नहीं होगा या यह कार्य सामूहिक जगत् में उपहसनीय अथवा निन्दनीय तो नहीं होगा। 'इन्द्र' की प्रेरणा में चल, 'वृत्र' की प्रेरणा में नहीं। इन्द्र ऐश्वर्य, वीरता, सत्य-शिव-सुन्दर सबका प्रतिनिधित्व करता है, वृत्र प्रतिनिधि है अन्धकार, पर-पीड़ा, आच्छादन, संहार, आतङ्क का। इन्द्र की प्रेरणा से कार्य-तत्पर होगा, तो यश मिलेगा, अभिनन्दन होंगे, जयकार होगा। वृत्र की प्रेरणा से चलेगा, तो अपयश हाथ लगेगा, मनीषियों के बीच हास्यास्पद होगा। इसलिए तेजी से तो चल, किन्तु ऐसी तेजी मत ला कि यह भी न सोचे कि चलना किधर है। इन्द्र की प्रेरणा में चलकर इन्द्र के समान श्री-सम्पन्न बन।

कार्य प्रारम्भ करने से पूर्व सब विद्याओं के विज्ञानी विद्वान् लोगों से भी परामर्श कर ले कि यह कार्य किस सीमा तक लाभ या हानि पहुँचा सकता है। उन अनुभवी विद्वानों से सहमति प्राप्त करके ही कार्य आरम्भ कर। यदि वे तेरी योजना में कुछ संशोधन करना चाहें, तो संशोधन कर ले। यदि वे उस योजना को रद्द करके तुझे कोई अन्य योजना बनाने की राय दें, तो उस पर विचार कर ले।

'त्वष्टा' प्रभु अखिल ब्रह्माण्ड का शिल्पी है। वही सुविचारित कार्यों को सफल करता है। उसका भी आशीर्वाद ग्रहण कर ले। त्वष्टा प्रभु तेरे पैरों में वेग ला देवे। पैर सभी इन्द्रियों का प्रतिनिधित्व करते हैं। त्वष्टा प्रभु तेरे शरीर की प्रत्येक ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय में बल और वेग उत्पन्न कर दे, जिससे तू प्रत्येक कार्य त्वरित गति से कर सके। 'त्वष्टा' का अर्थ सूर्य भी होता है, सूर्य के पैर उसकी किरणें हैं। सूर्य-किरणों या सूर्य-प्रकाश की गति प्रति सेकेण्ड ३ लाख कि० मीटर है। उससे भी शिक्षा लेकर सब कार्य द्रुत गति से कर। अन्यथा मृत्यु के समय तू पछतायेगा कि इस जीवन में ये-ये कर्म हो सकते थे, मैंने तो कुछ भी नहीं किया। जा, कार्यक्षेत्र में उतर, वायुवेग से चल, मनोवेग से चल, सफलता तेरे चरण चूमेगी।

६५. आत्मा और मन के जीते जीत

ऋषिः बृहस्पतिः। देवता बृहस्पतिः इन्द्रश्च। छन्दः आर्षी जगती।

बृह॑स्पते॒ वाजं॑ जय॒ बृह॒स्पत॑ये॒ वाचं॑ वदत॒ बृह॒स्पतिं॒ वाजं॑ जापयत।
इन्द्र॒ वाजं॑ ज॒येन्द्रा॑य॒ वाचं॑ वद॒तेन्द्रं॒ वाजं॑ जापयत॥

—यजु० ९।११

(बृहस्पते) हे महान् शक्ति के स्वामी जीवात्मन्! तू **(वाजं जय)** देवासुरसंग्राम को जीत। **(बृहस्पतये[1])** महाशक्ति के स्वामी जीवात्मा के लिए **(वाचं वदत)** उद्‌बोधन की वाणी बोलो। **(बृहस्पतिम्)** महाशक्ति के स्वामी जीवात्मा को **(वाजं)** संग्राम **(जापयत[2])** जितवाओ। **(इन्द्र)** हे परमैश्वर्यवान् मन![3] तू **(वाजं जय)** संग्राम को जीत। **(इन्द्राय)** परमैश्वर्यवान् मन के लिए **(वाचं वदत)** उद्‌बोधन की वाणी बोलो। **(इन्द्रं)** परमैश्वर्यवान् मन को **(वाजं)** संग्राम **(जापयत)** जितवाओ।

हे मेरे आत्मन्! तू बृहती शक्ति का अधिपति होने के कारण 'बृहस्पति' कहलाता है। तेरे अन्दर अपार बल निहित है। उस बल से तू अपने अन्दर होनेवाले देवासुरसंग्राम पर विजय प्राप्त कर। जब भी तू किसी व्रत की दीक्षा लेना चाहता है या कोई पुण्य कार्य करना चाहता है, तभी आसुरी वृत्तियाँ आकर तुझे उस व्रत से तथा उस पुण्य कार्य से रोकना चाहती हैं। उन आसुरी वृत्तियों के वश में तू मत हो। अन्दर के समान बाहर भी तुझे देवासुरसंग्राम लड़ना पड़ता है। आसुर वृत्ति के पामर लोग श्रेष्ठ मार्ग पर चलनेवाले तुझे भटका कर उस मार्ग से विचलित करना चाहते हैं। परन्तु उनके प्रभाव में न आकर तू अपनी सात्त्विक वृत्ति के साथ श्रेष्ठ मार्ग पर चलने का

आदर्श स्थापित करता रह।

हे मनुष्यो! जब कभी तुम्हें कोई पाशविक वृत्ति उद्विग्न करने लगे, तुम्हारी ऊर्ध्व यात्रा में कोई विघ्न आकर अवरोध उपस्थित करने लगे, कोई शत्रु आकर तुम्हें ऊपर से नीचे गिराने लगे, तब तुम अपने 'बृहस्पति' आत्मा को उद्बोधन दो, उसे जागृत करो। उसे उद्बोधन देकर उससे संग्राम जितवाओ। यदि तुम समझते हो कि चक्षु, श्रोत्र आदि इन्द्रियों से तुम संग्राम जीत लोगे, तो यह तुम्हारी भूल है। ये इन्द्रियाँ तो विषयों की ओर प्रवृत्त होकर संग्रामों में तुम्हारी पराजय करानेवाली सिद्ध होती हैं। आत्मा ही है, जो निर्भीक, निश्चल होकर शत्रुओं से लोहा लेता है।

हे मेरे 'इन्द्र'! हे मेरे परमैश्वर्यवान् मन! तू अपने सङ्कल्प-बल से देवासुरसंग्राम को जीत। हे मानवो! जब भी तुम्हें कभी विपदा आती दिखायी दे, शत्रुओं की टोली तुम्हें लीलने के लिए आगे बढ़ती दृष्टिगोचर हो, तब तुम अपने मन को उद्बोधन दो, मन को जागृत एवं प्रबुद्ध करो, उससे देवासुरसंग्राम जितवाओ। मत भूलो 'मन के हारे हार है, मन के जीते जीत'। आओ, हम सभी अपने आत्मा और मन को प्रबुद्ध करके देवासुरसंग्रामों में विजय प्राप्त करें।

पाद-टिप्पणियाँ

१. बृहत्याः महत्याः शक्तेः पतिः बृहस्पतिः। बृहत्-पति। त् का लोप और सुट्=स् का आगम। 'तद्बृहतोः करपत्योश्चोरदेवतयोः सुट् तलोपश्च', वार्तिक, पा० ६.१.१५७

२. जापयत, जि जये, णिच्, लोट्।

३. यन्मनः स इन्द्रः। गो० उ० ४.११

६६. राजपुरुषों का दायित्व

ऋषिः वसिष्ठः। देवता बृहस्पतिः। छन्दः भुरिक् पङ्क्तिः।

शन्नो॑ भवन्तु वा॒जिनो॒ हवे॑षु दे॒वता॑ता मि॒तद्र॑वः स्व॒र्काः।
ज॒म्भय॒न्तोऽहिं॒ वृक॒ꣳ रक्षा॑ꣳसि॒ सने॑म्य॒स्मद्यु॑यव॒न्नमी॑वाः॥

—यजु० ९।१६

हे बृहस्पति राजन्! (**मितद्रवः**[१]) मपी-तुली गतिवाले, (**स्वर्काः**[२]) शुभ अर्चिवाले (**वाजिनः**) वीर राजपुरुष (**देवताता**[३]) यज्ञ में, और (**हवेषु**[४]) संग्रामों में (**नः**) हमारे लिए (**शं भवन्तु**) सुखशान्तिकारी हों। वे (**अहिं**) साँपको, (**वृकं**) भेड़िये को, और (**रक्षांसि**) राक्षसों को (**जम्भयन्तः**[५]) विनष्ट करते हुए (**अस्मद्**) हमसे (**सनेमि**[६]) शीघ्र ही (**अमीवाः**) रोगों को (**युयवन्**[७]) दूर कर देवें।

राजपुरुषों की नियुक्ति उनके पदों पर उन्हें सम्मान देने के लिए या प्रजा पर रोबदाब जमाने के लिए नहीं होती है, अपितु प्रजा की सेवा के लिए होती है। 'वाज' शब्द बलवाचक है, अतः 'वाजी' का अर्थ है बली। 'वाजिनः' उसका बहुवचन है। यहाँ 'वाजिनः' का अर्थ है बली राजपुरुष। मन्त्र में 'वाजिनः' के दो विशेषण दिये गये हैं 'मितद्रवः' और 'स्वर्काः'। 'मितद्रवः' का अर्थ है मपी-तुली गतिवाले। जिस-जिस अधिकार या पद पर उन्हें नियुक्त किया गया है, उसकी जो सीमा है, वहीं तक गति करना उनका कार्य होता है। परन्तु गति करनी अवश्य है, अपने क्षेत्र में पूरा सक्रिय होना है, उदासीन होकर नहीं बैठना है। 'स्वर्काः' का निरुक्त में एक अर्थ 'स्वर्चिषः' दिया गया है, अर्थात् उत्कृष्ट ज्योतिवाले। प्रत्येक राजपुरुष को ज्योतिष्मान् अर्थात् अन्यों पर अपना प्रभाव छोड़नेवाला होना चाहिए। ढीला-ढाला या गलत बात पर समझौता कर लेनेवाला नहीं। इनके विषय में एक बात यह कही गयी है कि ये यज्ञ में और संग्रामों में हमारे लिए सुखकारी हों। जिस राजपुरुष

को जो कार्य सौंपा गया है, वही उसके लिए यज्ञ है। उसे पवित्र यज्ञ मानकर ही करना है। जब कभी अपने राष्ट्र को किसी दूसरे राष्ट्र से युद्ध करना पड़ जाता है, तब उसमें भी क्षत्रियभिन्न राजपुरुषों को भी सेना की सहायता के लिए भेजना पड़ जाता है, क्योंकि वेद की दृष्टि में प्रत्येक राष्ट्रवासी को सैनिक शिक्षा देना अनिवार्य है। जैसे नियुक्त स्थल पर राजपुरुषों को प्रजाहित करना है, वैसे ही संग्रामों में भी राष्ट्रहित या प्रजाहित करना होता है। जो क्षत्रिय राजपुरुष होते हैं, उनसे तो संग्रामों में प्रजाहित अपेक्षित होता ही है।

राजपुरुषों का यह भी कर्त्तव्य है कि वे अहि, वृक और राक्षसों को विनष्ट करें। अहि, वृक और राक्षस राष्ट्रवासियों में भी हो सकते हैं और शत्रुओं में भी। जो साँप की तरह कुटिल चाल चलते हैं और विषैले हैं, वे 'अहि' होते हैं। हिंसा, मार-काट मचानेवाले लोग 'वृक' या भेड़िये हैं। जिनसे अपनी रक्षा करनी पड़ती है ऐसे नरपिशाच राक्षस या रक्षस् हैं। इन्हें विनष्ट करके ही तो राजपुरुष प्रजा को सुख पहुँचा सकेंगे। अन्त में कहा गया है कि वे राजपुरुष इन सबका विध्वंस करते हुए हमारे रोगों या अस्वास्थ्य को भी दूर करें, अर्थात् हमें चिन्ताओं से मुक्त करें। रोग शारीरिक व्याधियाँ ही नहीं, मानसिक चिन्ताएँ भी रोग कहाती हैं।

हे राजपुरुषो! तुम हम प्रजाओं को सर्वभाव से सुखी रखो, हम तुम्हारा धन्यवाद करेंगे।

पाद-टिप्पणियाँ

१. (मितद्रवः) ये परिमितं द्रवन्ति गच्छन्ति ते—द०।
२. स्वर्काः स्वञ्चना इति वा, स्वर्चना इति वा, स्वर्चिष इति वा—निरु० १२.३०।
३. देवताता=यज्ञे। निघं० ३.१७। देव-तातिल् प्रत्यय, सप्तमी विभक्ति को डा=आ आदेश।
४. ह्वयन्ते स्पर्धन्ते योद्धारो यत्र स हवः संग्रामः। ह्वेञ् स्पर्धायां शब्दे च, भ्वादिः।
५. जभि नाशने, चुरादिः।
६. सनेमि=क्षिप्रम्, निरु० १२.३०।
७. युयवन् पृथक् कुर्वन्तु। अत्र लेटि शपः श्लुः—द०। यु मिश्रणे अमिश्रणे च, अदादिः।

६७. हम पुरोहित राष्ट्र में जागरूक रहें

ऋषिः वसिष्ठः । देवता प्रजापतिः । छन्दः स्वराड् आर्षी त्रिष्टुप् ।

वाजस्येमं प्रसवः सुषुवेऽग्रे सोमꣳराजानमोषधीष्वप्सु ।
ताऽअस्मभ्यं मधुमतीर्भवन्तु वयꣳराष्ट्रे जागृयाम पुरोहिताः स्वाहा ॥

—यजु० ९ । २३

(**वाजस्य**) अन्नादि ऐश्वर्य से भरपूर जगत् के (**प्रसवः**) उत्पत्तिकर्ता प्रजापति ने (**अग्रे**) सृष्टि के आरम्भ में (**ओषधीषु अप्सु**) ओषधियों और जलों में (**इमं सोमं**) इस सोम ओषधि को (**राजानं**) राजा (**सुषुवे**[१]) बनाया। (**ताः**) वे ओषधियाँ और जल (**अस्मभ्यं**) हमारे लिए (**मधुमतीः भवन्तु**) मधुमय होवें। (**पुरोहिताः वयं**) पुरोहित हम, अग्रगण्य पद पर स्थित हम (**राष्ट्रे**) राष्ट्र में (**जागृयाम**) जागरूक रहें, (**स्वाहा**) आहुति देने के लिए।

जिनके हाथों में राष्ट्र की बागडोर है, वे प्रधानमन्त्री विभिन्न विभागों के पृथक्-पृथक् मन्त्री, प्रदेशों के मुख्य मन्त्री, राज्यपाल, न्यायाधीश, सेनाध्यक्ष, उपराष्ट्रपति, राष्ट्रपति आदि ही राष्ट्रयज्ञ के पुरोहित होते हैं। वे यदि प्रतिक्षण जागरूक नहीं हैं, तो राष्ट्र कभी भी विपत्ति में पड़ सकता है। कौन राष्ट्र कितना ऊँचा है, यह उस राष्ट्र के शिक्षा, शिल्प, उत्पादन, व्यापार, यात्रा-साधन, चिकित्सासाधन, स्वास्थ्य, विदेशों से सम्बन्ध आदि देख कर निर्णय होता है। जिस राष्ट्र के पुरोहित जितने अधिक जागरूक हैं, उतना ही अधिक वह राष्ट्र उन्नत हो सकता है। अन्य राष्ट्रों से तुलना भी होगी। सभी राष्ट्रों के पुरोहित सक्षम, सावधान, क्रियाशील बने रहने का यत्न करते हैं, किन्तु वे उन्नति के साधन कितने जुटा पाते हैं, यह भी

देखा जाता है। एक राष्ट्र में ९० प्रतिशत राष्ट्रवासी शिक्षित हैं, दूसरे राष्ट्र में १० प्रतिशत ही शिक्षित हैं, एक राष्ट्र में खाद्य पदार्थों की प्राप्ति अपनी कृषि से ही हो जाती है, अन्य पदार्थ भी अपने कल-कारखानों से ही तैयार हो जाते हैं, दूसरे राष्ट्र को इन पदार्थों के लिए अन्य राष्ट्रों पर निर्भर रहना पड़ता है। एक देश रक्षासाधन शस्त्रास्त्रों की दृष्टि से स्वात्मनिर्भर है, दूसरा राष्ट्र परापेक्षी है। इस स्थिति में कौन-सा राष्ट्र अधिक समुन्नत है, यह स्वतः निर्णय हो जाता है।

पुरोहितों के निर्वाचन के पश्चात् यज्ञपूर्वक उनका सामूहिक अभिषेक हो रहा है। अभिषेक सोम आदि ओषधियों के पत्र-पुष्पों की मालाएँ भेंट करते हुए तथा जल छिड़कते हुए किया जा रहा है। पुरोहित कहते हैं कि अन्नादि ऐश्वर्य से भरपूर जगत् के उत्पादक प्रजापति परमेश्वर ने सोम राजावाले जल और ओषधियाँ उत्पन्न किये हैं, जिनसे हमारा अभिषेक किया जा रहा है। वे हमारे लिए मधुर हों, शान्तिदायक हों, उद्बोधक हों, पौरोहित्य के कार्य में सफल करनेवाले हों। 'हम पुरोहित राष्ट्र में सदा जागरूक रहेंगे।' यह हम यज्ञाग्नि में आहुति डालते हुए प्रजापति परमेश्वर से आशीर्वाद चाहते हैं। जिस मार्ग पर हम चले हैं, वह अकण्टक नहीं है। अनेक बाधाओं से जूझते हुए हमें राष्ट्रोत्थान और राष्ट्रकल्याण करना है, राष्ट्र की सेवा करनी है। हम किसी भी पद पर हों सेवक पहले हैं, अधिकारी बाद में हैं। हमें गर्व है इस बात का कि हमें जनता ने चुनकर इस बात का प्रमाणपत्र दिया है कि हम राष्ट्रसेवा के योग्य हैं। हम अपनी पूरी योग्यता से राष्ट्र का हित साधन करने में अपनी शक्ति लगायेंगे और सदा जागरूक रहेंगे। हम यज्ञाग्नि में 'स्वाहा' के साथ आहुति देते हुए राष्ट्र की अग्नि में स्वयं को 'स्वाहा' करने की प्रेरणा ले रहे हैं। प्रभु का और जनता-जनार्दन का आशीर्वाद हमें प्राप्त होता रहे।

पाद-टिप्पणी

१. सुषुवे—षूङ् प्राणिगर्भविमोचने, लिट्।

६८. हम राष्ट्रनायकों को पुकारते हैं

ऋषिः तापसः । देवताः मन्त्रोक्ताः सोमः, अग्निः, आदित्याः, विष्णुः, सूर्यः, ब्रह्म, बृहस्पतिः । छन्दः आर्षी अनुष्टुप् ।

सोमꣳराजानमवसेऽग्निमन्वारभामहे ।
आदित्यान्विष्णुꣳसूर्यं ब्रह्माणं च बृहस्पतिꣳस्वाहा ॥

—यजु० ९ । २६

हम (**अवसे**[१]) रक्षा के लिए (**सोमं राजानम्**) सौम्य तथा ज्योति से राजमान परब्रह्म को, (**अग्निम्**) अग्रनेता तेजस्वी जननायक को, (**आदित्यान्**) सूर्यसदृश तेजस्वी वीर सैनिकों को, (**विष्णुम्**) अपने प्रभाव से सकल राष्ट्र में व्यापक राजा को, (**सूर्यम्**) विद्या और सदाचार के सूर्य उपदेशक को, (**ब्रह्माणम्**) यज्ञ के नेता ब्रह्मा को, (**बृहस्पतिं च**) और वाक्पति आचार्य को (**अन्वारभामहे**[२]) स्वीकार करते हैं, (**स्वाहा**) इनके प्रति हमारा समर्पण फलदायक हो।

हम आत्मरक्षा और आत्मोन्नति के लिए केवल स्वयं पर ही नहीं, किन्तु अन्यों पर भी निर्भर रहते हैं। उनमें से सर्वप्रथम हम अपने 'सोम राजा' को कृतज्ञतापूर्वक स्मरण करते हैं। 'सोम राजा' हमारा परम प्रभु है, जो अन्तरिक्षस्थ चन्द्रमा के समान सौम्य, रसमय, मधुर और मधुस्रावी है तथा सुखद ज्योति से राजमान है। वह निरन्तर हमें अपनी छत्रछाया में लेकर हमारी रक्षा कर रहा है, हमें आगे बढ़ना सिखा कर हमारी उन्नति कर रहा है। फिर हम 'अग्नि' अर्थात् अग्रनेता, तेजस्वी जननायक को पुकारते हैं। वह हमारे अन्दर मानवता, सहृदयता एवं प्रेम की ज्योति प्रज्वलित कर हमारी रक्षा करता है तथा पारस्परिक अभ्युत्थान के लिए हमें प्रेरित करता है।

तदनन्तर हम आदित्यों अर्थात् वीर क्षत्रियों को पुकारते हैं, जो आदित्य की किरणों के समान तेजस्वी होते हुए हमारे राष्ट्र की रक्षा करते हैं तथा उच्च राष्ट्रों की श्रेणी में हमारे राष्ट्र को ले जाते हैं। तत्पश्चात् हम राष्ट्रोन्नायक विष्णु को अर्थात् राष्ट्र के राजा को पुकारते हैं, जो अपने प्रभाव से समग्र राष्ट्र में व्याप्त होता हुआ, समस्त प्रजा का रक्षक होता हुआ राष्ट्र को उन्नति के शिखर पर पहुँचाता है। फिर हम सूर्य के समान तेजस्वी उपदेशक को पुकारते हैं, जिसकी वाणी में ओज है तथा जो अपनी प्रभावोत्पादक वाणी से राष्ट्रजनों को उद्बोधन देता है, उनके प्रसुप्त हृदयों को जगाता है एवं उन्हें कर्त्तव्योन्मुख करता है। साथ ही हम ब्रह्मा का भी आह्वान करते हैं, जो राष्ट्र में यज्ञों का सञ्चालन कर, वायु-जल आदि को तथा जनमानस को शुद्ध कर राष्ट्रवासियों के हृदयों को यज्ञसूत्रता में बाँध कर हमारा महान् उपकार करता है। अन्त में हम बृहस्पति अर्थात् वाचस्पति आचार्य को पुकारते हैं, जो गुरुकुल में प्रविष्ट बालकों को ब्रह्मचारी बनाकर ज्ञान तथा सदाचार की उच्च शिक्षा देकर सुयोग्य नागरिक बनाता है।

हम उक्त सब महान् नेताओं के प्रति स्वयं को समर्पित करते हैं—'स्वाहा'। ये हमें महान् लक्ष्य के प्रति प्रबुद्ध एवं जागरूक करके हमारा अभ्युत्थान करें।

पाद-टिप्पणियाँ

१. अवसे—अव रक्षणादिषु, असुन्, चतुर्थी विभक्ति।

२. अनु-आ-रभ राभस्ये, भ्वादिः।

६९. तुम दाता हो, मुझे भी दो

ऋषिः तापसः। देवता अग्निः। छन्दः भुरिग् आर्षी अनुष्टुप्।

अग्नेऽअच्छा वदेह नः प्रति नः सुमना भव।
प्र नो यच्छ सहस्रजित् त्वꣳहि धनदाऽअसि स्वाहा॥

—यजु० ९।२८

(अग्ने) हे अग्रनेता तेजस्वी परमात्मन्! आप **(इह)** यहाँ, इस संसार में **(नः अच्छ)** हमारे प्रति **(वद)** सदुपदेश करते रहो। **(नः प्रति)** हमारे प्रति **(सुमनाः भव)** शुभ मनवाले होवो। हे **(सहस्रजित्)** सहस्रों ऐश्वर्यों के विजेता! आप **(नः प्र यच्छ)** हमें ऐश्वर्य देते रहो, **(हि)** क्योंकि **(त्वम्)** आप **(धनदाः असि)** ऐश्वर्यों के प्रदाता हो। **(स्वाहा)** हम आपके प्रति आत्मसमर्पण करते हैं।

हे ज्योतिर्मय प्रभु! हमने अपने हृदय में तुम्हारी जोत जगायी है, तुम्हें अपना हृदयेश बनाया है। तुम 'अग्नि' हो, प्रकाशप्रदाता हो, हमारे अन्तस्तल में भी ज्ञान का प्रकाश देते हो। तुम हमें नित्य सदुपदेश देते रहो, हमारे अन्दर 'सत्यं, शिवं, सुन्दरम्' की प्रेरणा करते रहो। हम मार्ग से भटकने लगें, तो हमें मार्ग पर लाते रहो। हमारे सम्मुख जो अज्ञान का अन्धकार छाया हुआ है, उसे दूर करते रहो। हमें कर्त्तव्यबोध कराते रहो। हमारे अन्दर से तामसिकता को हटाकर हमें विवेक एवं जागरूकता की ज्योति प्रदान करते रहो।

हे देव! तुम हमारे प्रति 'सुमनाः' होवो, सुप्रसन्न मनवाले होवो। तुम हमें पुचकारो, दुलराओ, अपना स्नेह हमारे प्रति उंडेलो, अपने भावभीने मञ्जुल आशीर्वचनों से हमें कृतकृत्य करो।

हे मेरे परम प्रभु! तुम 'सहस्रजित्' हो, तुमने सहस्रों का दिल जीता हुआ है, मेरा भी दिल जीत लो! तुम 'सहस्रजित्' इस कारण भी हो कि तुमने सहस्रों ऐश्वर्यों को जीता हुआ है, सहस्रों ऐश्वर्य तुम्हारे पास भरे पड़े हैं। तुम मुझे भी ऐश्वर्य प्रदान करो, क्योंकि तुम 'धनदाता' नाम से विख्यात हो। तुम्हारे पास न्याय का ऐश्वर्य है, तुम्हारे पास दया का ऐश्वर्य है, तुम्हारे पास सहृदयता का ऐश्वर्य है, तुम्हारे पास प्रेम का ऐश्वर्य है, तुम्हारे पास परोपकार का ऐश्वर्य है। इन इन आन्तरिक ऐश्वर्यों के अतिरिक्त जगत् की सब भौतिक धन-दौलत भी तुम्हारी ही है। हे प्रभु, तुम ये सब ऐश्वर्य मुझे भी प्रदान करो। तुम मुझे भी न्यायकारी, दयालु, सहृदय, प्रेमी, परोपकारी बना दो। तुम मुझे भी भौतिक धन-सम्पदा से परिपूर्ण कर दो। 'स्वाहा'—मैं तुम्हें आत्मसमर्पण करता हूँ, स्वयं को आहुति बनाकर तुममें आहुत करता हूँ। तुम मेरे इस आहुतिदान को स्वीकार करो। मुझे अपनी अग्नि में तपा कर कुन्दन बना दो।

७०. राज्याधिकारियों से निवेदन

ऋषिः तापसः । देवता मन्त्रोक्ताः । छन्दः भुरिग् आर्षी गायत्री ।

प्र नो यच्छत्वर्यमा प्र पूषा प्र बृहस्पतिः ।
प्र वाग्देवी ददातु नः स्वाहा ॥

—यजु० ९ । २९

(अर्य्यमा[१]) न्यायाधीश **(नः)** हमें **(प्रयच्छतु)** अपनी देन दे। **(प्र पूषा[२])** पुष्टि, पशुपालन और यातायात का मन्त्री अपनी देन दे। **(प्र बृहस्पतिः[३])** शिक्षामन्त्री भी अपनी देन दे। **(वाग् देवी)** दिव्य वेदवाणी भी **(नः प्र ददातु)** हमें अपनी देन दे।

हम चाहते हैं कि राष्ट्र के सब अधिकारी हमें अपने-अपने अधिकार और सेवा से लाभ पहुँचाएँ। 'अर्यमा' अपनी देन दे। जो 'अर्यों' अर्थात् श्रेष्ठों का मान करता है और अश्रेष्ठों को दण्डित करता है वह न्यायाधीश अर्यमा कहलाता है। उसका कर्त्तव्य है कि वह प्रत्येक अभियोग के दोनों पक्षों को ध्यान से सुनकर अपना निर्णय दे कि दोषी कौन है और उसे क्या दण्ड दिया जाए। अपराध का दण्ड मिलने पर अपराधी को यह शिक्षा मिलती है कि भविष्य में वह अपराध न करे और अन्य लोग भी सजग हो जाते हैं। इस प्रकार न्यायाधीश की समाज को यह देन है कि वह राष्ट्र में निरपराधता का वातावरण तैयार करता है। 'पूषा' वेद में पुष्टि, पशुपालन और मार्गों का नियन्त्रण करता है, अतः वह इस विभाग का मन्त्री है। खेती और बागवानी की सब समस्याओं को वह देखेगा। वेद में ब्रीहि, यव, माष, तिल, मूँग, चने, किनकी चावल (अणु), साँवक चावल (श्यामाक), तृणधान्य (नीवार), गेहूँ, मसूर

आदि अन्नों के नाम आते हैं[४]। दूध, घी, रस, मधु का भी वर्णन आता है[५]। पुष्ट और पुष्टि की प्रचुरता होने का भी उल्लेख है। पशुपालन[६] के सूक्त भी हैं। इन सब विषयों की समस्याओं का समाधान करना और अपनी ओर से इन सबकी उन्नति करना पूषा मन्त्री की देन है। वह हमें प्रचुरता से प्राप्त होती रहे। 'बृहस्पति' शिक्षामन्त्री है। विश्वविद्यालयों की उन्नति, शिक्षा के विषयों की वृद्धि, उच्च शिक्षा का प्रबन्ध, वैज्ञानिक विषय कृषि, शिल्प आदि तथा अन्य विभिन्न विषयों की शिक्षा को सञ्चालित तथा उन्नत करना शिक्षा मन्त्री का कार्य है। वह इस कार्य को भलीभाँति करके अपनी देन देता रहे।

'वाग् देवी' दिव्य वेदवाणी है, सरस्वती भी उसी का नाम है। वेदवाणी विभिन्न विद्याओं का सरस प्रवाह हमें देकर हमारा उपकार करती है। साथ ही उद्बोधन, आशावाद की उमङ्ग, शिवसङ्कल्प, आत्मा की अमरता, आत्मा की अद्भुत क्षमता, सन्मार्ग में प्रवृत्ति, बाधाओं और विघ्नों का क्षय एवं ऊर्ध्वारोहण करा कर हमें समुन्नत करती है।

उक्त सब मन्त्रोक्त विभिन्न विभागों के राज्याधिकारी एवं वेदविद्या हम सबको अपनी बहुमूल्य देन देकर उपकृत करते रहें, यही हमारी कामना है।

पाद-टिप्पणियाँ

१. (अर्यमा) न्यायाधीशः—द०।
२. पुष्टं च मे पुष्टिश्च मे। य० १८.१०, पूषा गा अन्वेतु नः पूषा रक्षत्वर्वतः। पूषा वाजं सनोतु नः। ऋ० ६.५४.५, पथस्पते ऋ० ६.५३.१
३. बृहत्याः वेदवाचः, बृहतो ज्ञानस्य शिक्षाशास्त्रस्य वा पतिः बृहस्पतिः शिक्षामन्त्री।
४. य० १८.१२
५. य० १८.९
६. अ० २.३४, ३.९८, ६.३१, ७.१०४ आदि।

७१. हे प्रभु, यजमान की पुकार सुनो

ऋषिः देववातः । देवता अग्निः । छन्दः निचृद् आर्षी अनुष्टुप् ।

अग्ने सहस्व पृतनाऽअभिमातीरपास्य ।
दुष्टरस्तरन्नरातीर्वर्चो धा यज्ञवाहसि ॥

—यजु० ९ । ३७

(**अग्ने**) हे अग्रनायक वर्चस्वी परमात्मन्! आप (**पृतनाः**) सेनाओं को (**सहस्व**) पराजित करो, (**अभिमातीः**) अभिमानवृत्तियों को (**अपास्य**[1]) दूर करो। (**दुष्टरः**[2]) दुरस्तर आप (**अरातीः**[3]) अदानवृत्तियों को एवं अदानी रिपुओं को (**तरन्**) तरते हुए, तिरस्कृत करते हुए (**यज्ञवाहसि**[4]) यज्ञवाहक यजमान के अन्दर (**वर्चः धाः**[5]) वर्चस्विता को धारण करो।

हे परमेश्वर! आप अग्रनायक और जलती आग के समान जाज्वल्यमान, तेजस्वी, वर्चस्वी होने के कारण 'अग्नि' कहलाते हो। आप अपनी ज्वाला से मुझे भी प्रज्वलित कर दो। मुझे ऐसा बना दो कि कितनी ही शत्रु-सेनाएँ मुझसे लोहा लेने के लिए आयें, सब मुझसे पराजित हो जाएँ। अध्यात्म में काम, क्रोध, लोभ, मोह, ईर्ष्या, द्वेष, अनुत्साह, अकर्मण्यता आदि की सेनाएँ मुझे दबोचना चाहती हैं और बाहर मुझे तथा मेरे राष्ट्र को परास्त करके अपने अधीन करना चाहने वाली शत्रु-सेनाएँ नीचा दिखाना चाहती हैं। आप मुझे ऐसी शक्ति दें कि मैं इन पर विजय प्राप्त कर सकूँ। अनेक अवसरों पर कठिनाइयों का पराजय तो मैं आपकी कृपा से करता हूँ, किन्तु अभिमान मुझे अपनी महत्ता का हो जाता है। इन अभिमातियों को, अभिमानवृत्तियों को भी आप चकनाचूर करके मुझमें विनय का बीजारोपण कीजिए। हे जगदीश्वर! आप दुस्तर हैं, किसी

से हारनेवाले नहीं हैं, अपितु जहाँ कहीं भी अमानवीयता दृष्टिगोचर होती है, उसे आप भस्मसात् करके राक्षस को मानव बना देते हो। अतः मेरे अन्दर भी जो अराति या अदान-वृत्तियाँ पनप रही हैं, जिनके कारण मैं परोपकार में संलग्न नहीं होता हूँ, उन्हें तिरस्कृत करके मुझे उद्भट दानी बना दीजिए। आप मुझे उदासीन, निस्तेज, बुझा हुआ भी मत रहने दीजिए, प्रत्युत मेरे अन्दर वर्चस्विता, उत्साह, अग्रगामिता, आशावादिता आदि उत्पन्न करके समाज में ऐसा उत्साही और तेजस्वी बना दीजिए कि जहाँ भी मैं अन्याय, अत्याचार आदि देखूँ, उसे कुचल डालूँ।

हे अन्तर्यामी! मैं आज यजमान बना हूँ, यज्ञ का व्रती बना हूँ। यज्ञ शब्द देवपूजा, संङ्गतिकरण और दान अर्थवाली यज धातु से निष्पन्न होता है। अतः आप मुझे ऐसा आत्मबल दीजिए कि मैं देवपूजक बनूँ, सत्कार्यों के सङ्गठन में भागीदार बनूँ और अपने तन, मन, धन का दूसरों की भलाई के लिए दान कर सकूँ। हे प्रभु, मेरी इन सदिच्छाओं को पूर्ण कीजिए, मुझे सच्चे अर्थों में यज्ञवाहक बनाइये।

पाद-टिप्पणियाँ

१. अप-असु क्षेपणे, दिवादिः।
२. दुष्टरः दुःखेन तर्तुं शक्यः।
३. अरातीः—न रा दाने, क्तिन्, अरातिः।
४. यज्ञवाहस् सप्तमी एकवचन।
५. धाः अधाः। बहुलं छन्दस्यमाङ्योगेऽपि पा० ५.४.७५ से अडागम का निषेध। लिङर्थ में लुङ्।

७२. नवनिर्वाचित राजा की कामना और प्रतिज्ञाएँ

ऋषिः वरुणः। देवता मन्त्रोक्ताः। छन्दः स्वराड् धृतिः।

सोमस्य त्विषिरसि तवेव मे त्विषिर्भूयात्। अग्नये स्वाहा सोमाय स्वाहा सवित्रे स्वाहा सरस्वत्यै स्वाहा पूष्णे स्वाहा बृहस्पतये स्वाहेन्द्राय स्वाहा घोषाय स्वाहा श्लोकाय स्वाहाꣳशाय स्वाहा भगाय स्वाहार्यम्णे स्वाहा॥ —यजु० १०।५

तू (**सोमस्य**) चन्द्रमा की (**त्विषिः असि**) दीप्ति है, (**तव इव**) तेरी दीप्ति के समान (**मे त्विषिः भूयात्**) मेरी दीप्ति हो। (**अग्नये स्वाहा**) अग्नि के लिए स्वाहा, (**सोमाय स्वाहा**) सोम के लिए स्वाहा, (**सवित्रे स्वाहा**) सविता के लिए स्वाहा, (**सरस्वत्यै स्वाहा**) सरस्वती के लिए स्वाहा, (**पूष्णे स्वाहा**) पूषा के लिए स्वाहा, (**बृहस्पतये स्वाहा**) बृहस्पति के लिए स्वाहा, (**इन्द्राय स्वाहा**) इन्द्र के लिए स्वाहा, (**घोषाय स्वाहा**) घोष के लिए स्वाहा, (**श्लोकाय स्वाहा**) श्लोक के लिए स्वाहा, (**अंशाय स्वाहा**) अंश के लिए स्वाहा, (**भगाय स्वाहा**) भग के लिए स्वाहा, (**अर्यम्णे स्वाहा**) अर्यमा के लिए स्वाहा।

नवनिर्वाचित राजा सोम (चन्द्रमा) को देख कर या उसका ध्यान करके कह रहा है—'तू चन्द्रमा की दीप्ति है, तेरी तरह मेरी भी दीप्ति हो। पूर्णिमा की रात्रि में चन्द्र-ज्योत्स्ना अपने धवल शान्तिदायक, मधुर प्रकाश से जैसे सबको आच्छादित करती है, ऐसे ही राजा कामना कर रहा है कि मैं भी सबको अपनी सात्त्विकता, स्वच्छता, निष्कलङ्कता, पवित्रता के प्रभाव में लेकर निष्कलङ्क और पवित्र बना सकूँ। तत्पश्चात् वह

विभिन्न देवों के लिए आहुतियाँ देता है। **'अग्नये स्वाहा'**— तात्पर्य यह है कि मैं स्वयं अग्नि जैसा तेजस्वी, ऊर्ध्वगामी और राष्ट्र में परिपक्वता लानेवाला बनूँगा। **'सोमाय स्वाहा'**— सोम जैसे ओषधियों का राजा है, वैसे ही मैं प्रजा का राजा हूँ। सोम ओषधि के समान मैं भी पीड़ित, आतुर, रोगार्त लोगों को स्वास्थ्य और सजीवता प्रदान करूँगा। राष्ट्र में विभिन्न चिकित्सा-पद्धतियों को और शल्यक्रिया-विभाग को समुन्नत करूँगा। औषध-निर्माण की ओर भी ध्यान दूँगा। **'सवित्रे स्वाहा'**—सूर्य जैसे अन्धकार को विच्छिन्न कर प्रकाश फैलाता है, वैसे ही मैं भी अपने राज्य में अनैतिकता के अन्धकार को और तामसिकता को दूर कर नैतिकता का प्रकाश फैलाऊँगा और प्रजा में सात्त्विक वृत्ति उत्पन्न करूँगा। **'सरस्वत्यै स्वाहा'**— सरस्वती विद्या, वेदवाणी, शिक्षणकला आदि को सूचित करती है। मैं राष्ट्र में शिक्षा का स्तर उन्नत करूँगा, विभिन्न विद्याओं को प्रसारित करूँगा, राष्ट्र को सारस्वत साधना का केन्द्र बनाऊँगा। **'पूष्णे स्वाहा'**—पूषा पुष्टि के गुण को सूचित करता है। वेद में यह मार्गरक्षक तथा पशुरक्षक के रूप में भी वर्णित हुआ है। मैं राष्ट्र में अन्नादि की पुष्टि की प्रचुरता लाऊँगा तथा मार्गरक्षक नियुक्त करूँगा, जिससे यातायात में यात्रियों को कष्ट न हो और गाय आदि पशुओं की सुरक्षा का भी प्रबन्ध करूँगा। **'बृहस्पतये स्वाहा'**—बृहस्पति से विशाल वाङ्मय का स्वामी विद्वान् गृहीत होता है। राष्ट्र में विद्वानों का यथोचित सम्मान हो, उन्हें साहित्यसर्जन, ग्रन्थलेखन, प्रकाशन आदि की सुविधाएँ प्राप्त हों, उनकी जीविका का भी प्रबन्ध हो, इसका ध्यान रखूँगा। **'इन्द्राय स्वाहा'**—इन्द्र वीरता का देव है, यह सैनिक शक्ति, युद्ध, राक्षस-विध्वंस आदि को सूचित करता है। राष्ट्र की स्थलसेना, जलसेना, अन्तरिक्षसेना, शस्त्रास्त्रशक्ति आदि को विकसित करूँगा तथा यदि किसी राष्ट्र से युद्ध अनिवार्यत: करना पड़े, तो हमारी विजय ही हो इसका प्रबन्ध करूँगा। **'घोषाय स्वाहा'**—सब प्रकार के ध्वनियन्त्र ग्रामोफोन,

फोनोग्राम, दूरभाष, चलभाष, दुन्दुभि-वाद्य, युद्ध-वाद्य आदि के आविष्कार तथा निर्माण की व्यवस्था करूँगा। '**श्लोकाय स्वाहा**'—सङ्गीत, गायन, सस्वर वेदमन्त्रपाठ, श्लोकरचना आदि को प्रोत्साहन दूँगा। '**अंशाय स्वाहा**'—जिसका जो अंश या भाग है, वह उसे मिले, कोई उससे वञ्चित न हो, इसका उपाय करूँगा। पिता या सम्पत्ति के स्वामी की मृत्यु के पश्चात् सम्पत्ति का कितना अंश किसे मिले, इसके नियम निर्धारित होंगे। आयकर-सम्बन्धी नियमों के निर्धारण और प्रजा द्वारा उनके पालन की ओर भी ध्यान दूँगा। राजकर के रूप में प्राप्त धन प्रजाहित में ही व्यय हो, इसका भी ध्यान रखा जाएगा। '**भगाय स्वाहा**'—भग धन का प्रतिनिधित्व करता है। मेरा राष्ट्र अच्छा धनी हो, सब राष्ट्रवासियों की आर्थिक स्थिति सुदृढ़ हो, बेकारी, भुखमरी आदि का कोई शिकार न हो, इसकी भी व्यवस्था करूँगा। '**अर्यम्णे स्वाहा**'—अर्यमा का अर्थ दयानन्दभाष्य में प्रायः न्यायाधीश किया गया है। राष्ट्र में न्यायव्यवस्था को सही रूप में चलाऊँगा। सबको समुचित न्याय प्राप्त होगा। अपराधियों के लिए कारागार और दण्डव्यवस्था भी होगी।

आज आप सबके सम्मुख यज्ञाग्नि में आहुतियाँ देते हुए मैंने जो प्रण लिये हैं, उन्हें पूर्ण कर सकने के आशीर्वाद की प्रभु से और जनता से याचना करता हूँ।

७३. नवनिर्वाचित राजा का अभिषेक

ऋषिः वरुणः। देवता क्षत्रपतिः। छन्दः आर्षी पङ्क्तिः।

सोम॑स्य त्वा द्युम्नेना॒भिषि॑ञ्चाम्य॒ग्नेर्भ्राज॑सा॒ सूर्य॑स्य॒ वर्च॒सेन्द्र॑स्येन्द्रि॒येण॑ क्ष॒त्राणां॑ क्ष॒त्रप॑तिरे॒ध्यति॑ दि॒द्यून् पा॑हि ॥

—यजु० १०।१७

हे नवनिर्वाचित राजन्! (**सोमस्य द्युम्नेन**[1]) सोम के यश से (**त्वा अभिषिञ्चामि**) तुझे अभिषिक्त करता हूँ, (**अग्नेः भ्राजसा**) अग्नि के तेज से, (**सूर्यस्य वर्चसा**) सूर्य के वर्चस् से, (**इन्द्रस्य इन्द्रियेण**) इन्द्र के इन्द्रत्व से। तू (**क्षत्राणां क्षत्रपतिः**) क्षात्रकुलोत्पन्नों का क्षत्रपति (**एधि**) हो। (**दिद्यून्**[2] **अति**) मारक शास्त्रास्त्रों को विफल करके, तू (**पाहि**) राष्ट्र की रक्षा कर।

हे क्षत्रियश्रेष्ठ! आप मतदाताओं द्वारा बहुसम्मति से राष्ट्र के राजा निर्वाचित हुए हैं। इस अवसर पर हम राष्ट्रवासियों की ओर से हर्ष प्रकट करते हैं और आपको वधाई देते हैं। यह हम राष्ट्र का सौभाग्य मानते हैं कि आप जैसे सुयोग्य व्यक्ति के पक्ष में जनता ने मतदान किया है। अब विभिन्न स्थानों के जलों से आपका अभिषेक हो रहा है। प्रजा की ओर से आपका अभिषेक करने के लिए नियुक्त मैं पुरोहित आपको 'सोम' के यश से अभिषिक्त करता हूँ। सोम चन्द्रमा का और ओषधियों के राजा का नाम है। चन्द्रमा अपनी चाँदनी के यश से यशस्वी बना हुआ है। वह चान्द्र तिथियों, चान्द्र मासों तथा चान्द्र वर्षों का भी निर्माण करता है। आपका यश भी चाँदनी-जैसा हो, आप पूनम के चाँद बनकर राष्ट्रगगन में चमकें। 'सोम' ओषधियों का राजा एक पौधा भी होता है, जिसका रस स्फूर्ति, उत्साह, मनीषा, वीरता आदि को बढ़ाता है, तथा जो रोगियों को नीरोग, निराशों की आशावादी और मृततुल्यों

को सजीव कर सकता है। उस जैसा यश भी आप प्राप्त करें। 'अग्नि' के तेज से आपको अभिषिक्त करता हूँ। यज्ञकुण्ड में अग्नि की ऊर्ध्वगामिनी ज्वालाएँ यजमान को तेजस्वी होकर ऊर्ध्वारोहण करने का सन्देश देती हैं। अग्नि का वह यश भी आपको प्राप्त हो। फिर मैं सूर्य के वर्चस् से आपको अभिषिक्त करता हूँ। सूर्य का वर्चस् समस्त सौर मण्डल को प्राण प्रदान करता है, अपने आकर्षण की डोर से सबको अपने साथ बाँध कर अपने चारों ओर अपनी परिक्रमा करवाता है, प्रकाश देता है, अपने ताप से ओषधि-वनस्पतियों को उगाता, बढ़ाता, पुष्पित-फलित तथा परिपक्व करता है। आप अपने राष्ट्र की फुलवारी को सींचिए, सप्राण कीजिए, बढ़ाइए, विकसित कीजिए, फलवती कीजिए। मैं आपको इन्द्र के इन्द्रत्व से अभिषिक्त करता हूँ। वैदिक इन्द्र के कर्म हैं वर्षा करना, वृत्रादि का वध करना तथा जो भी वीरता के कार्य हैं, उन्हें करना[3]। आप भी प्रजा पर सुखसमृद्धि की वर्षा कीजिए, वैरियों का संहार कीजिए और अन्य भी वीरता के सेवाकार्य कीजिए।

हे राजन्! आप सच्चे अर्थों में क्षत्रपति बनिए, क्षात्र तेज को चारों ओर बखेरिए, चोरों से, आघातों से, शत्रु के आक्रमणों से राष्ट्र की रक्षा कीजिए। शत्रुओं की वाणवर्षा, बम-गोलों की वर्षा, तोप-गोलों की वर्षा विफल करके राष्ट्र की रक्षा कीजिए। हम आपका जयकार करते हैं, आपके सहयोगियों का जयकार करते हैं, आपके अभिषेक का जयकार करते हैं और आपसे आशा करते हैं कि आप अपने कार्यकाल में राष्ट्र को ऊँचा उठायेंगे।

पाद-टिप्पणियाँ

१. द्युम्नं द्योततेः, यशो वा अन्नं वा। निरु० ५.३४
२. दो अवखण्डने। द्यन्ति खण्डयन्ति ये ते दिद्यवो बाणाः। 'इषवो वै दिद्यवः इषुवधमेवैनमेतदतिनयति' श० ५.४.२.९ इति श्रुतेः। तानतिक्रम्य शत्रुप्रयुक्तान् इष्वादीन् अपसार्य इमं यजमानं हे सोम पाहि पालय—म०।
३. अथास्य कर्म रसानुप्रदानं वृत्रवधः या च का च बलकृतिः इन्द्रकर्मैव तत्। निरु० ७.१०

७४. बादलों में ऊपर-नीचे चलनेवाले विमान

ऋषिः देववातः। देवता नावः। छन्दः विराड् ब्राह्मी त्रिष्टुप्।

प्र पर्वतस्य वृषभस्य पृष्ठान्नावश्चरन्ति स्वसिचऽइयानाः ।
ताऽआववृत्रन्नधरागुदक्ताऽअहिं बुध्न्यमनु रीयमाणाः ।
विष्णोर्विक्रमणमसि विष्णोर्विक्रान्तमसि विष्णोः क्रान्तमसि ॥

—यजु० १०।१९

(**वृषभस्य**) वर्षा करनेवाले (**पर्वतस्य**) मेघ[1] के (**पृष्ठात्**) पृष्ठ से (**स्वसिचः**[2]) स्वयं को मेघजल से सिक्त करनेवाली (**इयानाः**[3]) गतिशील, वेगवती (**नावः**) विमान-रूपिणी नौकाएँ (**चरन्ति**) चलती हैं। (**ताः**) वे (**बुध्न्यम् अहिम्**[4] **अनु रीयमाणाः**[5]) अन्तरिक्षवर्ती मेघ में गति करती हुई (**अधराक् उदक्ताः**) नीचे से ऊपर जाती हुई (**आववृत्रन्**[6]) चक्कर काटती हैं। हे विमानरूप नौका की उड़ान! तू (**विष्णोः विक्रमणम् असि**) सूर्य का विक्रमण है, सूर्य की यात्रा के समान है, (**विष्णोः विक्रान्तम् असि**) वायु का चरण-न्यास है, (**विष्णोः क्रान्तम् असि**) शिल्प-यज्ञ की क्रान्ति है।

पर्वत शब्द निघण्टु कोष में मेघवाची शब्दों में पठित है। वेद में इसके पहाड़ और मेघ दोनों अर्थ होते हैं[7]। प्रस्तुत मन्त्र में मेघों के मध्य चलनेवाली नौकाओं का वर्णन है। मेघ अन्तरिक्ष में होते हैं। अन्तरिक्ष में नौकाएँ नहीं चल सकतीं, नौकाओं की आकृतिवाले विमान ही चल सकते हैं। नौका की आकृतिवाला होने से लक्षणा के प्रयोग से विमानों को नौका कह दिया गया है। अन्तरिक्ष में चलनेवाली नौकाओं की चर्चा वेद में अन्यत्र भी मिलती है[8]। सामान्यतः जो विमान अन्तरिक्ष में उड़ते हैं, वे बादलों से नीचे उड़ते हैं। इस मन्त्र में बादलों में या बादलों से भी ऊपर उड़ान भरनेवाले विमानों का वर्णन है। ये विमान भूमि से अन्तरिक्ष में पहुँच कर मेघों में घुसकर

वर्षा करनेवाले मेघ के एक छोर से दूसरे छोर तक उड़ान भरते हुए चले जाते हैं। मेघ-जल से ये गीले भी होते रहते हैं, फिर भी इनमें कोई विकार नहीं आता। ये बहुत वेग से चलते हैं। 'बुध्न्य अहि' अन्तरिक्षवर्ती मेघ का ही नाम है। उसमें ये गतिशील होते हैं। नीचे से ऊपर की ओर भी उड़ान लेते हैं। बादल को पार करके उससे ऊपर भी पहुँच जाते हैं। बादलों के आर-पार, नीचे-ऊपर चक्कर काटते हैं। अन्त में विमानरूप नौका की उड़ान के विषय में कहा गया है कि तू विष्णु सूर्य के विक्रमण या उसकी यात्रा के समान है। जैसे सूर्य प्राची में उदित होकर उत्क्रमण करता-करता मध्याकाश में पहुँच जाता है, ऐसे ही विमान भी भूमि से ऊपर उठता-उठता अन्तरिक्षवर्ती मेघों के बीच में पहुँच कर यात्रा करता है और कभी उससे भी ऊपर उठ जाता है। विष्णु का अर्थ सूर्य के अतिरिक्त वायु भी होता है[९]। विमान की उड़ान वायु के चरण-न्यास के समान है, जैसे वायु कभी पूर्व दिशा की ओर, कभी पश्चिम दिशा की ओर, कभी दक्षिण या उत्तर दिशा की ओर तथा कभी नीचे से ऊपर और ऊपर से नीचे की ओर, और कभी चक्रवात के रूप में चलता है, ऐसे ही विमान भी उड़ान भरता है। विष्णु का अर्थ यज्ञ भी होता है[१०]। शिल्प भी एक यज्ञ है। विमान का निर्माण और उसकी विविध दिशाओं में उड़ाने भरना शिल्पयज्ञ की एक क्रान्ति है।

आओ, हम भी विमानों में बैठकर मेघमण्डल की यात्रा का आनन्द लें।

पाद-टिप्पणियाँ

१. पर्वत=मेघ। निघं० १.१०
२. स्वं सिञ्चन्तीति स्वसिचः।
३. इण् गतौ, चानश्=आन प्रत्यय।
४. अहि=मेघ, निघं० १.१०, अहिर्बुध्न्यः योऽहिः स बुध्न्यः, बुध्नम् अन्तरिक्षं तन्निवासात्। निरु० १०.३०।
५. रीयते=गच्छति। निघं० २.१४।
६. आ वृतु वर्तने, णिच्, लुङ्, रक् का आगम छान्दस।
७. निरु० २.२२।
८. नौभिरात्मन्वतीभिः अन्तरिक्षप्रुद्भिः अपोदकाभिः। ऋ० १.११६.३
९. (विष्णोः) व्यापकस्य वायोः। —द०।
१०. यज्ञो वै विष्णुः। —श० १.१.२.१३

७५. निर्वाचित राजा की यज्ञाहुतियाँ

ऋषिः देवरातः। देवता अग्न्यादयो मन्त्रोक्ताः। छन्दः आर्षी जगती।

अ॒ग्नये॑ गृ॒हप॑तये॒ स्वाहा॒ सोमा॑य॒ वन॒स्पत॑ये॒ स्वाहा॑
म॒रुता॒मोज॑से॒ स्वाहेन्द्र॑स्येन्द्रि॒याय॒ स्वाहा॑ ।
पृथि॑वि मात॒र्मा मा॑ हिꣳसी॒र्मोऽअ॒हं त्वाम् ॥

—यजु० १०।२३

राज्याभिषेक के समय नवनिर्वाचित राजा आहुतियाँ दे रहा है—(**अग्नये गृहपतये स्वाहा**) गृहपति अग्नि के लिए आहुति हो। (**सोमाय वनस्पतये स्वाहा**) सोम वनस्पति के लिए आहुति हो। (**मरुताम् ओजसे स्वाहा**) सैनिकों के ओज के लिए आहुति हो। (**इन्द्रस्य इन्द्रियाय स्वाहा**) इन्द्र के इन्द्रत्व के लिए आहुति हो। (**पृथिवी मातः**) हे पृथिवी माता! (**मा मा हिंसीः**) तू मेरी हिंसा न करना, (**मो अहं त्वाम्**) न मैं तेरी हिंसा करूँगा।

मुझे आप प्रजाजनों ने राजा के पद पर निर्वाचित और अभिषिक्त किया है। मैं यह जानता हूँ कि यह पद बड़े ही उत्तरदायित्व का है। जिन बड़ी-बड़ी आशाओं को लेकर आपने मेरा राजतिलक किया है, वे सब मुझे स्मरण हैं और मैं यह दृढ़ सङ्कल्प के साथ निवेदन करता हूँ कि उन सबको मैं भरसक पूर्ण करने के लिए उद्यत रहूँगा। आज अपने कार्यालय में जाने से पूर्व प्रथम दिन मैं यज्ञ रचा कर अपने कर्त्तव्य की कुछ बातें अपने और आपके सम्मुख रखने के लिए आहुतियाँ दे रहा हूँ। प्रथम आहुति 'अग्नि' के नाम पर देता हूँ। अग्नि गृहपति है, गृहों का रक्षक है। प्रत्येक गृह में अग्नि अनेक रूपों में आकर गृहों की कार्यसिद्धि करता है। अग्निहोत्र में हम अग्नि को प्रज्वलित करते हैं। भोजन बनाने के लिए हम अग्नि का प्रयोग करते हैं। अन्धकार में प्रकाश

करने के लिए भी हम विद्युदग्नि को ही चमकाते हैं। सूर्य भी एक अग्नि ही है, जो सारे दिन आकाश में विद्यमान रहकर हमें प्राण प्रदान करता है। इस भौतिक अग्नि के अतिरिक्त श्रद्धा की अग्नि, ईशस्तुति, ईशप्रार्थना, ईशोपासना की अग्नि, महत्त्वाकांक्षा की अग्नि, दृढ़ता की अग्नि, राष्ट्रप्रेम की अग्नि, शत्रुसंहार की अग्नि, राष्ट्रहित बलिदान की अग्नि आदि अग्नियों की भी हमारे राष्ट्रगृह के रक्षार्थ आवश्यकता पड़ती है। यह अग्नि राष्ट्र के प्रत्येक गृह में और प्रत्येक राष्ट्रवासी के हृदय में प्रज्वलित रहे इसके लिए मैं सदा प्रयत्नशील रहूँगा।

दूसरी आहुति मैं 'सोम वनस्पति' के नाम से देता हूँ। सोम को वेद में ओषधियों का राजा कहा गया है, अतः सोम के अन्तर्गत सभी ओषधियाँ आ जाती हैं। मैं राष्ट्रवासियों की पुष्टि और रोगनिवृत्ति के लिए सभी उपयोगी ओषधियों के संग्रहार्थ और पर्यावरणशुद्धि, वृष्टि आदि के लिए वनस्पतियों के आरोपणार्थ एवं संवर्धनार्थ भी उद्यत रहूँगा। तीसरी आहुति मैं 'मरुतों के ओज' के नाम से देता हूँ। मरुत् राष्ट्र के वे वीर क्षत्रियजन हैं, जो सदा राष्ट्ररक्षार्थ कमर कसे रहते हैं। अतः राष्ट्र की सैन्यशक्ति के विकास द्वारा क्षात्रबल के संवर्धन का भी मैं व्रत लेता हूँ। चतुर्थ आहुति मैं इन्द्र के इन्द्रत्व के लिए देता हूँ। इन्द्र वेद में जिनका प्रतिनिधित्व करता है, उनमें ऐश्वर्य भी एक है। अतः इन्द्र के इन्द्रत्व का अभिप्राय है राष्ट्र की ऐश्वर्यशालिता। मेरा राष्ट्र ऐश्वर्य में किसी राष्ट्र से कम न रहे, इसके लिए भी मैं सजग रहूँगा।

इसके अतिरिक्त पृथिवी हम सबकी माता है। वह प्रदूषित और विकृत होने पर हमारे विनाश का कारण भी बन सकती है, और पर्यावरणशुद्धि द्वारा तथा अपने धरातल पर और गर्भ में विद्यमान समस्त वस्तुओं के प्रदान द्वारा वह सच्चे अर्थों में हमारी माता भी बन सकती है। अतः पृथिवी की पर्यावरणशुद्धि के लिए भी मैं सदा सचेत रहूँगा, जिससे हम उसकी हिंसा न करें और वह भी हमारी हिंसा का कारण न बने।

ईश्वर को साक्षी रख कर आप सब प्रजाजनों के सम्मुख इन व्रतों को ग्रहण करता हूँ। प्रभु मुझे इन व्रतों के पालन की शक्ति दें और प्रजाजनों को अधिकार है कि यदि मैं इन व्रतों को पालन करने में असफल रहूँ, तो मुझे राजगद्दी से उतार दें।

७६. राजपत्नी के प्रति

ऋषिः वामदेवः। देवता राजपत्नी। छन्दः भुरिग् आर्षी अनुष्टुप्।

स्योनासि सुषदासि क्षत्रस्य योनिरसि ।
स्योनामासीद सुषदामासीद क्षत्रस्य योनिमासीद ॥

—यजु० १०।२६

हे राजपत्नी! तू वेद की दृष्टि में (**स्योना असि**) सुखदायिनी है, (**सुषदा असि**) शोभन व्यवहार में स्थित है, (**क्षत्रस्य योनिः असि**) क्षात्रबल, राजन्याय तथा राजनीति का केन्द्र है, अतः (**स्योनाम्**) सुखदान की विद्या को (**आसीद**) प्राप्त कर, (**सुषदाम्**) शोभन व्यवहार की विद्या को (**आसीद**) प्राप्त कर, (**क्षत्रस्य योनिम्**) क्षात्रबल, राजन्याय तथा राजनीति की विद्या को (**आसीद**) प्राप्त कर।[1]

हे राजपत्नी! आज आपके पति को प्रजा ने राजा के रूप में निर्वाचित किया है। राज्यसञ्चालन में राजपत्नी के भी कुछ कर्त्तव्य होते हैं। वेद की दृष्टि में राजपत्नी को प्रजा के लिए सुखकारिणी होना चाहिए। उसे व्यावहारिक विद्या में भी निपुण होना चाहिए, जिससे जब जिसके साथ जैसा व्यवहार या लोकाचार करना उचित हो, वैसा कर सके। उसे 'क्षत्र की योनि' भी होना चाहिए। क्षत्र का अर्थ है क्षात्रबल, क्षत्रिय-धर्म, राजन्याय और राजनीति। यदि आपने पहले से ही ये विद्याएँ सीखी हुई हैं, तब तो आपका स्वागत है, आप अपनी इन विद्याओं से राष्ट्र को अपने पति के साथ मिलकर लाभान्वित करें। परन्तु यदि आप इन विद्याओं में निष्णात नहीं हैं, तो इनकी सुशिक्षा प्राप्त कर लेनी चाहिए। दयानन्द स्वामी अपने भाष्य में इस मन्त्र के भावार्थ में लिखते हैं कि "राजपत्नी को

चाहिए कि सब स्त्रियों का न्याय और उनकी सुशिक्षा वह करे। स्त्रियों के न्याय और सुशिक्षा पुरुषों से नहीं कराने चाहियें, क्योंकि पुरुषों के समीप स्त्रियाँ लज्जित और भययुक्त होकर यथावत् बोलकर अपनी बात नहीं कह सकतीं और न ही अध्ययन कर सकती हैं।'' इससे ज्ञात होता है कि राजपत्नी स्त्रियों के न्यायविभाग और शिक्षाविभाग की अधिकारिणी होगी। उसके नीचे स्त्रियों का न्याय करनेवाली तथा कन्याओं को अध्यापन करनेवाली अन्य स्त्रियाँ होंगी। स्वामीजी का यह सुदृढ़ विचार है कि लड़कों की पाठशालाओं में सब पुरुष अध्यापक हों तथा कन्याओं की पाठशालाओं में सब स्त्रियाँ अध्यापिकाएँ हों।

राजनीति के अन्य कार्यों का उत्तरदायित्व भी राजपत्नी पर होगा तथा आवश्यकता पड़ने पर वह शत्रुओं के प्रति संग्राम का नेतृत्व भी करेगी। स्वामीजी लिखते हैं ''संग्राम में राजा के अभाव में रानी सेनापति हो और जैसे राजा युद्ध कराने के लिए वीरों को प्रेरणा दे और उत्साहित करे, वैसे ही वह भी आचरण करे।''[२]

पाद-टिप्पणियाँ

१. कर्मकाण्डिक व्याख्यानुसार इस कण्डिका द्वारा खदिर की लकड़ी से बनी तथा रस्सी से बुनी आसन्दी (पीठिका) लाकर उस पर यजमान राजा को बैठाया जाता है। हमने दयानन्दभाष्य से दिशानिर्देश लेकर राजपत्नीपरक व्याख्या की है।

२. ऋग्भाष्य ६.७५.१३ के संस्कृत भावार्थ का अस्मत्कृत अनुवाद।

७७. राजा का भावभीना स्वागत

ऋषिः शुनःशेपः। देवता यजमानः। छन्दः विराड् धृतिः।

अभिभूरस्येतास्ते पञ्च दिशः कल्पन्तां ब्रह्मँस्त्वं ब्रह्मासि सवितासि सत्यप्रसवो वरुणोऽसि सत्यौजाऽइन्द्रोऽसि विशौजा रुद्रोऽसि सुशेवः। बहुकार श्रेयस्कर भूयस्करेन्द्रस्य वज्रोऽसि तेन मे रध्य॥
—यजु० १०।२८

हे राजन्! तू (**अभिभूः**[१] **असि**) दुष्टों का तिरस्कर्ता है। (**एताः ते**) ये तेरी (**पञ्च दिशः**) पाँच दिशाएँ—पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण और ऊर्ध्वा (**कल्पन्ताम्**) प्रजा को सुख देने में समर्थ होवें। (**ब्रह्मन्**) हे महिमामय! (**त्वं ब्रह्म असि**) तू ब्रह्म है, चतुर्वेदवित् है, (**सविता असि**) सविता है, प्रेरक है, (**सत्यप्रसवः**) सत्य को जन्म देनेवाला (**वरुणः असि**) पाप-निवारक, वरणीय है, (**सत्यौजाः इन्द्रः असि**) सच्चे ओजवाला इन्द्र है, (**विशौजाः**) प्रजाओं में ओज भरनेवाला (**सुशेवः**[२]) उत्तमसुखकारी (**रुद्रः असि**) रुद्र है। (**बहुकार**) हे बहुत-से कार्य करनेवाले! (**श्रेयस्कर**) हे प्रशस्यकारी! (**भूयस्कर**) हे प्रचुर धन-धान्य आदि उत्पन्न करनेवाले! तू (**इन्द्रस्य वज्रः असि**) इन्द्र का वज्र है। (**तेन**) इस कारण (**मे**) मुझे, हम प्रजाजनों को, (**रध्य**[३]) कार्यसिद्धि या सफलता प्रदान कर।

नवनिर्वाचित राजा को प्रजा का प्रतिनिधि कह रहा है। हे वीर! हम तुम्हें राज्यशासन के लिए सर्वगुणसम्पन्न मानकर प्रजा के बीच से चुनकर लायें हैं और बड़े उत्साह के साथ हमने तुम्हारा अभिषेक किया है। हे राजन्! तुम 'अभिभू' हो, दुष्टों का तिरस्कार करनेवाले हो। पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण तथा ऊर्ध्वा इन पाँचों दिशाओं में तुम अपनी कीर्ति का विस्तार

करनेवाले हो। ये पाचों दिशाएँ तुम्हारी प्रजा के लिए सुखदायक हों। तुम्हारे राज्य की किसी भी दिशा में कोई सत्पुरुष चला जाए, तो उसे स्वागत-सत्कार प्राप्त हो, ठोकरें न खानी पड़ें। हे राष्ट्रधुरन्धर! तुम देवों का अंश लेकर बने हो। हे ब्रह्मन्! हे परम वृद्धि को प्राप्त राजन्! तुम 'ब्रह्मा' हो, चतुर्वेदवित् हो। अतः वेदानुकूल ही प्रजा पर शासन करो। हे देव! तुम 'सविता' हो, प्रजा को शुभ कार्यों की एवं शुभ योजनाओं की प्रेरणा देनेवाले हो। हे सम्मानास्पद! तुम सत्यप्रसव हो, सत्य को जन्म देनेवाले हो। तुम वरुण हो, पापनिवारक तथा वरणीय हो, श्रेष्ठ हो, अनृताचरण करनेवाले को पाशों से बाँधो और सत्यव्रती को पुरस्कृत करो। हे प्रजापालक! तुम सच्चे ओज से ओजस्वी 'इन्द्र' हो, परमैश्वर्यवान् एवं शत्रुविदारक हो। सच्चा ओज प्रकट करके असत्यकर्मा आततायियों का दमन करो। हे राजप्रवर! तुम 'रुद्र' हो, दुष्टों को रुलानेवाले तथा सज्जनों के रोगादि सन्ताप को द्रावण करनेवाले हो। तुम अपने इस गुण को क्रियान्वित करो। हे सद्गुणनिधान! तुम 'सुशेव' हो, उत्कृष्ट सुख के दाता हो, अतः प्रजा को श्रेष्ठ सुख प्राप्त कराओ। तुम 'बहुकार' हो, बहुत-से कार्य करने में समर्थ हो। तुम 'श्रेयस्कर' हो, तुम्हारे कार्य कल्याणकारक ही होते हैं। तुम 'भूयस्कर' हो, प्रचुर धनधान्यादि उत्पन्न करनेवाले हो। तुम इन कर्त्तव्यों का पालन करते रहना। तुम 'इन्द्र' के वज्र हो। जैसे वेद का इन्द्र अपने वज्र से रिपुओं का संहार करता है, वैसे ही तुम भी करते रहना।

हे नरश्रेष्ठ! क्योंकि तुम उक्त सब गुणों से सम्पन्न हो, अतः हम प्रजाजनों को सदा सफलताएँ प्रदान करते रहना। हम तुम्हारा भावभीना स्वागत करते हैं।

पाद-टिप्पणियाँ

१. (अभिभूः) दुष्टानां तिरस्कर्ता।

२. (सुशेवः) शोभनं शेवं सुखं यस्य सः। शेव=सुख, निघं० ३.६।

३. (रध्य) सं राध्नुहि। —द०। रध्य, रध हिंसासंराध्योः, दिवादिः।

७८. योगी बनकर आनन्दमग्न हों

ऋषिः प्रजापतिः। देवता सविता। छन्दः शंकुमती गायत्री।

युक्तेन मनसा वयं देवस्य सवितुः सवे। स्वर्ग्याय शक्त्या॥

—यजु० ११।२

(**युक्तेन**[१] **मनसा**) योगयुक्त मन से (**वयम्**[२]) हम योगी लोग (**देवस्य**) देदीप्यमान तथा प्रकाशक (**सवितुः**[३]) प्रेरक सविता प्रभु की (**सवे**) प्रेरणा में रहते हुए (**शक्त्या**) शक्ति से (**स्वर्ग्याय**)[४] ब्रह्मानन्द के अधिकारी हों।

यदि हम योगमार्ग का अवलम्बन करके यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा एवं ध्यान द्वारा सविकल्प तथा निर्विकल्पक समाधि को प्राप्त कर लेते हैं, तब तो हम योग के राही हैं ही। परन्तु यदि इस मार्ग को सूक्ष्मता से अपनाये बिना भी किसी विषय में मन को चिरकाल तक केन्द्रित किये रखने की क्षमता हमारे अन्दर है, तो भी हम कुछ अंशों में योगी कहला सकते हैं। कोई साहित्यस्रष्टा लेखक है और चार-पाँच-छह घण्टे तक लगातार उसका मन लेखन में केन्द्रित रहता है, तो वह भी योगी है। एक श्रोता किसी विद्वान् के भाषण को निरन्तर घण्टे भर दत्रचित्त होकर सुनता है और बाद में भाषण वैसा का वैसा सुना देता है, तो वह भी योगी है। अपने मन को किसी विषय में निरन्तर केन्द्रित रख सकना योग की सबसे पहली निशानी है। वह विषय सांसारिक भी हो सकता है और पारमार्थिक भी। वह विषय किसी की सेवा में मन लगाना भी हो सकता है और परमेश्वर में मन लगाना भी। परन्तु किसी दुर्व्यसन में मन लगाना योग की श्रेणी में नहीं आता, भले ही छह-सात घण्टे

उस दुर्व्यसन में मन लगाने की क्षमता हमारे अन्दर हो। दुर्व्यसनी के मन का आराध्य बदलकर उसे योगी बनाया जा सकता है।

आओ, हम योग रचायें, 'सविता' प्रभु में अपने मन को केन्द्रित करें। 'सविता' प्रभु में अपने मन को जो रमाते हैं, उन्हें वह उत्कृष्ट प्रेरणाएँ ही करता है, उनके मनों में शक्ति भरता है। जैसे किसी यन्त्र में बिजली द्वारा असीम कार्य करने की शक्ति भर दी जाती है, वैसे ही प्रभु का संस्पर्श साधक के अन्दर अपार शक्ति भर देता है। प्रभु से प्राप्त यह चुम्बकीय शक्ति साधक में इतनी कार्यक्षमता उत्पन्न कर देती है कि वह शुभ कार्यों को करते कभी थकता नहीं। साथ ही वह शक्ति साधक को आनन्द की दिव्य धारा में स्नान करा देती है, ब्रह्मानन्द की तरङ्गों से तरङ्गित कर देती है। आओ, हम भी योगी बनकर 'सविता' प्रभु में अपने मन को केन्द्रित करके अथक शक्ति तथा दिव्य आनन्द के भागी बनें।

पाद-टिप्पणियाँ

१. (युक्तेन) कृतयोगाभ्यासेन।
२. (वयम्) योगिनः—द०।
३. सुवति प्रेरयति शुभकर्मसु यः स सविता। षू प्रेरणे, तुदादिः।
४. स्वः दिव्यं ज्योतिः गम्यते प्राप्यते यत्र स स्वर्गः। तत्र भवः स्वर्ग्यः दिव्यानन्दः।

७९. विद्या के साथ विनय भी

ऋषिः प्रजापतिः । देवता सविता । छन्दः भुरिग् आर्षी पङ्क्तिः ।

युजे वां ब्रह्म पूर्व्यं नमोभिर्वि श्लोकऽएतु पथ्येव सूरेः ।
शृण्वन्तु विश्वेऽअमृतस्य पुत्राऽआ ये धामानि दिव्यानि तस्थुः ॥

—यजु० ११ । ५

हे यजमान पति-पत्नी! (**वाम्**) तुम दोनों के (**पूर्व्यं**[1] **ब्रह्म**) पूर्व योगियों से प्रत्यक्षीकृत ज्ञान को (**नमोभिः**) नमन के भावों से (**युजे**) जोड़ता हूँ। तुम्हें (**श्लोकः**) यश (**वि एतु**) विशेषरूप से प्राप्त हो, (**सूरेः पथ्या**[2] **इव**) जैसे विद्वान् भक्त को धर्ममार्ग में चलने की गति प्राप्त होती है। इस धर्मोपदेश को (**शृण्वन्तु**) सुनें (**विश्वे**) सब (**अमृतस्य**[3] **पुत्राः**) अविनाशी सविता जगदीश्वर के पुत्र, (**ये**) जो (**दिव्यानि धामानि**) प्रकाशित धामों में (**आ तस्थुः**) आकर स्थित हैं।

तुमने गुरुचरणों में बैठकर ज्ञान प्राप्त किया है, समस्त विद्याओं और कलाओं में तुम निष्णात हो चुके हो। समावर्तन संस्कार करा कर आचार्य से विदा लेकर अपने घर आकर विदुषी कन्या से विवाह करके गृहस्थाश्रम बसाकर आज तुम दोनों पति-पत्नी लोकोपकार-यज्ञ में प्रवृत्त हुए हो। पर यह क्या! तुम्हारे अन्दर तो विद्वत्ता का अहङ्कार हिलोरें ले रहा है। तुम समझते हो कि तुम-जैसे विद्वान् और विदुषी संसार में दुर्लभ हैं, तुम्हारी विद्वत्ता की थाह पाना असम्भव है। परन्तु भले ही तुम चारों वेद, चारों उपवेद, छहों वेदाङ्ग, षड् दर्शन तथा इनसे अतिरिक्त भी इनकी शाखा-प्रशाखाओं सहित समग्र विद्याओं के धनी हो चुके हो, तो भी ये विद्याएँ तब तक किसी

काम आनेवाली नहीं हैं, जब तक तुम्हारे अन्दर नम्रता नहीं आती। अहङ्कार या अभिमान मनुष्य के सबसे बड़े शत्रु हैं। ज्ञान के साथ नमन, नम्रता या विनय का गठजोड़ होना अनिवार्य है। वह विद्या विद्या नहीं है, जो विनय को नहीं देती। कवि ने कहा है—"विद्या विनय को देती है, विनय से मनुष्य पात्रता को प्राप्त करता है। पात्र बनने से उसे धन मिलता है। धन पाकर वह धर्माचरण करता है। इससे वह सुख पाता है।"[४] अहङ्कारी होकर यदि तुम धर्मोपदेश करोगे, ज्ञानचर्चा करोगे, तो उसका कुछ फल नहीं होगा। तुम्हारे अन्दर विनय आते ही विद्या फलवती होने लगेगी। इसलिए तुम्हारे महान् ज्ञान को मैं विनय को भावों के साथ जोड़ता हूँ। विनय के आने से तुम्हें यश प्राप्त होगा, जैसे विद्वान् भक्त को धर्ममार्ग में चलने की गति प्राप्त होती है।

विद्या और विनय के योग की बात मैं केवल तुम्हारे लिए ही नहीं कह रहा हूँ, किन्तु अविनाशी सविता प्रभु के सभी पुत्र-पुत्रियाँ इस उपदेश को सुनें, समझें, जीवन में लायें। किसी देश-विशेष के नर-नारियों के लिए ही यह विद्या-विनय के सङ्गम का उपदेश नहीं है, किन्तु प्रभु से प्रकाशित सभी धामों में जो लोग स्थित हैं, उन सभी के लिए यह वेदोपदेश है। आओ, हम भी अपने अन्दर विद्या और विनय का सङ्गम करें।

पाद-टिप्पणियाँ

१. (पूर्व्यम्) पूर्वयोगिभिः प्रत्यक्षीकृतम्—द०। पूर्व शब्द से 'पूर्वैः कृतमिनयौ च, पा० ४.४.१३३ से कृत अर्थ में य प्रत्यय।

२. (पथ्या) पथि साध्वी गतिः—द०। पथोऽनपेता पथ्या 'धर्मपथ्यर्थन्यायादनपेते', पा० ४.४.९२ से यत् प्रत्यय।

३. (अमृतस्य) अविनाशिनो जगदीश्वरस्य—द०।

४. विद्या ददाति विनयं विनयाद् याति पात्रताम्।
पात्रत्वाद् धनमाप्नोति धनाद् धर्मं ततः सुखम्॥

८०. अग्नि नामक जगदीश्वर की महिमा

ऋषिः पुरोधाः । देवता अग्निः । छन्दः आर्षी त्रिष्टुप् ।

**अन्व॒ग्निरु॒षसा॒मग्र॑मख्य॒दन्वहा॑नि प्रथ॒मो जा॒तवे॑दाः ।
अनु॒ सूर्य॑स्य पुरु॒त्रा च॑ र॒श्मीननु॒ द्यावा॑पृथि॒वीऽआ त॑तन्थ ॥**

—यजु० ११।१७

(**अग्निः**) तेजस्वी अग्रनायक जगदीश्वर (**उषसाम् अग्रम्**) उषाओं के अग्रभाग को (**अनु अख्यत्**[1]) अनुक्रम से प्रकाशित करता है। (**प्रथमः जातवेदाः**[2]) वही श्रेष्ठ, सर्वज्ञ, सर्वव्यापक, सर्वप्रकाशक जगदीश्वर (**अहानि**) दिनों को (**अनु-अख्यात्**) अनुक्रम से प्रकाशित करता है। वही (**सूर्यस्य**) सूर्य की (**पुरुत्रा**) बहुत-सी (**रश्मीन्**) रश्मियों को (**अनु अख्यत्**) अनुक्रम से प्रकाशित करता है। हे प्रभु तूने ही (**द्यावापृथिवी**) द्यु-लोक और पृथिवी-लोक को (**अनु आततन्थ**[3]) विस्तीर्ण किया है।

रात्रि का निविड अन्धकार दूर हुआ है। उषा का अग्रभाग प्राची में झाँक रहा है। गगन में लाली छा गयी है। तमस्तोम को चीर कर आकाश में लाली लानेवाला कौन है? 'अग्नि' नामक तेजस्वी प्रभु की ही यह करामात है, उसी ने उषा के अग्रभाग को प्रकाश से चमकाया है। निशा काली होती है, दिन प्रकाश से प्रकाशमान हैं। दिनों को प्रकाश से भरनेवाला, ज्योति से जगमगायेवाला कौन है? 'जातवेदाः अग्नि', सर्वज्ञ, सर्वव्यापक, प्रकाशमान प्रभु की ही यह लीला है। इधर भी दृष्टि डालो। उषा आयी, प्रभात खिला, सूर्य की रश्मियाँ चारों ओर फैल गयी हैं, दिशाएँ सूर्यकिरणों से झिलमिला रही हैं।

क्रमशः आकाश-प्राङ्गण में प्रभाकर की प्रभावान् रश्मियों के जाल को फैलानेवाला कौन है? उस ज्योतिष्मान् 'अग्नि' नामक जगदीश्वर की ही यह क्रीडा है। उसी खिलाड़ी का यह खेल है, उसी की यह मनोहर महिमा है। द्यावापृथिवी की ओर भी निहारो। इस पृथिवी को नाना ऐश्वर्यों से किसने भरा है, किसने भूगर्भ में सोना, चाँदी, ताँवे, लोहे, गन्धक की खानें भरी हैं? किसने पृथिवीतल पर वृक्ष-वल्लरियाँ रोपी हैं? किसने उन पर रंग-बिरंगे पुष्प और परिपक्व फल लगाये हैं? किसने भूमि पर हिमधवल पर्वत खड़े किये हैं? कौन हिम पिघला कर नदियाँ बहाता है? किसकी करनी से झरनों से पानी झरता है? कौन पृथिवी पर अथाह समुद्र को भरता है? कौन उसकी सीपियों में मोती रखता है? द्युलोक पर भी दृष्टिपात करो। दिग्दिगन्त को प्रकाश से भरनेवाला ज्योति का पुञ्ज सूर्य, असंख्य नक्षत्र, आकाशगङ्गा, आकाश के सप्त ऋषि, ध्रुवतारा, यह सब किसकी कारीगरी है? फिर अन्तरिक्ष में बादल बनना, विद्युत् की आँखमिचौनी और वृष्टि होना किस जादूगर का जादू है? यह सब द्यावापृथिवी का खेल 'अग्नि' प्रभु का ही रचाया हुआ है, उसी ने द्यावापृथिवी को विस्तीर्ण किया है।

आओ, उस प्रभु की महिमा का गान करें, उसके अद्भुत शिल्प पर तान छेड़ें, उसकी अचरजभरी रचना पर गीत रचें, उसकी मनभावनी सृष्टि पर सरगम का आलाप करें।

पाद-टिप्पणियाँ

१. ख्या प्रकथने, अदादिः, प्रकाशन अर्थ में भी प्रयुक्त होती है।
२. जातं वेत्ति, जाते जाते विद्यते, जातं वेदयते।
३. तनु विस्तारे, लिट्, आतेनिथ। आततन्थ छान्दस रूप। वभूथाततन्थजगृभ्म बबर्थेति निगमे, पा० ७.२.६४।

८१. योगमार्ग के विघ्नों को प्रकम्पित कर आगे बढ़ें

ऋषिः मयोभूः। देवता अग्निः। छन्दः निचृद् आर्षी अनुष्टुप्।

आगत्य वाज्यध्वानꣳसर्वा मृधो विधूनुते।
अग्निꣳसधस्थे महति चक्षुषा निचिकीषते॥

—यजु० ११।१८

(वाजी) बलवान् जीवात्मा **(अध्वानम् आगत्य)** योगमार्ग में आकर **(सर्वाः मृधः)** सब हिंसक विघ्नों को **(विधूनुते)** प्रकम्पित कर देता है। फिर वह **(महति सधस्थे)** महान् हृदय-सदन में **(अग्निम्)** प्रकाशमय प्रभु को **(चक्षुषा)** अन्तःचक्षु से **(निचिकीषते[1])** देख लेता है।

आओ, तुम्हें वाजी की बात सुनायें। किन्तु 'वाजी' का तात्पर्य घोड़ा मत समझ लेना। 'वाज' का अर्थ होता है बल, अतः 'बलवान्' को वाजी कहते हैं। घोड़ा भी बलवान् होने के कारण ही वाजी कहलाता है। हम यहाँ जिस 'वाजी' की बात करने लगे हैं, वह है बलवान् जीवात्मा। हमारे अन्दर सबसे अधिक बलवान् जीवात्मा ही है। जब तक वह सोया रहता है, तब तक तो काम, क्रोध आदि चूहे उस पर कूदते रहते हैं। पर ज्यों ही वह जाग कर हुंकार भरता है, त्यों ही सब विषयविकारों की सेना भाग खड़ी होती है।

उस 'वाजी' अर्थात् बलवान् जीवात्मा के विषय में मन्त्र कहता है कि जब वह योगमार्ग में पदार्पण करता है, तब इस मार्ग में बाधा डालनेवाले सब विघ्नों को प्रकम्पित कर देता है। ये विघ्न हैं व्याधि, स्त्यान, संशय, प्रमाद, आलस्य, अविरति, भ्रान्तिदर्शन, अलब्धभूमिकत्व, अनवस्थितत्व रूप चित्तविक्षेप।

इन चित्तविक्षेपों के सहवर्ती होते हैं, दुःख, दौर्मनस्य अङ्गमेजयत्व एवं श्वास-प्रश्वास। योगमार्ग में इनका प्रतिषेध करने के लिए एकतत्त्वाभ्यास करना आवश्यक होता है। सुखी जनों के प्रति मैत्री, दुःखी जनों के प्रति करुणा, पुण्यात्माओं को देख कर मुदित होना, अपुण्यात्माओं के प्रति उपेक्षावृत्ति धारण करना इन चारों वृत्तियों की भावना अपने अन्दर धारण करने से चित्त का प्रसाद प्राप्त होता है। विषयवती प्रवृत्ति भी उत्पन्न होकर मन के स्थितिलाभ का कारण बनती है। अथवा विशोका ज्योतिष्मती प्रज्ञा भी मन को विघ्नों से हटा कर निर्मल कर देती है।[२]

इस प्रकार योगविघ्नों को पराजित करके 'वाजी' जीवात्मा महान् हृदय-सदन में प्रकाशमय 'अग्नि' नामक परम प्रभु का दर्शन कर लेता है। अग्नि-प्रभु के दर्शन उसे चर्म-चक्षुओं से नहीं, किन्तु अन्तश्चक्षु से होते हैं। आओ, हम भी योगमार्ग के यात्री बनकर योगविघ्नों का अपसारण कर परम प्रभु के दर्शन करें।

पाद-टिप्पणियाँ

१. निचिकीषते पश्यति। यह दर्शनार्थक छान्दस धातु है।

२. योगदर्शन, समाधिपाद, सूत्र ३०-३६।

८२. हृदय का स्वास्थ्य

ऋषिः सिन्धुद्वीपः। देवता वायुः। छन्दः विराड् आर्षी त्रिष्टुप्।

सं ते वायुर्मातरिश्वा दधातूत्तानाया हृदयं यद्विकस्तम्।
यो देवानां चरसि प्राणथेन कस्मै देव वषडस्तु तुभ्यम्॥

—यजु० ११।३९

हे नारी! **(उत्तानायाः)** चित्त लेटनेवाली **(ते)** तेरा **(हृदयं)** हृदयं **(यद् विकस्तम्[१])** जो बढ़ गया है, या किसी अन्य विकार को प्राप्त हो गया है, उसे **(मातरिश्वा वायुः)** अन्तरिक्ष में चलनेवाला वायु **(सं दधातु)** स्वस्थ कर देवे। **(यः)** जो हे मातरिश्वा वायु! तू **(देवानां)** विद्वानों के **(प्राणथेन)** प्राणरूप में **(चरसि)** चलता है, **(कस्मै)** उस सुखदायक **(तुभ्यं)** तेरे लिए **(वषट् अस्तु)** स्वाहा हो, अर्थात् अग्नि में घृत तथा ओषधियों की आहुति हो।

शरीर में रक्तसंस्थान का केन्द्र हृदय है। शरीर का अशुद्ध रक्त शिराओं द्वारा हृदय के दक्षिण प्रदेश में आता है। हृदय शुद्ध होने के लिए उसे फुप्फुस में सूक्ष्म रक्त-केशिकाओं में भेज देता है। जब शुद्ध वायुमण्डल से श्वास द्वारा शुद्ध वायु फुप्फुस में पहुँचता है, तब वह शुद्ध वायु अशुद्ध रक्त से सम्पर्क करके उसकी मलिनता को अपने अन्दर ले लेता है और शुद्ध प्राणवायु (ऑक्सिजन) रक्त में भेज देता है, जिससे रक्त शुद्ध होकर हृदय के वामप्रकोष्ठ में चला जाता है। वहाँ से बृहद् धमनि द्वारा छोटी धमनियों में होता हुआ सारे शरीर में पहुँच जाता है। पुनः शरीर की मलिनता को ग्रहण करके अशुद्ध होकर शुद्ध होने के लिए हृदय में आता है। इस प्रकार हृदय समस्त रक्त-संस्थान को नियन्त्रण में रखता है। यदि

हृदय किसी कारण घट-बढ़ जाए, उसके कलेवर में शोथ आ जाए, उच्च रक्तचाप या निम्न रक्तचाप हो जाए, या किसी अन्य प्रकार का हृदयरोग हो जाए, तो उसे स्वस्थ करने का उपाय मन्त्र में प्राणायाम बताया गया है। मन्त्र नारी के हृदयरोग के विषय में है। हृदयरोग का कारण अधिक उत्तान या चित लेटना या शयन करना भी हो सकता है, यह मन्त्र से सूचित होता है। आकाशवर्ती स्वच्छ वायु को 'मातरिश्वा वायु' कहा गया है। निरुक्तकार कहते हैं कि वायु को मातरिश्वा कहने का कारण यह है कि वह निर्माता आकाश में गति करता है अथवा निर्माता अन्तरिक्ष में शीघ्र-शीघ्र प्राण देने की क्रिया करता है।[2] हे नारी! उत्तान सोने के कारण जो तेरा हृदय बढ़ गया है, उसमें सूजन आ गयी है, धड़कने की गति कम या अधिक हो गयी है, तो प्राणवायु उचित प्राणायाम के द्वारा उसे स्वस्थ कर सकता है, हृदय के किस रोग में कौन-सा प्राणायाम अपेक्षित है, यह योगक्रिया-विशेषज्ञ लोग बतलायेंगे। उनके निर्देश के अनुसार तू प्राणायाम कर।

मन्त्र के उत्तरार्ध में हृदयरोगनिवारण के लिए किन्हीं विशेष ओषधियों की अग्नि में आहुति डालना अर्थात् यज्ञचिकित्सा करना उपाय बताया गया है। हे मातरिश्वा वायु! तू प्राणदाता के रूप में प्रसिद्ध है, तेरे लिए हम 'स्वाहा' या 'वषट्' उच्चारण करते हुए आहुति डालते हैं। ओषधियों की सुगन्ध से सुवासित होकर तू हृदयरोग से ग्रस्त महिला के फुप्फुसों में जाकर रक्त से सम्पर्क करके रक्त का शोधन कर। इस प्रकार रोगिणी को हृदयरोग से मुक्त कर दे। यद्यपि मन्त्र हृदयरोगिणी महिला के विषय में है, तथापि हृदयरोगी पुरुष के लिए भी ये दोनों उपचार करना लाभदायक हो सकता है।

पाद-टिप्पणियाँ

१. कस गतौ, भ्वादिः। विकस्तं=विकसितम्।
२. मातरिश्वा वायुः, मातरि अन्तरिक्षे श्वसिति, मातरि आशु अनितीति वा। निरु० ७.३, मातरि-श्वस्, अथवा मातरि-शु-अन् (अन प्राणने)।

८३. माता-पिता का पुत्र को उपदेश

ऋषिः त्रितः। देवता अग्निः। छन्दः विराड् अनुष्टुप्।

**स्थिरो भव वीड्वङ्गऽआशुर्भव वाज्यर्वन्।
पृथुर्भव सुषदस्त्वमग्नेः पुरीषवाहणः॥**

—यजु० ११।४४

(**अर्वन्**) हे जीवनमार्ग के राही पुत्र! तू (**स्थिरः**) अडिग, स्थिर वृत्तिवाला और (**वीड्वङ्गः**[१]) दृढ़ाङ्ग (**भव**) हो, (**आशुः**) शीघ्रकारी तथा (**वाजी**[२]) शरीरबल, नीतिबल तथा आत्मबल से युक्त (**भव**) हो। (**त्वं**) तू (**पृथुः**) विस्तारप्रिय तथा (**सुषदः**) उत्कृष्ट स्थितिवाला (**भव**) हो। (**अग्नेः पुरीषवाहनः**[३]) अग्नि के पालन, रथचालन आदि कार्यों को करनेवाला तथा अग्निहोत्र की सुगन्ध फैलानेवाला हो।

उवट एवं महीधर ने इस मन्त्र की व्याख्या में कर्मकाण्डपरक विनियोग के अनुसार 'रासभ' की सम्बोधन माना है। परन्तु महर्षि दयानन्द इस मन्त्र का विनियोग इस रूप में करते हैं कि माता-पिता अपने पुत्र को शिक्षा दे रहे हैं। 'अर्वन्' शब्द गत्यर्थक ऋ धातु से वनिप् प्रत्यय करके निष्पन्न होता है, जिसका अर्थ होता है 'गन्ता' या जीवन की राह पर चलनेवाला। हे जीवन-मार्ग के राही पुत्र! तू स्थिर अर्थात् अडिग रह। अनेक काम, क्रोध आदि रिपुगण तथा मानवी शत्रु तुझे धर्ममार्ग से विचलित करना चाहेंगे, परन्तु उनके कुचक्र में न पड़कर तू सदा अविचल एवं स्थिर बना रह। तू स्थिर वृत्तिवाला भी हो, जो कुछ तर्क तथा धर्म की कसौटी पर कस कर निश्चय कर ले उस पर स्थिर रह। तू 'वीड्वङ्ग' अर्थात् सुदृढ़ अङ्गोंवाला

बन। एतदर्थ तू व्यायाम, योगासन, दौड़-कूद आदि करता रह। तू 'आशु' बन, शीघ्रकारी, चुस्त एवं फुर्तीला बन। तू 'वाजी' अर्थात् शरीर, मन, वाणी आत्मा, नीति आदि से बलवान् बन, अन्यथा तुझे दुर्बल देख कर आततायी लोग अपने वश में करना चाहेंगे तथा तेरी हिंसा करने पर भी उतारू हो सकते हैं। तू 'पृथु' बन, विस्तारप्रिय हो, संकुचित मनवाला मत बन। अपने तक ही सीमित न रहकर यदि तू समाज, राष्ट्र एवं विश्व को भी देखेगा, तो सारी धरती ही तुझे कुटुम्ब के समान जान पड़ेगी। तब तू केवल अपना और अपने सम्बन्धियों का ही नहीं, प्रत्युत सारी वसुधा का कल्याण चाहेगा। तू 'सुषद' अर्थात् उत्कृष्ट स्थितिवाला बन। याद रख, तेरी गणना क्षुद्र लोगों में नहीं, किन्तु उच्च महापुरुषों में होनी चाहिए। जब गुणियों की सूची बने, तब तेरा नाम उसमें सर्वोपरि होना चाहिए।

हे पुत्र! तू 'अग्नि का पुरीषवाहन' हो। अग्नि के पालन, विमानादिरथचालन प्रभृति कर्मों को करनेवाला हो, साथ ही अग्निहोत्र करके यज्ञाग्नि एवं हवि की सुगन्ध चारों ओर फैलानेवाला भी बन। हे पुत्री! तुम्हें भी हमारा यही उपदेश है। तुम भी स्थिरचित्ता, दृढाङ्गी, बलवती, उदारा, उत्कृष्ट स्थितिवाली, अग्नि से कलापूर्ण कार्य करनेवाली तथा अग्निहोत्र की सुगन्ध चारों ओर फैलानेवाली बनना। ऐसे पुत्र-पुत्रियाँ ही अपने माता-पिता के तथा अपने यश का विस्तार करते हैं।

पाद-टिप्पणियाँ

१. वीडूनि दृढानि बलिष्ठानि अङ्गानि यस्य सः—द०।
२. वाजी प्राप्तनीतिः—द०। वाजः शरीरबलम् आत्मबलं नीतिबलं च यस्यास्ति स वाजी।
३. पुरीषवाहणः यः पुरीषाणि पालनादीनि कर्माणि वाहयति प्रापयति सः—द०। पुरीषम् अग्निहोत्रहविषां पूर्णं सुगन्धं वहति यः सः।

८४. सेनानायक पुरोहित की गर्वोक्ति

ऋषिः नाभा नेदिष्ठः। देवता पुरोहितो यजमानश्च।
छन्दः आर्षी भुरिक् उष्णिक्।

सꣳशितं मे ब्रह्म सꣳशितं वीर्यं बलम्।
सꣳशितं क्षत्रं जिष्णु यस्याहमस्मि पुरोहितः॥

—यजु० ११।८१

(**मे**) मेरा (**ब्रह्म**) ज्ञान (**संक्षितं**[१]) तीक्ष्ण है। (**संशितं**) तीक्ष्ण है (**वीर्यम्**) वीर्य और (**बलम्**) बल। (**संशितं**) तीक्ष्ण और (**जिष्णु**) विजयशील हो (**क्षत्रं**) क्षात्रबल (**यस्य**) जिस सम्राट् का (**अहम् अस्मि**) मैं हूँ (**पुरोहितः**) पुरोहित, अग्रगन्ता, मुख्य सेनानायक के पद पर स्थित।

मैं राष्ट्र का मुख्य सेनानायक हूँ। राष्ट्र मेरा है, मैं राष्ट्र का हूँ। राष्ट्र की स्थलसेना, जलसेना और अन्तरिक्षसेना मेरे अधीन है। जब कभी राष्ट्र पर शत्रु का संकट होता है, तब मैं बांकुरे वीरों को राष्ट्ररक्षा के लिए संनद्ध कर देता हूँ। वे भी अपने प्राणों की चिन्ता न करके शत्रु पर जा टूटते हैं और शत्रु को पराजित करके ही छोड़ते हैं। मैं राष्ट्र का पुरोहित कहलाता हूँ। दो कारणों से मुझे पुरोहित कहा जाता है। प्रथम तो यह कि अग्निहोत्र या यज्ञ में जो काम पुरोहित का होता है, वही युद्ध में मेरा है। पुरोहित यज्ञ का सञ्चालन करता है। सैन्यसङ्गठन या संग्राम भी एक यज्ञ ही है। मैं उसका सञ्चालन करता हूँ। दूसरा यह है कि सेना में मुझे 'पुरः-हित' किया जाता है, अध्यक्ष पद पर बैठाया जाता है। मेरे अन्दर क्या विशेषता है और जिस राष्ट्रपति का मैं पुरोहित हूँ उसे मुझसे क्या उपलब्धि होती है, यह मैं बता देना चाहता हूँ। जैसे यज्ञ में यजमान द्वारा पुरोहित का वरण किया जाता है, वैसे ही जब मैंने अपने पद

की शपथ ली थी तब मैं भी राष्ट्रपति द्वारा मुख्य सेनानायक के पद पर वरण किया गया था। मेरा ब्रह्म, मेरा राजनीति और रणनीति का ज्ञान बहुत तीक्ष्ण है। कब शत्रु पर आक्रमण करना है और कब शत्रु को केवल भयभीत करते रहना है, यह मैं जानता हूँ। शत्रु को यह चकमा देना भी जानता हूँ कि शत्रु यह समझे कि मैं पूर्व दिशा से आक्रमण करूँगा, किन्तु मैं किसी दूसरी दिशा से ही आक्रमण करके उसे पराजित कर देता हूँ। तीव्र रणनीति के ज्ञान के बिना युद्ध जीतना सम्भव नहीं होता और वह रणनीति का ज्ञान मुझमें है। साथ ही मेरा वीर्य और बल भी तीव्र है। मेरी व्यूह-रचना का बल तीव्र है, मेरी अन्तरिक्ष की उड़ान तीव्र है, शत्रुओं द्वारा खड़ी की गयी बाधाओं को तोड़ते-फोड़ते-कुचलते हुए मेरे ट्रैक्टरों की आगे बढ़ने की शक्ति तीव्र है, मेरे युद्धस्तर के जलपोतों की और मेरी पनडुब्बियों की शक्ति तीव्र है। वीर्य शब्द 'वीर विक्रान्तौ' धातु से बनता है, वि उपसर्ग पूर्वक गति तथा कम्पन अर्थवाली 'ईर' धातु से भी निष्पन्न होता है। वीर्य का अर्थ है पराक्रम, शत्रु को कँपाने के लिए गति अर्थात् आक्रमण करना। वीर्य से अभिप्रेत है बल को क्रिया रूप में परिणत करना। मेरा बल भी तीव्र है और उस बल का प्रयोग भी तीव्र है। जब मैं तीव्रता के साथ अपने तीव्र बल का प्रयोग करता हूँ, तब शत्रु के छक्के छुड़ा देता हूँ। सब शत्रुओं का वध ही कर दिया जाए, यह अभीष्ट नहीं होता, उन्हें हरा कर अपने वशवर्ती कर लेना ही प्रायः अभीष्ट होता है। इस प्रकार मेरा रणनीति का ज्ञान, मेरा बल और वीर्य तीक्ष्ण है। इसका परिणाम यह है कि जिस राष्ट्रपति का मैं पुरोहित हूँ, मुख्य सेनाध्यक्ष हूँ, उसका क्षात्रबल भी तीक्ष्ण और विजयशील है। जब मेरी सेना शत्रु को पराजित करती है, तब विजय मेरी होती है और वस्तुतः मेरी भी नहीं, विजय राष्ट्रपति की या राष्ट्र की होती है। सर्वोपरि है राष्ट्र। जय बोलो मेरे तीक्ष्ण वीरों की, जय बोलो मेरे राष्ट्रपति की, जय बोलो मेरे राष्ट्र की।

पाद-टिप्पणी

१. संशितं, शो तनूकरणे+क्त प्रत्यय।

८५. हम आयु, तेज, समृद्धि आदि प्राप्त करें

ऋषिः वत्सप्रीः । देवता अग्निः । छन्दः भुरिग् आर्षी अनुष्टुप् ।

अग्नेऽभ्यावर्त्तिन्नभि मा निवर्त्तस्वायुषा वर्चसा प्रजया धनेन ।
सन्या मेधया रय्या पोषेण ॥

—यजु० १२।७

हे (**अभ्यावर्तिन्**[१] **अग्ने**) शरीर में अनुकूलता के साथ रहनेवाली प्राणाग्नि ! (**अभि मा निवर्तस्व**) मेरे शरीर में निरन्तर विद्यमान रह (**आयुषा**) स्वस्थ आयु के साथ, (**वर्चसा**) वर्चस्विता के साथ, (**प्रजया**) उत्कृष्ट प्रजननशक्ति एवं प्रजा के साथ, (**धनेन**) धन के साथ (**सन्या**[२]) इष्ट प्राप्ति के साथ, (**मेधया**) धारणावती बुद्धि के साथ, (**रय्या**[३]) विद्या-श्री के साथ (**पोषेण**) पुष्टि के साथ।

शरीर में जब तक प्राणाग्नि प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान आदि द्वारा सुचारुतया कार्य करती रहती है, तब तक शरीर जीवित रहता है। अतः मैं चाहता हूँ कि शरीर में आकर अनुकूलता के साथ रहनेवाली प्राणाग्नि मेरे अन्दर निरन्तर विद्यमान रहे। परन्तु केवल प्राणाग्नि शरीर में विद्यमान रहे, अन्य आवश्यक साज न हो, तो भी शरीर न होने के बराबर है। इसलिए मन्त्र में प्राणाग्नि के साथ अन्य समस्त साज की भी याचना की गयी है, 'स्वस्थ एवं दीर्घ आयु, वर्चस्विता, उत्कृष्ट प्रजननशक्ति एवं प्रजा, धन, इष्ट लाभ, बुद्धि, विद्या-श्री और पुष्टि। प्रत्येक मनुष्य की अभिलाषा होती है कि उसे स्वस्थ दीर्घायुष्य प्राप्त हो, रुग्ण दीर्घायुष्य कोई नहीं चाहता। रुग्ण दीर्घायुष्य की अपेक्षा स्वस्थ अल्पायुष्य अधिक अच्छा

है। साथ ही मनुष्य के आत्मा में वर्चस्विता भी होनी चाहिए। विज्ञान, स्मृतिशक्ति, सदाचार आदि आत्मा के गुणों का नाम वर्चस् है। वर्चस् में ब्रह्मतेज और क्षात्रतेज दोनों आ जाते हैं। फिर मनुष्य को प्रजननशक्ति और प्रजा भी प्राप्त होनी चाहिए। अपने और अपने परिवार के पालन के लिए धन भी आवश्यक वस्तु है। धन में रुपया-पैसा, बँगले-कोठी, खाद्य सामग्री, मनोरञ्जन की वस्तुएँ आदि सभी पदार्थ आ जाते हैं। धन के अतिरिक्त अन्य बहुत-सी अभीष्ट प्राप्तियों की भी आवश्यकता पड़ती है—यथा, सुख की प्राप्ति, यश की प्राप्ति, सद्गुणों की प्राप्ति, ईश्वर-भक्ति की प्राप्ति, कर्मण्यता की प्राप्ति। ये समस्त प्राप्तियाँ 'सनि' के अन्तर्गत आ जाती हैं। इनके अतिरिक्त 'मेधा' या धारणावती बुद्धि भी जीवन का अनिवार्य अङ्ग है। बुद्धि से ही मनुष्य अनेकविध सफलताओं को पाने में समर्थ होता है। बुद्धि के साथ विद्या-श्री भी चाहिए, क्योंकि विद्याविहीन जन पशुतुल्य माना जाता है। ऊपर जिन पदार्थों की चर्चा की गयी है, वे प्राप्त भी हो जाएँ, पर क्षीण होते चलें तो भी मनुष्य कृतकार्य नहीं हो सकते। अतः समस्त प्राप्त ऐश्वर्यों की पुष्टि भी होती रहनी चाहिए।

हे प्राणाग्नि! तुम उक्त सब ऐश्वर्यों के साथ हमारे अन्दर निवास करो तथा हमें सर्वोन्नत जनों की श्रेणी में ला बैठाओ।

पाद-टिप्पणियाँ

१. (अभ्यावर्तिन्) आभिमुख्येन वर्तितु शीलं यस्य—द०।

२. सन्या=इष्टलाभेन—म०। षण सम्भक्तौ, भ्वादिः। ३०.४.१४१ इ प्रत्यय। सन्यते संभज्यते इति सनिः।

३. रयि शब्द धनवाची है। धन मन्त्र में पृथक् आ चुका है, अतः यहाँ विद्याधन अभिप्रेत है। रय्या=विद्याश्रिया—द०।

८६. पठित पाठ की आवृत्तियाँ-उपावृत्तियाँ

ऋषिः वत्सप्रीः। देवता अग्निः। छन्दः आर्षी त्रिष्टुप्।

अग्ने॑ऽअङ्गिरः श॒तं ते॑ सन्त्वा॒वृतः॑ स॒हस्रं॑ तऽउपा॒वृतः॑ ।
अधा॑ पोष॑स्य॒ पोषे॑ण॒ पुन॑र्नो न॒ष्टमाकृ॑धि॒ पुन॑र्नो र॒यिमाकृ॑धि ॥

—यजु० १२।८

हे (**अङ्गिरः अग्ने**) विद्यारसयुक्त अध्यापक! (**शतं**) एक-सौ (**ते सन्तु**) तेरी हों (**आवृतः**) आवृत्तियाँ। (**सहस्त्रं**) एक सहस्र हों (**ते**) तेरी (**उपावृतः**) उपावृत्तियाँ। यदि पाठ विस्मृत ही हो गया है, आवृत्ति से काम नहीं चलता, तब (**नः**) हमारे (**नष्टं**) नष्ट या विस्मृत पाठ को (**पोषस्य पोषेण**) परिपुष्ट अध्यापक के पोषण से (**पुनः आकृधि**) पुनः मन में बैठा दो। (**पुनः**) फिर (**नः**) हमारी (**रयिं**) विद्या-लक्ष्मी को (**आकृधि**) उत्पन्न कर दो।

शिक्षणालयों में विद्या ग्रहण करनेवाले विद्यार्थियों की योग्यता के कई कारण होते हैं, जिनमें अध्यापक की अध्यापन-रीति एक प्रमुख कारण है। एक शिक्षाशास्त्री का कथन है कि "आचार्य समाहित होकर छात्रों को ऐसी रीति से विद्या और सुशिक्षा करे कि जिससे उनके आत्मा के भीतर सुनिश्चित अर्थ होकर उत्साह ही बढ़ता जाये। दृष्टान्त, हस्तक्रिया, यन्त्र, कलाकौशल, विचार आदि से विद्यार्थियों के आत्मा में पदार्थ इस प्रकार साक्षात् करावें कि एक के जानने से हजारों पदार्थ यथावत् जानते जायें।[१]"

प्रस्तुत मन्त्र में अध्यापक को 'अग्नि' कहा गया है। अग्नि शब्द उणादि कोष में गत्यर्थक 'अगि' धातु से 'नि' प्रत्यय करके निष्पन्न किया गया है।[२] इससे अध्यापक के क्रियाशीलता, तत्परता, ज्ञानप्रकाशयुक्तता, अध्यापन-कुशलता

आदि गुण सूचित होते हैं। यहाँ अध्यापक का एक विशेषण 'अङ्गिरस्' है। उणादि में अङ्ग से असि प्रत्यय तथा इरुड् का आगम करके यह शब्द निपातित किया गया है,[३] जिससे अध्यापक का विद्याङ्गरसमय होना सूचित होता है। तात्पर्य यह है कि अध्यापक को अखिल वेदवेदाङ्गों का तथा ज्ञान-विज्ञान के भण्डार का स्वामी होना चाहिए। मन्त्र में अध्यापक द्वारा शिष्यों को पढ़ाये हुए पाठ की आवृत्तियाँ और उपावृत्तियाँ कराने पर विशेष बल दिया गया है। वह शिष्यों को एक-सौ आवृत्तियाँ तथा एक-सहस्र उपावृत्तियाँ कराये। आवृत्ति से तात्पर्य है, उस पाठ की अक्षरशः पूर्ण आवृत्ति अर्थात् उस पाठ को पूरा दोहराना। उपावृत्ति का अभिप्राय है, उस पाठ पर सामान्य दृष्टि डालना। प्रतिदिन एक आवृत्ति की जाए, तौ एक-सौ आवृत्तियों में तीन मास दस दिन लगेंगे। एक सहस्र उपावृत्तियों में २ वर्ष ९ मास १० दिन। यह अनुभव से देखा गया है कि किन्हीं श्लोकों, मन्त्रों आदियों का प्रतिदिन पाठमात्र कर लेने पर, स्मरण करलेने के लिए मस्तिष्क पर कोई बल न देने पर भी वे तीन-चार मास में स्मरण या कण्ठस्थ हो जाते हैं। उसके बाद अक्षरशः न देख कर सामान्य दृष्टि-निक्षेप से ही काम चल जाता है।

उत्तरार्ध में मन्त्र कहता है कि यदि कोई पाठ पूर्णतः लुप्त (नष्ट) हो जाए, उसके सब ग्रन्थ जलविप्लव या अग्नि आदि से विनष्ट हो जाएँ तो भी सुयोग्य विद्वान् पुनः उस विद्या का अनुसन्धान या आविष्कार कर सकते हैं। इस प्रकार खोई हुई लक्ष्मी को पुनः प्राप्त करा सकते हैं। यहाँ यदि 'नष्ट' का अर्थ पूर्णतः विस्मृत लें, तो कुशल अध्यापक पुनः उसे शिष्य के मस्तिष्क में बैठा सकता है, यह भाव लेना चाहिए।

पाद-टिप्पणियाँ

१. स्वामी दयानन्द सरस्वती, ऋ० भा० १.४.४, भावार्थ।
२. अङ्गेर्नलोपश्च उ० ४.५१, अगि-नि, अङ्ग् नि, अग्-नि=अग्नि।
३. अङ्ग÷असि प्रत्यय, इरुड्=इर् का आगम। अङ्गिराः उ० ४.२३७।
४. अङ्गिराः विद्यारसयुक्तः—द०। अङ्ग÷रस=अङ्गिरस्।

८७. नवनिर्वाचित राजा को प्रजा के प्रतिनिधि की प्रेरणा

ऋषिः त्रितः। देवता: अग्निः। छन्दः विराट् आर्षी त्रिष्टुप्।

सीद् त्वं मा॒तुर॒स्या॑ऽउ॒पस्थे॒ विश्वा॑न्यग्ने व॒युना॑नि वि॒द्वान्।
मैनां॒ तप॑सा॒ मार्चि॑षा॒ऽभिशो॑चीर॒न्तर॑स्याᳬं शु॒क्रज्यो॑ति॒र्विभा॑हि॥

—यजु० १२।१५

(अग्ने) हे नवनिर्वाचित राजन्! **(विश्वानि)** सब **(वयुनानि)** प्रशस्य कर्मों, प्रज्ञाओं और कान्तियों के **(विद्वान्)** ज्ञाता **(त्वं)** आप **(अस्याः मातुः)** इस मातृभूमि की **(उपस्थे)** गोद में, राजगद्दी पर **(सीद)** बैठो। **(एनां)** इस मातृभूमि को **(मा)** न **(तपसा)** सन्ताप से, **(मा)** न **(अर्चिषा)** दुःख, विद्रोह, आतङ्क आदि की लपट से **(अभिशोचीः)** शोकाकुल करो। **(अस्याम् अन्तः)** इसके अन्दर **(शुक्रज्योतिः)** प्रदीप्त तथा पवित्र ज्योतिवाले होकर **(विभाहि)** भासमान होवो।

हे प्रजा के मध्य से नव निर्वाचित हुए राजन्! वेद ने आपको 'अग्नि' कहा है, क्योंकि आप अग्रणी हैं, अग्रनायक हैं। आग के समान तेजस्वी, प्रख्यात, प्रकाशमान, प्रकाशदाता तथा ऊर्ध्वगामी होने के कारण भी आप 'अग्नि' कहलाते हैं। आप समस्त 'वयुनों' के विद्वान् हैं। 'वयुन' शब्द निघण्टु में प्रशस्य-वाचक शब्दों में पठित है[1] और निरुक्त में इसके कान्ति तथा प्रज्ञा अर्थ किये गये हैं[2]। क्या प्रशस्य है और क्या अप्रशस्य है, इसे आप भलीभाँति जानते हैं। अतः प्रजा में प्रशस्य कर्म लाने में तथा प्रजा से अप्रशस्य कर्म छुड़ाने में आप समर्थ हैं। प्रज्ञा के आप धनी हैं, अतः निखिल ज्ञान-विज्ञान को राष्ट्र के बुद्धिजीवियों में आप प्रचारित कर सकते

हैं। 'कान्ति' आपको सुहाती है, अतः राष्ट्रवासियों में आप सूर्य-जैसी कान्ति और आभा ला सकते हैं। आप पदभार ग्रहण करते हुए मातृभूमि की गोद में राजगद्दी पर आसीन हों। अपने कार्यकाल में इस बात का सदा ध्यान रखें कि यह मातृभूमि कभी सन्ताप , दुःख, विद्रोह, आतङ्कवाद आदि की ज्वालाओं से शोकाकुल न हो। भले ही विद्रोही लोग आपके उज्ज्वल कार्यों के प्रति विद्रोह प्रकट करें, सेना लेकर आपके राष्ट्र पर आक्रमण करें, आपकी प्रजा को भी विद्रोह में संमिलित करने का प्रयत्न करें, किन्तु आप अपनी उज्ज्वलता पर सुदृढ़ रहें, अपने राष्ट्र की उन्नति के प्रयत्नों पर स्थिर रहें। भले ही आतङ्कवादी लोग मार-काट, अग्निकाण्ड, आत्मघाती विनाश के प्रपञ्च आदि से आपको डराना चाहें, किन्तु आप निर्भयतापूर्वक अपने सत्प्रयासों में प्रवृत्त और अडिग रहें। आप प्रदीप्त और पवित्र ज्योति के साथ राष्ट्र में सदा सूर्य के समान चमकते रहें। सूर्य बनकर तामसिकता और अज्ञान के अन्धकार को विच्छिन्न करते रहें। अपने यशस्वी कार्यों से निरन्तर कीर्ति पाते रहें। तब हमारे द्वारा आपको राजगद्दी पर आसीन करना, राष्ट्र का उन्नायक बनाना सफल होगा। प्रभु करे आप अपने राष्ट्र को उन्नत राष्ट्रों की पङ्क्ति में सबसे आगे खड़ा करने का श्रेय प्राप्त करने में समर्थ हों। हम आपकी जय बोलते हैं, आपके मन्त्रिमण्डल और रक्षक सेनाध्यक्षों की जय बोलते हैं, राष्ट्र की जय बोलते हैं।

पाद-टिप्पणियाँ

१. वयुन=प्रशस्य, निघं० ३.८।
२. वयुनं वेतेः कान्तिर्वा प्रज्ञा वा। निरु० ५.४८।

८८. पुनर्जन्म

ऋषिः विरूपः। देवता अग्निः। छन्दः निचृद् अनुष्टुप्।

पुनरासद्य सदनमपश्च पृथिवीमग्ने।
शेषे मातुर्यथोपस्थेऽन्तरस्याꣳशिवतमः॥

—यजु० १२।३९

(अग्ने) हे जीवात्मन्! तू एक शरीर छोड़ने के पश्चात् **(पुनः)** फिर **(सदनम्)** मातृगर्भरूप सदन को **(अपः च पृथिवीम्)** और जल, पृथिवी आदि पञ्च तत्त्वों को **(आसद्य)** प्राप्त करके **(शिवतमः)** अत्यन्त शिव होकर **(अस्याम् अन्तः)** इस पाञ्चभौतिक तनू के अन्दर **(शेषे)** शयन करता रहता है, **(यथा)** जैसे कोई बालक **(मातुः उपस्थे)** माता की गोद में शयन करता है।

क्या तुम समझते हो कि आत्मा नाम की कोई वस्तु नहीं है, जो अमर हो, शरीर की मृत्यु हो जाने पर भी मरती न हो? क्या तुम चारवाक सम्प्रदाय की नीति पर चलते हुए कहते हो कि जब तक जियो सुख से जियो, अपने पास न हो तो कर्ज लेकर घी पियो, जब शरीर भस्म हो गया, तब संसार में पुनः आगमन कैसा?[1] यदि तुम ऐसा विचार रखते हो तो भूल में हो। वेद कहता है कि हे जीवात्मन्! तुम्हें पुनः मातृगर्भरूप सदन में आना पड़ेगा, अच्छे-बुरे जैसे तुम्हारे पूर्वजन्म के कर्म होंगे वैसी योनि तुम्हें मिलेगी। सत्कर्म प्रबल होंगे तो मनुष्य-जन्म प्राप्त होगा, निकृष्ट कर्म प्रबल होंगे तो पशु-पक्षी, कीट, पतङ्ग, सर्प, वृश्चिक आदि के शरीर में जन्म मिलेगा।

परन्तु यह जीवात्मा पुनर्जन्म प्राप्त करता कैसे है? रज-वीर्य में पृथिवी, अप्, तेज, वायु, आकाश इन पञ्च तत्त्वों के

योग से पाञ्चभौतिक शरीर बनता है। जीवात्मा सूक्ष्मशरीरसहित रज-वीर्य के साथ संयुक्त होकर शरीर के विकास में कारण बनता है। "जीव वायु, अन्न, जल अथवा शरीर के छिद्र द्वारा दूसरे के शरीर में ईश्वर की प्रेरणा से प्रविष्ट होता है, जो प्रविष्ट होकर क्रमशः वीर्य में जा, गर्भ में स्थित हो, शरीर धारण कर बाहर आता है। जो स्त्री के शरीर धारण करने योग्य कर्म हों तो स्त्री और पुरुष के शरीर धारण करने योग्य कर्म हों तो पुरुष के शरीर में प्रवेश करता है।"[२] मन्त्र में पञ्चतत्त्वों के स्थान पर दो ही तत्त्वों का नाम आया है—पृथिवी और अप्। इन दोनों को शेष तीन तत्त्वों का भी उपलक्षण जानना चाहिए। इस प्रकार उपलक्षणन्याय से यहाँ पृथिवी, अप्, तेज, वायु, आकाश इन पाँचों तत्त्वों का ग्रहण हो जाता है। कभी-कभी जीवात्मा माता के गर्भ में प्रविष्ठ होकर भी फिर बाहर निकल जाता है, तब मृत शिशु का जन्म होता है। जीवित शिशु के माता के गर्भ से बाहर आते समय भी जीव निकल सकता है और उससे पूर्व भी। दोनों अवस्थाओं में मृत शिशु गर्भ से बाहर आता है।

जब जीवात्मा मातृगर्भरूप शिशु के अन्दर विद्यमान रहता हुआ उसका पोषण करता है, तब वह उसके लिए शिवतम होता है। तब जीवात्मा 'शिशु के शरीर में ऐसे ही शयन करता है, जैसे किसी माता की गोद में उसका शिशु शयन करता है।'

आओ, हम पुनर्जन्म पर विश्वास लाकर सत्कर्म ही करें, जिससे हमें पुनः मनुष्य-योनि प्राप्त हो, या मुक्ति पाने योग्य कर्म करें, जिससे हम जीवन-मरण के बन्धन से छुटकारा पाकर मुक्ति प्राप्त कर सकें।

पाद-टिप्पणियाँ

१. यावज्जीवेत् सुखं जीवेदृणं कृत्वा घृतं पिवेत्।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः॥

२. स० प्र०, समु० ९, स्वामी दयानन्द।

८९. सत्याः सन्तु यजमानस्य कामाः

ऋषिः सोमाहुतिः। देवता अग्निः। छन्दः स्वराड् आर्षी त्रिष्टुप्।

पुनस्त्वादित्या रुद्रा वसवः समिन्धतां पुनर्ब्रह्माणो वसुनीथ यज्ञैः।
घृतेन त्वं तन्वं वर्धयस्व सत्याः सन्तु यजमानस्य कामाः॥

—यजु० १२।४४

हे (**वसुनीथ**) स्वास्थ्य आदि ऐश्वर्य प्राप्त करानेवाले यज्ञाग्नि! (**पुनः त्वा**) पुनः तुझे (**यज्ञैः**) यज्ञों से (**आदित्याः**[१]) त्रिवेदी विद्वान्, (**रुद्राः**[२]) द्विवेदी विद्वान्, (**वसवः**[३]) एकवेदी विद्वान् (**समिन्धताम्**) प्रज्वलित करें, (**पुनः**) पुनः (**ब्रह्माणः**[४]) चतुर्वेदी विद्वान् [प्रदीप्त करें]। (**घृतेन**) घृत से (**त्वं**) तू (**तन्वं**) शरीर को (**वर्धयस्व**) बढ़ा। (**सत्याः सन्तु**) सत्य हों (**यजमानस्य कामाः**) यजमान की कामनाएँ।

यजमान ने किन्हीं पवित्र महत्त्वाकांक्षाओं को लेकर सकाम यज्ञ आरम्भ किया है। यज्ञवेदि को हल्दी, रोली आदि से सजा कर यज्ञकुण्ड में घृतदीपक से अग्नि प्रज्वलित की है। यह अग्नि प्रकाश, ज्ञानज्योति, प्रगति, स्फूर्ति, अग्रगामिता, विघ्नदाह, राक्षसी वृत्तियों के भस्मीकरण, ऊर्ध्वारोहण आदि का प्रतीक है। घृताहुति से यह बल पाता है और इसकी ज्वालाएँ ऊपर उठती हैं। सुगन्धि, मिष्ट, पुष्टिप्रद और रोगहर पदार्थों के प्रज्वलन से यह पर्यावरण को शुद्ध करता है। मानस में मनुष्य से देव बनने की तरङ्गें उठाता है, सङ्कल्प को दृढ़ करता है और ध्येय में सफल होने की प्रेरणा करता है। यह अग्नि 'वसुनीथ' कहलाता है, क्योंकि स्वास्थ्य, दीर्घायुष्य, प्राणशक्ति मनोबल आदि ऐश्वर्यों को प्राप्त कराता है और उनका उन्नयन करता है। जीवन में एक बार ही इसे प्रज्वलित करना पर्याप्त

नहीं है, अतः मन्त्र प्रेरणा कर रहा है कि याज्ञिकजन जीवन में पुनः-पुनः इसे प्रज्वलित किया करें। इन याज्ञिकों को यहाँ चार श्रेणियों में विभक्त किया गया है, वसु, रुद्र, आदित्य और ब्रह्मा।[१] वसु एकवेदी, रुद्र द्विवेदी, आदित्य त्रिवेदी और ब्रह्मा चतुर्वेदी याज्ञिक हैं। यज्ञ घृत और चतुर्विध हवन-सामग्री से तो लाभ पहुँचाता ही है, इसके अतिरिक्त यजमान और पुरोहितों को जितना अधिक वेदमन्त्रों का अर्थबोध होगा, उतना ही अधिक आन्तरिक लाभ भी ये प्राप्त कर-करा सकेंगे। एक, दो, तीन या चारों वेदों का मन्त्रार्थ समझते हुए जो यज्ञ करता है, वह यज्ञ का केवल भौतिक लाभ ही नहीं प्राप्त करता, अपितु सद्गुण, विवेक, कर्त्तव्यबोध, ज्ञानवृद्धि, ईश्वरभक्ति, अमृतवर्षा, अन्नमय-प्राणमय-मनोमय-विज्ञानमय कोषों की बलवत्ता आदि का लाभ भी प्राप्त करता है। वह मन्त्रार्थ को अपने और समाज के जीवन में क्रियान्वित करने का व्रत भी व्रतपति अग्नि से और व्रतपति परमेश्वर से ग्रहण करता है। हे यज्ञाग्नि! तू घृतादि की आहुतियों से अपनी और यजमान की, दोनों की तनूवृद्धि कर, दोनों का शरीरवर्धन कर! हे यजमान! यज्ञ में उपस्थित समस्त यज्ञप्रेमियों का, विद्वानों का, पुरोहितों का, वेद का और परमेश्वर का तुझे यह आशीर्वाद है कि यजमान की कामनाएँ सत्य हों, पूर्ण हों, फलित हों—"सत्याः सन्तु यजमानस्य कामाः।"

पाद-टिप्पणियाँ

१-४. (वसवः) प्रथमे विद्वांसः, (रुद्राः) मध्यस्थाः, (आदित्याः) पूर्णविद्याबलयुक्ताः, (ब्रह्माणः) चतुर्वेदाध्ययनेन ब्रह्मा इति संज्ञां प्राप्ताः—द०।

९०. हमें क्या-क्या प्राप्त हों?

ऋषिः विश्वामित्रः। देवता अग्निः। छन्दः भुरिग् आर्षी पङ्क्तिः।

इडामग्ने पुरुदंसंसनिं गोः शश्वत्तमंहवमानाय साध।
स्यान्नः सूनुस्तनयो विजावाग्ने सा ते सुमतिर्भूत्वस्मे॥

—यजु० १२।५१

(**अग्ने**) हे तेजस्वी परमेश्वर! (**हवमानाय**[१]) मुझ प्रार्थी के लिए (**इडाम्**[२]) भूमि, अन्न और गाय तथा (**पुरुदंसं**[३]) अनेक कर्मों को सिद्ध करनेवाली (**गोः**[४] **सनिं**) वाणी की देन (**शश्वत्तमं**) निरन्तर (**साध**) प्रदान कीजिए। (**नः सूनुः**) हमारा पुत्र (**तनयः**[५]) वंश आदि का विस्तार करनेवाला और (**विजावा**[६]) विविध ऐश्वर्यों का जनक (**स्यात्**) हो (**सा**) ऐसी (**ते सुमतिः**) आपकी सुमति (**अस्मे**) हमारे लिए (**भूतु**) होवे।

हे अग्नि! हे अग्रनायक तेजस्वी परमेश्वर! हम आपसे कुछ याचना कर रहे हैं, करबद्ध होकर प्रार्थना कर रहे हैं, वह हमारी प्रार्थना कृपा करके आप पूर्ण कीजिए। क्या कहते हो? अपने आचार्य के वचन सुनो—"यही प्रार्थना का मुख्य सिद्धान्त है कि जैसी प्रार्थना करे वैसा ही कर्म करे।[७]" अतः जो कुछ माँगते हो उसे पाने का स्वयं पुरुषार्थ करो। पुरुषार्थ तो हम करेंगे भगवन्, किन्तु पहले आपका आशीर्वाद तो ले लें। प्रार्थना द्वारा आपसे दृढ़ सङ्कल्प, कर्म के प्रति तत्परता, उत्साह, प्रेरणा, सफलता का आशीर्वाद आदि प्राप्त होते हैं। प्रार्थना करके हम उन्हें ही प्राप्त करना चाहते हैं। फिर कृतकार्य होने के लिए पुरुषार्थ में जुट जायेंगे और आपके आशीर्वाद से प्रार्थित वस्तुओं को प्राप्त करके ही रहेंगे। पहली वस्तु, जो हम माँगते हैं, वह है 'इडा'। इडा का अर्थ है भूमि, अन्न और

गाय। हमें निवास के लिए, खेती करने के लिए, बाग-बगीचे लगाने के लिए, कल-कारखाने खोलने के लिए और शिक्षणालय, औषधालय आदि चलाने के लिए भूमि दीजिए। अन्न, अर्थात् सकल शुद्ध आरोग्यकारी भोज्य पदार्थ दीजिए और दूध-दही-माखन आदि की पूर्ति के लिए दुधारू गाय दीजिए। दूसरी हमारी प्रार्थित वस्तु है 'गोः सनिः'। गो शब्द निघण्टु में वाणीवाचक शब्दों में भी पठित है। वाणी की देन भी हमें चाहिए। वाणी 'पुरुदंसाः' है, अनेक कार्यों को सिद्ध करनेवाली है। वेदादि शास्त्रों की वाणी, गुरुजनों की वाणी, अनुभवी संन्यासियों की वाणी मूर्ख को भी विद्वान्, अधार्मिक को भी धर्मात्मा, आतङ्कवादी को भी मित्र बना देती है। वाणी की यह देन नैरन्तर्य के साथ हमें प्राप्त होती रहे। हम कभी वाणी से और वाणी के लाभों से वञ्चित न हों। तीसरी वस्तु हम यह माँगते हैं कि हमारा पुत्र 'तनय' हो, वंश के यश का विस्तार करनेवाला हो। वह 'विजावा' अर्थात् विविध ऐश्वर्यों का जनक भी हो। धन-सम्पदा का ऐश्वर्य, वीरता का ऐश्वर्य, विद्या का ऐश्वर्य, प्रताप का ऐश्वर्य, अहिंसा का ऐश्वर्य, सत्य का ऐश्वर्य, ब्रह्मचर्य का ऐश्वर्य आदि ऐश्वर्यों की उसके पास झड़ी लगी हो।

हे अग्निदेव! हे तेजस्वी परमेश! ऐसी आपकी सुमति हमारे ऊपर रहे कि हम समस्त वांछित वस्तुओं को पुरुषार्थ द्वारा प्राप्त करते रहें और संसार में सर्वाधिक समुन्नत होकर जीवनयापन करें।

पाद-टिप्पणियाँ

१. ह्वेञ् स्पर्धायां शब्दे च, सम्प्रसारण, पूर्वरूप होने पर ह्वे=हु, शानच्।
२. इडा=पृथिवी, अन्न, गाय, निघं० १.१, २.७, २.११।
३. पुरूणि बहूनि दंसांसि (कर्माणि) भवन्ति यस्मात्—द०।
४. इडा=वाक्, निघं० ३.११।
५. तनोति विस्तारयति वंशं यशश्च यः स तनयः।
६. विजावा विविधैश्वर्यजनकः—द०।
७. अयमेव प्रार्थनाया मुख्यः सिद्धान्तः, यादृशीं प्रार्थनां कुर्यात् तादृशमेव कर्माचरेदिति। य०भा० ३.३५ का भावार्थ।

९१. रोगी, वैद्य और ओषधि तीनों दीर्घायु हों

ऋषिः वरुणः। देवता वैद्याः। छन्दः विराड् आर्षी बृहती।

दीर्घायुस्तऽओषधे खनिता यस्मै च त्वा खनाम्यहम्।
अथो त्वं दीर्घायुर्भूत्वा शतवल्शा विरोहतात्॥

—यजु० १२।१००

(ओषधे) हे ओषधि! **(ते खनिता)** तुझे खोदनेवाला **(दीर्घायुः)** दीर्घायु हो, **(यस्मै च)** और जिस रोगी के लिए **(अहं त्वा खनामि)** मैं वैद्य तुझे खोदता हूँ [वह भी दीर्घायु हो]। **(अथो)** और हे ओषधि! **(त्वं दीर्घायुः भूत्वा)** तू भी दीर्घायु होकर **(शतवल्शा[१])** शत अंकुरोंवाली के रूप में **(वि रोहतात्)** बढ़।

कई रोग अन्य मनुष्य को तथा प्राणियों को जन्मजात मिलते हैं और अन्य बहुत-से रोगों को वे अपने शरीर में नये उत्पन्न कर लेते हैं। खान-पान तथा रहन-सहन की अनियमितता इसमें प्रधान कारण होती है। जैसे-जैसे रोग बढ़ते जा रहे हैं, वैसे-वैसे चिकित्सक भी बढ़ते जा रहे हैं। ओषधियों में से कुछ का ह्रास या विनाश हो रहा है और कुछ नवीन उत्पन्न होती जा रही है। प्राकृतिक चिकित्सा, आयुर्वेद, ऐलोपैथी, होम्योपैथी आदि चिकित्सापद्धतियाँ भी बढ़ रही हैं। चिकित्सक और चिकित्सापद्धतियाँ बढ़ने पर भी रोग और रोगी कम न होकर बढ़ते ही जा रहे हैं तथा उनकी भयङ्करता भी बढ़ती जा रही है। फिर भी कुछ रोग जो पहले असाध्य समझे जाते थे, वे साध्यकोटि में आ गये हैं। चिकित्सा-जगत् को कई नवीन देने भी मिली हैं। प्रस्तुत मन्त्र ओषधि-विज्ञान के विषय में तीन बातों पर प्रकाश डाल रहा है, जो तीनों ही महत्त्वपूर्ण हैं।

पहली बात यह है कि जो लोग जङ्गल या पहाड़ से ओषधियाँ खोद कर लाते हैं, उन्हें अनाड़ी नहीं, अपितु उन

ओषधियों के गुण-धर्मों का अच्छा ज्ञाता होना चाहिए, जिससे रोगी होने पर स्वयं उनका प्रयोग करके स्वास्थ्यलाभ कर सकें तथा अन्यों को भी उन ओषधियों का परिचय देकर उनके रोगनिवारण में सहायक हो सकें। यह देखा गया है कि ओषधियाँ खोद कर लानेवाले कई सेवक वैद्यों से भी अधिक आयुर्वेदज्ञ होते हैं। दूसरी बात मन्त्र में वैद्य की ओर से कही गयी है। वे कहते हैं कि जिस रोगी के लिए मैं स्वयं ओषधि को खोद कर लाता हूँ, या ओषधि-विक्रय-विभाग से खरीद कर लाता हूँ, वह रोगी भी दीर्घायु हो। रोगी दीर्घायु तब हो सकता है, जब वैद्य का चिकित्सा-शास्त्रीय ज्ञान अधूरा न होकर पूर्ण हो। अच्छा आयुर्वेदज्ञ वैद्य ही ओषधि से रोगी को लाभ पहुँचा सकता है, अन्यथा उसके पास ओषधि विद्यमान हो तो भी उसकी चिकित्सा से रोगी स्वस्थ हो ही जायेगा यह आवश्यक नहीं है। तीसरी मन्त्रोक्त बात यह है कि ओषधि को इस प्रकार काटना चाहिए कि काटने के बाद उसके अनेक अंकुर फूटें और वह पहले से भी अधिक बड़ी हो जाये, नहीं तो यदि ओषधि को गलत तरह से काटा या उखाड़ा जायेगा, तो उसके नष्ट हो जाने का भय है। पहले एक सोमलता होती थी, जिसका रस शक्तिवर्धक तथा बुद्धिवर्धक था। यज्ञों में उसका प्रयोग बहुत होता था, उसे इस बुरी तरह काटा-उखाड़ा गया और मैदानों में उसकी खेती की नहीं जा सकी कि वह समाप्त ही हो गयी। यही हालत अन्य ओषधियों की भी हो सकती है, यदि इस तरह उन्हें काटेंगे कि उनके शत-शत कल्ले न फूटते रहें। अतः ओषधियों को प्रयोग के लिए इस तरह काटें कि वे भी दीर्घायु हों।

आइये, यदि हम चिकित्सक हैं तो मन्त्रोक्त बातों का ध्यान रखें। ओषधि खोदकर लानेवाला भी दीर्घायु हो, रोगी भी दीर्घायु हों और ओषधियाँ भी दीर्घायु हों।

पाद-टिप्पमियाँ

१. शतवल्शा शताङ्कुरा।
२. विरोहतात् वर्धस्व।

९२. अग्नि प्रभु के विभिन्न गुण

ऋषिः हिरण्यगर्भः । देवता अग्निः । छन्दः भुरिग् आर्षी गायत्री ।

अग्ने यत्ते शुक्रं यच्चन्द्रं यत्पूतं यच्च यज्ञियम् ।
तद्देवेभ्यो भरामसि ॥

—यजु० १२।१०४

हे **(अग्ने)** अग्रनायक परमेश्वर! **(यत् ते शुक्रं**[1] **)** जो तेरा दीप्तिमान् रूप, **(यत् चन्द्रं**[2] **)** जो आह्लादक रूप, **(यत् पूतं)** जो पवित्र रूप **(यत् च यज्ञियं)** और जो यज्ञसंपादनयोग्य रूप है, **(तत्)** उसे हम **(देवेभ्यः)** विद्वान् प्रजाजनों के लिए **(भरामसि)**[4] लाते हैं।

हे जगदीश्वर! आप 'अग्नि' हो, अग्रनायक हो, जो आपको अपना अग्रणी बनाता है, उसे सत्पथ पर चला कर उसके नियत उद्देश्य तक पहुँचा देनेवाले हो। आप अग्नि के तुल्य तेजस्वी-यशस्वी भी हो। साधक को आपके अनेक रूप दृष्टिगोचर होते हैं। कभी आपका 'शुक्र', अर्थात् जाज्वल्यमान रूप उसके सम्मुख प्रकट होता है, जो उसके अन्तःकरण को उद्भासित कर देता है। उसका मानस दृढ़ सङ्कल्प की ऊँची-ऊँची अर्चियाँ उठाने लगता है। कभी उसके सम्मुख आपका 'चन्द्र' रूप, अर्थात् चाँद-जैसा आह्लादक रूप प्रकट होता है, जिस के माधुर्य से उसका हृदय रसमय, मधुर, शीतल हो जाता है। कभी उसके सम्मुख आपका 'पूत' अर्थात् पवित्र रूप आविर्भूत होता है, जिससे उसके तन, मन, धन, ज्ञान, कर्म, उपासना सब निर्मल हो जाते हैं। कभी उसके सम्मुख आपका यज्ञिय अर्थात् यज्ञार्ह, पूजार्ह तथा यज्ञसम्पादक रूप प्रकाशित होता है, जिससे वह आपकी वन्दना, अर्चना, पूजा में प्रवृत्त

हो जाता है। आपका यज्ञनिष्पादक रूप साधक को भी विद्यायज्ञ, शान्तियज्ञ, शिल्पयज्ञ, योगयज्ञ, उपासनायज्ञ, धर्मप्रवर्तन-यज्ञ आदि के निष्पादन में प्रवृत्त कर देता है।

हे सच्चिदानन्दस्वरूप, निराकार, सर्वशक्तिमान्, न्यायकारी, दयालु, अजन्मा, अनन्त, सर्वाधार, सर्वेश्वर, सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी परमात्मन्! मन्त्रोक्त रूपों से इतर भी आपके अनेक रूप हैं, जिनका ध्यान करने से साधक 'देव' बन जाता है। हम चाहते हैं कि न केवल हमारे राष्ट्र का, अपितु समग्र संसार का प्रत्येक निवासी आपके गुणों का मनन, चिन्तन, ध्यान करके, उन्हें अपने अन्दर धारण कर कृतकृत्य हो। हे देवेश! हम भी आपके गुणों को अपने अन्तरात्मा में धारण करते हैं।

पाद-टिप्पणियाँ

१. शुक्रं शोचतेर्ज्वलतिकर्मणः, निरु० ८.११। औणादिक रन् प्रत्यय।
२. चन्द्रं, चदि आह्लादे। स्फायितञ्चि० उ० २.१३ से रक् प्रत्यय। चन्दति आह्लादयति स चन्द्रः।
३. यज्ञकर्म अर्हतीति यज्ञियः। 'तत्कर्मार्हतीत्युपसंख्यानम्' वार्तिक पा० १.६.४ से घ प्रत्यय।
४. भरामसि=हरामः। हृञ् हरणे, हृग्रहोर्भश्छन्दसि, इदन्तो मसि।

९३. प्रभु ने हमें क्या-क्या दिया है?

ऋषिः हिरण्यागर्भः। देवता अग्निः। छन्दः विराड् आर्षी त्रिष्टुप्।

इषमूर्जमहमितऽआदमृतस्य योनिं महिषस्य धाराम् ।
आ मा गोषु विशत्वा तनूषु जहामि सेदिमनिराममीवाम्॥

—यजु० १२।१०५

(इषम्) अन्न को, **(ऊर्जं)** रस को, **(ऋतस्य[१] योनिम्)** जल के भण्डार को, **(महिषस्य[२] धाराम्)** महान् सूर्य की प्रकाशधारा को **(अहं)** मैंने **(इतः)** इस अग्नि नामक परमात्मा से **(आदम्[३])** पाया है। यह सब **(मा)** मुझमें, **(गोषु)** गौओं में, **(तनूषु)** सब शरीरधारियों में **(आ विशतु)** प्रवेश करे। **(जहामि)** छोड़ देता हूँ **(सेदिम्[४])** विनाश करे, **(अनिराम्[५])** अन्नाभाव को और **(अमीवाम्)** रोग को।

क्या तुम जानना चाहते हो कि 'अग्नि' नामक प्रभु से हमने क्या-क्या पाया है? बहुत-सी वस्तुएँ गिनायी जा सकती हैं, जो प्रभु ने हमें दी हैं। मन्त्र में संकेतमात्र किया गया है, विस्तार हम स्वयं कर सकते हैं। पहली वस्तु, जो प्रभु से हमने पायी है, वह 'इष्' अर्थात् अन्न या भोज्य पदार्थ है। तुम कहोगे कि अन्न तो हमें किसान देता है। नहीं, तुम भूल करते हो। किसान तो केवल अन्न के दाने धरती में डाल देता है। जिन दानों को वह बोता है, वे कहाँ से आते हैं। तुम कहोगे, उन्हें भी किसान ही पैदा करता है। किन्तु सर्वप्रथम अन्न का दाना किसान के पास कहाँ से आया? किसी किसान के बिना बोये ही परमेश्वर ने धरती में उगा दिया। उसके बाद किसान एक दाने से अनेक दाने उत्पन्न करने लगा। एक दाने से अनेक दाने पैदा करने में भी सम्पूर्ण श्रेय किसान को नहीं है। अन्न

के उत्पन्न होने में जो प्राकृतिक प्रक्रिया होती है, वह प्रभु द्वारा ही सम्पन्न की जाती है। मिट्टी, पानी, ताप आदि के संयोग से अन्न का दाना अंकुरित होता है, पौधा बनता है, बढ़ता है, दाने देता है।

दूसरी वस्तु जिसके लिए हम जगदीश्वर के ऋणी हैं, वह 'ऊर्ज्' अर्थात् रस है। रस में गोरस, इक्षुरस, फूलों-फलों के रस, बादाम-तिल आदि स्नेह-द्रव्यों के रस सब आ जाते हैं। इन अन्नों तथा रसों से हमारे शरीर का पोषण होता है। तीसरी वस्तु जो प्रभु से हमें प्राप्त हुई है वह है, 'ऋत की योनि' अर्थात् जल का भण्डार। स्रोतों, नदियों, समुद्रों, बादलों, पर्वतों में प्रभु ने ही जल का भण्डार भरा है, जो बिना मूल्य के हमें निरन्तर प्राप्त होता रहता है। प्रभु से मिली चौथी वस्तु है, महान् सूर्य की प्रकाश-धारा, ज़ो हमारे लिए जीवन का स्रोत है। प्रभु-प्रदत्त ये सब वस्तुएँ हमें प्राप्त होती रहें, गाय आदि पशुओं को प्राप्त होती रहें, सब देहधारियों को प्राप्त होती रहें। इनके प्राप्त होते रहने से हम विनाश, दुर्भिक्ष और व्याधियों से बचे रहें।

पाद-टिप्पणियाँ

१. ऋत=जल, निघं० १.१२
२. महिष=महान्, निघं० ३.३
३. आदम्=आदाम्। आ-दा, लुङ्। आ को ह्रस्व छान्दस।
४. सेदिं=हिंसाम्। षद्लृ विशरणगत्यवसादनेषु, भ्वादिः, कि प्रत्यय।
५. इरा=अन्न, निघं० २.७। अनिरा=अन्नाभाव।

९४. हे चाँद! बढ़कर परिपूर्ण हो जा

ऋषिः गोतमः। देवता सोमः। छन्दः निचृद् आर्षी गायत्री।

आप्यायस्व समेतु ते विश्वतः सोम वृष्ण्यम्। भवा वाजस्य सङ्गथे॥

—यजु० १२।११२

(**सोम**) हे चाँद! (**आ प्यायस्व**) बढ़, परिपूर्ण हो जा। (**विश्वतः**) सब ओर से (**ते**) तेरा (**वृष्ण्यम्**) सेचक अमृत (**समेतु**) आये। (**भव**) हो जा (**वाजस्य**) बल के (**संगथे**) संगमार्थ।

हे चाँद! किसी दिन तू परिपूर्ण आभा के साथ गगन में चमक रहा था, पूर्णिमा का चाँद था। किन्तु तू आपदा से ग्रस्त होकर घटना आरम्भ हो गया और घटते-घटते आज अमावस के दिन आकाश से लुप्त ही हो गया है। तू पुनः बढ़ना आरम्भ कर, बढ़ते-बढ़ते फिर पूर्णिमा का चाँद हो जा। तेरा अमृत फिर तुझ में लौट आये और तू अमृत से लबालब भर जा। हमारे अन्दर पुनः शीतल ज्योति के बल का सङ्गम करने में तत्पर हो जा।

यह एक वैदिक अन्योक्ति है, जिसे अप्रस्तुतप्रशंसा अलङ्कार भी कहते हैं। चाँद के बहाने से उस मनुष्य को या उस राष्ट्र को कहा जा रहा है, जो पहले कभी बहुत उन्नति कर चुका है, किन्तु अब अवनति के गर्त में गिर गया है। हे मानव! हे राष्ट्र! तू एक दिन अपनी उन्नति पर गर्व करता था, अन्य सब भी तेरे गौरव का सिक्का मानते थे। तू जगत् के गगन में पूर्णिमा के चाँद के समान चमकता था। परन्तु सबके दिन सदा एक-से नहीं रहते। 'चक्र सी है घूमती सर्वत्र विपदा-सम्पदा'। आज तू अमावस का चाँद बन गया है, किन्तु चिन्तित मत हो,

निराशा-निरुत्साह मन में मत ला। फिर एक-एक कला से बढ़ना आरम्भ कर। तू पूनम का चाँद हो जायेगा। तेरे 'वृष्ण्य' की, तेरे बल की, तेरे वीर्य और पराक्रम की धाक फिर जम जायेगी। फिर तू सबको अमृत, शीतलता और शान्ति प्रदान करने लगेगा। फिर तू संग्राम में अपनी शक्ति का प्रदर्शन करने लगेगा। तेरे सम्मुख एक दिन फिर सब सिर झुकायेंगे। तुझे फिर शान्ति का दूत स्वीकार करेंगे। हे अमावस के चाँद! तू पूनम का चाँद हो जा।

९५. सर्पों के प्रति

ऋषिः हिरण्यगर्भः। देवता सर्पाः। छन्दः भुरिग् आर्षी उष्णिक्।

नमोऽस्तु सर्पेभ्यो ये के च पृथिवीमनु।
येऽअन्तरिक्षे य दिवि तेभ्यः सर्पेभ्यो नमः॥

—यजु० १३।६

(नमः अस्तु) स्तुति हो **(सर्पेभ्यः)** उन सर्पों के लिए **(ये के च)** जो कोई **(पृथिवीम् अनु)** पृथिवी पर स्थित हैं। **(ये अन्तरिक्षे)** जो अन्तरिक्ष में हैं, **(ये दिवि)** जो द्युलोक में हैं **(तेभ्यः सर्पेभ्यः नमः)** उन सर्पों के लिए भी स्तुति हो।

शतपथब्राह्मण में लिखा है कि ये लोक ही सर्प हैं, क्योंकि जब ये सर्पते हैं, तब जो कुछ इनके अन्दर होता है, उसके साथ ही सर्पते हैं[१]। इस कारण भी लोकों को सर्प कहा जाता है कि जो कोई पदार्थ या प्राणी सर्पता है, वह इन्हीं लोकों में रहता हुआ सर्पता है[२]। एवं इन लोकों में सर्पण करनेवाले पदार्थ तथा प्राणी भी सर्प कहलाते हैं। मन्त्र कह रहा है कि हम उन सर्पों को 'नमः' देते हैं, जो पृथिवी पर रहते हैं। 'नमः' के अर्थ वैदिक कोष निघण्टु में अन्न तथा वज्र दिये हैं[३]। नमस्कार अर्थ भी वेद में भी लोक के समान होता ही है। प्रकृत में 'नमः' का अर्थ स्तुति या गुणवर्णन उचित है। पृथिवी पर रहनेवाले चर पदार्थ मनुष्यकृत रेलगाड़ी, मोटरकार, ट्रक, इञ्जन, ट्रैक्टर, युद्धयान आदि हैं। इनके गुण जानकर, उनका वर्णन करके तथा इन चर पदार्थों का उपयोग करके हम असीम लाभ प्राप्त कर सकते हैं। पृथिवी पर रहनेवाले प्राणीरूप सर्प मनुष्य, सिंह, व्याघ्र, हाथी, पक्षी तथा अन्य जीवजन्तु हैं। इनका ज्ञान, गुणवर्णन तथा उचित उपयोग

भी लाभदायक हो सकता है। अन्तरिक्ष में रहनेवाले सर्प अनेक ग्रह और उपग्रह हैं। इन ग्रह-उपग्रहों का हम पर फलित ज्योतिष का अभिमत प्रभाव भले ही न पड़ता हो, किन्तु प्राकृतिक प्रभाव तो पड़ता ही है। और अब तो ग्रह-उपग्रहों में पहुँच कर वहाँ ग्राम और नगर बसाने की योजनाएँ चल रही हैं। द्युलोक में रहनेवाले सर्प सूर्यलोक तथा असंख्य नक्षत्रमण्डल हैं। मेष, वृष, मिथुन, कर्क, सिंह, कन्या आदि १२ राशियाँ और २८ नक्षत्र, जिनमें हमारी पृथिवी के प्रवेश करने से संवत्सर का निर्माण होता है, सप्तर्षि आदि अनेक नक्षत्रपुञ्ज, आकाशगङ्गा के तारे ये सब द्युलोकस्थ सर्प हैं। इन सबका कुछ न कुछ प्राकृतिक प्रभाव हमारे स्वास्थ्य आदि पर तथा भौतिक घटनाचक्र आदि पर पड़ता है। अतः अपनी बुद्धि को इनके प्रति नत करके एतद्विषयक ज्ञान-विज्ञान प्राप्त करना हमारे लिए कल्याणकारी हो सकता है।

अतः आओ इन सब पार्थिव, अन्तरिक्षस्थ तथा द्युलोकस्थ सर्पों के प्रति हम अपने ज्ञान और कर्म को प्रेरित करें।

पाद-टिप्पणियाँ

१. इमें वै लोकाः सर्पास्ते हानेन सर्वेण सर्पन्ति। श० ७.३.१.२५।
२. इमे वै लोकाः सर्पा यदि किं च सर्पति एष्वेव तल्लोकेषु सर्पति। श० ७.३.१.२७।
३. निघं० अत्र २.७, वज्र २.२०।

९६- पृथिवी की हिंसा मत कर

ऋषिः त्रिशिराः । देवता भूमिः । छन्दः पञ्चपादा आर्षी प्रस्तारपङ्क्तिः[१] ।

भूरसि भूमिरस्यदितिरसि विश्वधाया विश्वस्य भुवनस्य धर्त्री ।
पृथिवीं यच्छ पृथिवीं दृंह पृथिवीं मा हिंसीः ॥

—यजु० १३।१८

हे पृथिवी! तू (**भूः[२] असि**) भू है, (**भूमिः[३] असि**) भूमि है, (**अदितिः[४] असि**) अदिति है, (**विश्वधायाः[५]**) विश्वधाया है, विश्व को दूध पिलानेवाली है, (**विश्वस्य भुवनस्य धर्त्री**) सब प्राणियों को धारण करनेवाली है। हे पृथिवी माता के पुत्र मनुष्य! तू (**पृथिवीं यच्छ**) पृथिवी को नियन्त्रित कर, इसकी क्षति को रोक, (**पृथिवीं दृंह**) पृथिवी को दृढ़ कर, (**पृथिवीं मा हिंसीः**) पृथिवी की हिंसा मत कर।

वेद के अनुसार पृथिवी माता है, मैं उसका पुत्र हूँ।[६] हे पृथिवी माता! तू 'भूः' है, विशिष्ट अस्तित्ववाली है। नभोमण्डल में जो अगणित लोकलोकान्तर दिखायी देते हैं, उनके बीच तेरा विशेष अस्तित्व है, क्योंकि तू अनेक प्राणियों को जन्म देकर उनकी माता बनती है। तू केवल 'भूः' ही नहीं, अपितु 'भूमि' भी है, अर्थात् अपने भूतल पर निवास करनेवाली प्राणियों को अस्तित्व देनेवाली भी है। तुझ पर बसनेवाले सिंह, व्याघ्र, हाथी, हरिण आदि कैसी शान से रहते हैं। तुझ पर रहनेवाले मानव की शान तो निराली ही है, जिसने अपने बुद्धिकौशल से सुखी जीवन के लिए अनेक ज्ञान-विज्ञानों तथा अनेक उपयोगी वस्तुओं का आविष्कार किया है। हे माँ! तू 'अदिति' है, अखण्डनीया है, अलग-अलग टुकड़ों में बाँटने योग्य नहीं है। जैसे माँ के कभी टुकड़े नहीं किये जाते, वैसे ही पृथिवी भी टुकड़ों में नहीं बाँटी जा सकती। माँ के अङ्ग-प्रत्यङ्ग तो होते हैं, पर उनमें सामञ्जस्य और एकसूत्रत्व रहता है, वैसे ही पृथिवी के भी विभिन्न राष्ट्र तो हो सकते हैं, परन्तु

उनमें परस्पर सौहार्द और एकसूत्रत्व रहना चाहिए। माँ के अङ्ग-प्रत्यङ्ग यदि एक-दूसरे से विद्रोह या विरोध करने लगें, तो उसका जीवन विपत्ति में पड़ जाएगा। ऐसे ही पृथिवी के अलग-अलग राष्ट्र यदि वाणी और क्रिया से एक-दूसरे के विरोध में तत्पर हो जाएँगे, तो पृथिवी भी निर्जीव हो जाएगी।

हे पृथिवी! तू 'विश्वधायाः' है, सब सन्तानों को अपना दूध पिलानेवाली है, अपने अन्दर विद्यमान नाना खाद्य एवं पेय पदार्थों से उनका पोषण करनेवाली है। खाद्य-पेय से अतिरिक्त तुझमें विद्यमान सोना, चाँदी, हीरे, मोती आदि अन्य पदार्थ भी तेरा दूध ही हैं, जिनसे तू अपने पुत्र-पुत्रियों को उपकृत करती है। हे जननी! तू सकल भुवन को, सकल प्राणि-समूह को अपनी गोद में धारण करनेवाली है।

हे मानव! अपनी इस पृथिवी माता पर तू गर्व कर, इसकी क्षति को रोक। देख, प्रतिवर्ष बरसात की उमड़ती नदियों से, समुद्र के तूफान से न जाने कितनी भूमि कट जाती है और उस पर बसे हुए लोगों के घर उजड़ जाते हैं। तू धरती माँ के इस अङ्ग-विच्छेद को रोक, पृथिवी को दृढ़ कर। बाँधों से नदियों की धारा को बाँध। वृक्षारोपण करके पहाड़ों की कटती हुई भूमि को कटने से बचा। तू पृथिवी की हिंसा मत कर, इसकी उपजाऊ-शक्ति को नष्ट मत होने दे, अन्यथा सोना उगलनेवाली यह धरती बञ्जर हो जाएगी। हे मनुज! अपनी धरती माता की सेवा कर, इसके पर्यावरण-प्रदूषण को रोक, इसे सजा-संवार कर रख। तब यह भी युग-युग तक तेरी सेवा करती रहेगी।

पाद-टिप्पणियाँ

१. प्रस्तारपङ्क्ति १२+१२+८+८=४० की होती है, यहाँ ११+१३+५+५+६= ४० को प्रस्तारपङ्क्ति कहा गया है।
२. भवतीति भूः।
३. भवन्ति पदार्था अस्यामिति भूमिः 'भुवः कित्' उ० ४.४६ से मि प्रत्यय तथा उसका किद्वद्भाव—द०।
४. दो अवखण्डने। दीयते अवखण्ड्यते इति दितिः, न दितिः अदितिः अनवखण्डनीया। निरुक्त में—अदितिः अदीना देवमाता, निरु० ४.४९, दीङ् क्षये।
५. विश्वं धापयति दुग्धं पाययतीति विश्वधायाः, धेट् पाने।
६. माता भूमिः पुत्रो अहं पृथिव्याः, अ० १२.१.१२।

९७. सहस्रदाः विद्वान्

ऋषिः विरूपः। देवता अग्निः। छन्दः निचृद् आर्षी उष्णिक्।

अग्निर्ज्योतिषा ज्योतिष्मान् रुक्मो वर्चसा वर्चस्वान्।
सहस्रदाऽअसि सहस्राय त्वा ॥

—यजु० १३।४०

हे विद्वन्! (**अग्निः**) अग्रनायक आप (**ज्योतिषा**) विद्या की ज्योति से (**ज्योतिष्मान्**) ज्योतिर्मय हैं। (**रुक्मः**)[१] अध्यात्म रुचिवाले स्वर्णसम आप (**वर्चसा**) ब्रह्मवर्चस से (**वर्चस्वान्**) वर्चस्वी हैं। आप (**सहस्रदाः असि**) सहस्र विद्याओं और गुणों के दाता हैं, (**सहस्राय त्वा**) सहस्र विद्याओं और गुणों की प्राप्ति के लिए आपको [वरण करते हैं]।

किसी भी समाज या राष्ट्र में विद्वानों का विशेष महत्त्व होता है। जहाँ विद्वान् लोग बड़ी संख्या में हैं, वहाँ विद्या का प्रचार भी अधिक होता है। वह राष्ट्र ज्ञान-विज्ञान में भी अग्रणी होता है। मन्त्र विद्वान् को सम्बोधन कर रहा है। हे विद्वन्! अग्रनायक आप विद्या की ज्योति से ज्योतिष्मान् हैं। जैसे अग्नि से भौतिक ज्वालाएँ निकलती हैं, वैसे ही आपके मुख से ज्ञानप्रकाश की ज्वालाएँ निकलती हैं। जैसे अग्नि अशुद्ध स्वर्ण की मलिनता को दग्ध करके स्वर्ण को निखार देता है, वैसे ही आप अज्ञान को दग्ध करके मनुष्य को विशुद्ध ज्ञानी बना देते हो। हे विद्वन्! जहाँ विद्याओं का धन आपके पास है, वहाँ आपकी अध्यात्म रुचि और आपका योगाभ्यास आपको ब्रह्मवर्चस्वी तथा योगी बना रहा है। ब्रह्मवर्चस्वी और योगी आप महात्मा और ऋषि की पदवी प्राप्त कर रहे हो। हे वैदुष्य और अध्यात्म विद्या के धनी विद्वन्! आप 'सहस्रदाः' हैं,

सहस्रों विद्याओं-उपविद्याओं और सहस्र गुणों के दाता हैं, सहस्र योगक्रियाओं के दाता हैं। सहस्र विद्याओं, उपविद्याओं, सहस्र गुणों और सहस्र योगविद्याओं की प्राप्ति के लिए मैं आपको गुरु के रूप में वरण करता हूँ।

आप मुझे पहले अपरा विद्या का ज्ञान दीजिए, मुझे ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द, ज्योतिष का पण्डित बनाइये। मुझे दर्शनशास्त्र पढ़ाइये, इतिहास और धर्मशास्त्र का अध्यापन कराइये, सूर्यविज्ञान सिखाइये, भौतिक विज्ञान में निष्णात कीजिए। फिर अध्यात्म रुचिवाले और निखरे स्वर्ण के समान शुद्धबुद्धि तथा सदाचारी आप मुझे परा विद्या भी सिखाइये। परा वह विद्या है, जिससे अक्षर ब्रह्म का, अविनश्वर परमेश्वर का साक्षात्कार होता है। जो ज्ञान मुण्डक उपनिषद् में अङ्गिरस ऋषि ने शौनक को दिया है, वह ज्ञान आप मुझे दीजिए। परब्रह्म के कार्यों का विवरण सुनाइये। वह सृष्टि की उत्पत्ति, सृष्टि का धारण, सृष्टि का संहार कैसे करता है, यह सब समझाइये। प्रणव को धनुष बना कर, आत्मा को शर बना कर, ब्रह्म को लक्ष्य बना कर कैसे अप्रमत्त होकर लक्ष्यवेध किया जाता है, इसका क्रियात्मक अभ्यास कराइये। मुझे ध्यानयोग में निष्णात कीजिए।

हे गुरुवर! आप अग्नि हैं, आप सुवर्ण हैं, मुझे भी अग्नि और सुवर्ण बना दीजिए। मैं आपकी शिष्यता स्वीकार करता हूँ। संसारचक्र में भ्रमते हुए मुझे ऊपर उठा कर ब्रह्मलोक में पहुँचा दीजिए। तब मैं आत्मविभोर होकर गाऊँगा, पृथिवी से उठकर मैं अन्तरिक्ष में आया, अन्तरिक्ष से द्युलोक में आया और द्युलोक से उठकर स्वर्लोक में पहुँच गया हूँ, जहाँ आनन्द ही आनन्द है, आनन्द ही आनन्द है।

पाद-टिप्पणी

१. रुक्मः, रुच दीप्तौ अभिप्रीतौ च। अध्यात्मरुचिः स्वर्णश्च। 'रुक्म=हिरण्य, निघं० १.२'।

९८. जङ्गम-स्थावर का आत्मा सूर्य

ऋषिः विरूपः। देवता सूर्यः। छन्दः निचृद् आर्षी त्रिष्टुप्।

चित्रं देवानामुदगादनीकं चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः।
आप्रा द्यावापृथिवीऽअन्तरिक्षंसूर्यऽआत्मा जगतस्तस्थुषश्च॥

—यजु० १३।४६

(**देवानाम्**) दीप्तिमान् किरणों का (**चित्रम् अनीकम्**) चित्रविचित्र सैन्य (**उदगात्**) उदित हुआ है। यह (**मित्रस्य वरुणस्य अग्नेः**) वायु, जल और अग्नि का अथवा प्राण, उदान और जाठराग्नि का (**चक्षुः**) प्रकाशक एवं प्रदीपक है। हे सूर्य! तूने (**आ अप्राः**[२]) आपूरित कर दिया है (**द्यावा-पृथिवी**) द्युलोक और पृथिवीलोक को तथा (**अन्तरिक्षं**) अन्तरिक्ष को। (**सूर्यः**) सूर्य (**आत्मा**) आत्मा है (**जगतः**) जङ्गम का (**तस्थुषः च**) और स्थावर का।

देखो, रात्रि के अन्धकार को चीरता हुआ प्रभात खिल रहा है। सूर्य-रश्मियों का चित्र-विचित्र सैन्य उदित हुआ है। चारों ओर प्रकाश ही प्रकाश दिखायी दे रहा है। तरु, वल्लरी, सदन, अट्टालिकाएँ, स्तूप राजप्रासाद सब दीप्ति से जगमगाने लगे हैं। अन्धेरा गिरि-कन्दराओं में जाकर छिप गया है। शीतल, मन्द, सुगन्ध पवन का स्पर्श शरीर को सुखद लग रहा है। नदियों और सरोवरों के जल पर झिलमिलाती हुई दिवाकर की किरणें दर्पण में झाँकती हुई-सी प्रतीत हो रही हैं। अग्नि की ज्वालाएँ अपनी ज्योति के स्रोत सूर्य को देख कर शरमाती हुई-सी लग रही हैं। यही रश्मिपुञ्ज सूर्य, वायु, जल और अग्नि का तथा शारीरिक प्राण, उदान और जाठराग्नि का भी चक्षु है, प्रकाशक है, प्रदीपक है। हे सूर्य! तूने अपनी किरणों

से द्युलोक, पृथिवीलोक और अन्तरिक्षलोक को आपूरित कर लिया है। सचमुच यह सूर्य जङ्गम और स्थावर का आत्मा है, प्राण है, जीवन है। इसी सूर्य से मानव आदि प्राणी प्राण प्राप्त करते हैं, इसी सूर्य से वृक्ष-वनस्पति जीवन धारण करती हैं, इसी सूर्य से जङ्गम-स्थावर स्थिति पाता है। यही सूर्य हमारी भूमि का आधार है, यही मङ्गल, बुध, बृहस्पति आदि ग्रहों का आधार है, यही सूर्य इन ग्रहों के उपग्रहभूत चन्द्रों का आधार है। यह तो बाह्य जगत् की लीला है।

अन्तर्जगत् की ओर भी दृष्टि डालो। परमात्मसूर्य की प्रकाशमय दिव्य किरणों का जाल आत्मलोक पर छा रहा है। आत्मलोक पर प्रभात उदित हो रहा है। तामसिकता का अन्धकार विनष्ट हो गया है। इस अन्तःप्रकाश ने प्राणमय, मनोमय और विज्ञानमय लोक को भी प्रकाशित कर दिया है। आत्मा, मन और शरीर को इस परमात्मसूर्य ने पूर्णतः आपूरित कर लिया है। यह परमात्मसूर्य जङ्गम मनोवृत्तियों का और ज्ञानेन्द्रियों का तथा कर्मेन्द्रियों एवं अन्नमय शरीर का प्राण है। हे साधको! इस परमात्मसूर्य से दिव्य प्राण, जीवन और जागृति प्राप्त करो, अन्तःकरण को प्रकाशित करो।

पाद-टिप्पणियाँ

१. मित्रस्य प्राणस्य, वरुणस्य उदानस्य—द०।
२. आप्राः=आ अप्राः, प्रा पूरणे, लङ्।

९९. नारी राष्ट्रपति-सदन में

ऋषिः उशनाः । देवता मन्त्रोक्ताः । छन्दः निचृद् ब्राह्मी बृहती ।

कुलायिनी घृतवती पुरन्धिः स्योने सीद सदने पृथिव्याः ।
अभि त्वा रुद्रा वसवो गृणन्त्विमा ब्रह्म पीपिहि
सौभगायाश्विनाध्वर्यू सादयतामिह त्वा ॥

—यजु० १४।२

हे **(स्योने)** सुखकारिणी नारी! **(कुलायिनी)** प्रशस्त घरानेवाली, **(घृतवती)** प्रशस्त दीप्ति[१] वाली, **(पुरन्धिः)** बुद्धिमती[२] तू **(पृथिव्याः सदने)** मातृभूमि के राष्ट्रपति-सदन में **(सीद)** स्थित हो। **(रुद्राः)** वानप्रस्थ विद्वद्गण, **(वसवः)** गृहस्थ विद्वद्गण **(त्वा अभिगृणन्तु)** तुझे आशीर्वाद दें। तू **(सौभगाय)** सौभाग्य के लिए **(इमा ब्रह्म)** इन आशीर्वादों को **(पीपिहि)**[३] ग्रहण कर। **(अश्विना)** तेरे माता-पिता और **(अध्वर्यू)** यज्ञ के संयोजक और ब्रह्मा **(त्वा)** तुझे **(इह)** इस राष्ट्रपति-सदन में **(सादयताम्)** स्थित करें।

हे देवी! प्रजा ने तुम्हें मातृभूमि के राष्ट्रपति-पद पर सर्वसम्मति से चुना है। तुम 'कुलायिनी' हो, 'कुलाय' नीड को कहते हैं, तुम प्रशस्त घराने से उत्पन्न हो। तुम 'घृतवती' अर्थात् दीप्तिमयी हो। तुम 'पुरन्धि' अर्थात् बुद्धिमती हो। तुम 'स्योना' अर्थात् प्रजा को सुख देने में समर्थ हो। तुम मातृभूमि के इस राष्ट्रपति-सदन में स्थित होकर राष्ट्रपति के कर्त्तव्यों का पालन करो। रुद्र और वसु अर्थात् वानप्रस्थ और गृहस्थ विद्वज्जन तुम्हें आशीर्वाद दें, तुम्हारे सम्बन्ध में दो शब्द कहें, तुम्हें उद्बोधन दें, तुम्हारे उत्तरदायित्व को तुम्हें स्मरण करायें, तुम्हारा अभिनन्दन करें। तुम इन आशीर्वचनों को ग्रहण करो,

हृदयङ्गम करो, धरोहर की तरह अपने मन में संजो कर रखो और समय-समय पर स्मरण कर लिया करना कि जनता के प्रतिनिधियों ने किन कामनाओं और आशाओं के साथ तुम्हें इस पद पर प्रतिष्ठित किया है। इससे तुम्हें कर्त्तव्य-पालन के लिए बल मिलेगा और तुम्हारा सौभाग्य बढ़ेगा, तुम्हारी और राष्ट्र की प्रतिष्ठा को चार चाँद लगेंगे। यज्ञ के संयोजक और ब्रह्मा तुम्हें राष्ट्रपति-सदन में प्रतिष्ठित कर रहे हैं।

याद रखना तुम्हें इस पद पर लाने में उस गरीब जनता का भी योगदान है जो झोंपड़ियों में रहती है और उन पूँजीपतियों का भी हाथ है, जो वैभवसम्पन्न कोठियों में निवास करते हैं। आपको गरीबी-अमीरी का भेद मिटा कर विषमता दूर करनी है। इस यज्ञमण्डप में विद्वान् और निरक्षर सभी स्त्री-पुरुष आपकी आरती उतार रहे हैं। आशा है आप सभी को साक्षर की श्रेणी में ला सकेंगी। हम चाहते हैं कि जब आपका कार्यकाल पूरा होने पर हम आपका विदाई-समारोह करें, तब गौरव के साथ कह सकें कि आपने जैसे देश को अपने हाथ में लिया था, उसे बहुत आगे बढ़ाकर पद छोड़ रही हैं। जनता आपकी है, आप जनता की हैं। राष्ट्रपति रहते हुए भी आप जनता के बीच आएँ, जनता के सुख-दुःख को देखें, व दुःख दूर करें। आप सफल हों, आपका गौरव-गान हो। हमारी शुभकामनाएँ आपके साथ हैं।

पाद-टिप्पणियाँ

१. घृत=दीप्ति, घृ क्षरणदीप्त्योः।

२. पुरन्धिः बहुधीः, निरु० ६.५१।

३. पि गतौ अस्मात् शपः श्लुः, तुजादित्वाद् अभ्यासस्य दीर्घश्च—द०।

१००. जगदीश से प्रार्थना

ऋषिः विश्वेदेवाः । देवता वायुः । छन्दः भुरिग् अतिजगती ।

प्राणम्मे पाह्यपानम्मे पाहि व्यानम्मे पाहि चक्षुर्मऽउर्व्या विभाहि श्रोत्रम्मे श्लोकय। अपः पिन्वौषधीर्जिन्व द्विपादव चतुष्पात्पाहि दिवो वृष्टिमेरय॥ —यजु० १४।८

हे वायो! हे जगदीश्वर! (**मे प्राणं पाहि**) मेरे प्राण की रक्षा कीजिए, (**मे अपानं पाहि**) मेरे अपान की रक्षा कीजिए (**मे चक्षुः**) मेरी आँख को (**उर्व्या**) व्यापकरूप से (**विभाहि**) दृष्टिशक्ति से चमकाइये, (**मे श्रोत्रं**) मेरे कान को (**श्लोकय**) श्रवणशक्ति से युक्त कीजिए। (**अपः जिन्व**) पानी सींचिए, (**ओषधीः जिन्व**) ओषधियों को बढ़ाइये, (**द्विपाद् अव**) दो पैरवाले मनुष्य से प्रीति कीजिए, (**चतुष्पात् पाहि**) चार पैरवाले गाय आदि पशुओं का पालन कीजिए।

हे जगदीश्वर! अनेक नामों में से आपका एक नाम 'वायु' भी है, क्योंकि आप चराचर जगत् का धारण, जीवन और प्रलय करते हो तथा बलवानों में बलिष्ठ हो।[१] वायु के समान प्राणदायक होने से भी आप 'वायु' कहलाते हो। आप मधुर, मन्द, शीतल पवन के समान शान्तिदायक भी हो और झंझावात के समान काम, क्रोधादि रूप बाधक झंखाड़ों को तोड़ गिरानेवाले भी हो। आप हमारे प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान नामक प्राणों की रक्षा कीजिए। चक्षु, श्रोत्र, मुख, नासिका में 'प्राण' स्वतः स्थित होता है, अर्थात् शरीर में दर्शन, श्रवण, शब्दोच्चारण एवं श्वास-संस्थान का कार्य 'प्राण' से होता है। मलसंस्थान और मूत्रसंस्थान में 'अपान' स्थित होता है। इन संस्थानों को स्वस्थ रखना तथा मलमूत्रादि का भलीभाँति निस्सारण करना

इसका कार्य है। शरीर के मध्यभाग में 'समान' निवास करता है, जिसका कार्य है, जाठराग्नि में होमे हुए अन्न को समावस्था में लाना, अर्थात् पचा कर एकरस करना। हृदय की समस्त नाड़ियों में 'व्यान' विचरता हुआ रक्तसंस्थान को सञ्चालित करता है। पृष्ठवंश में 'उदान' स्थित होता है, जो मनुष्य के उन्नत होकर बैठना, ऊपर उछलना आदि कार्यों में सहायक होता है।[२] इन प्राणों के अरक्षित या विकृत हो जाने से शरीर, मन, बुद्धि, आत्मा सबका स्वास्थ्य बिगड़ जाता है। अतः इनकी रक्षा आवश्यक है।

हे भगवन्! आप मेरी चक्षु की समीप-दृष्टि और दूर-दृष्टि दोनों को न केवल अक्षुण्ण रखिये, अपितु अधिकाधिक बढ़ाइये, चमकाइये। आप मेरे कानों को भरपूर श्रवण-शक्ति से युक्त कीजिए। इसी प्रकार शरीर के जो अन्य अङ्गोपाङ्ग हैं या सामर्थ्य हैं, उन सबकी भी आप रक्षा कीजिए। प्रकृति में जो आपके द्वारा विविध क्रियाएँ की जा रही हैं, उनकी भी आप सम्यक्तया रक्षा कीजिए, क्योंकि उनका भी प्रभाव हमारे शरीर, मन आदि पर पड़ता है। आप वायु में जल-कणों को भरकर उनके द्वारा हमें सींचते रहिए, क्योंकि सर्वथा शुष्क वायु हमारे शरीराङ्गों को भी शुष्क कर देती है। आप ओषधि-वनस्पतियों को बढ़ाइए, जिससे वे वायुमण्डल को शुद्ध करती रहें, हमें छाया प्रदान करती रहें, वर्षा में सहायक होती रहें और प्रचुर मात्रा में अपने मूल, छाल, पत्र, पुष्प और फल इन पञ्चाङ्गों से हमें लाभ पहुँचाती रहें। हे रक्षक प्रभुवर! आप द्विपाद् मनुष्य से प्रीति कीजिए, उसे ऊँचा उठाइये, उसके अन्दर शक्ति भरिये, क्योंकि एकमात्र वही संसार में ज्ञान-विज्ञान आदि की उन्नति कर सकता है। आप गाय, घोड़े आदि चतुष्पादों की रक्षा कीजिए, क्योंकि वे पर्याप्त अंशों में अपनी रक्षा स्वयं करने में पूर्णतः समर्थ नहीं है। आप हमारी भूमि पर वृष्टि कीजिए, क्योंकि वृष्टि पर ही नदी, सरोवर, कूप, समुद्र आदि की जल-व्यवस्था तथा कृषि-क्षेत्रों की सस्यश्यामलता

निर्भर होती है।

हे जगदीश! आप ही चराचर जगत् के सर्जक, पालक तथा रक्षक हो, अतः हम आपसे ही सबकी सुरक्षा की प्रार्थना करते हैं। हम स्वयं भी यथाशक्ति इनकी रक्षा में प्रवृत्त रहेंगे, हमें आप रक्षा की शक्ति प्रदान करते रहिए।

पाद-टिप्पणियाँ

१. 'वा गतिगन्धनयोः। गन्धनं हिंसनम्। यो वाति चराचरं जगद् धरति बलिनां बलिष्ठः स वायुः। जो चराचर जगत् का धारण, जीवन और प्रलय करे और सब बलवानों से बलवान् है, इससे ईश्वर का नाम वायु है'—स०प्र०, समु० १।

२. प्रश्न उप० ३.४–६।

१०१. मानव को किन कार्यों के लिए नियुक्त करें?

ऋषिः परमेष्ठी। देवता प्रजापतिः। छन्दः विराड् ब्राह्मी जगती।

त्रिवृदसि त्रिवृते त्वा प्रवृदसि प्रवृते त्वा विवृदसि विवृते त्वा सवृदसि सवृते त्वाऽऽक्रमोऽस्याक्रमाय त्वा संक्रमोऽसि संक्रमाय त्वोत्क्रमोऽस्युत्क्रमाय त्वोत्क्रान्तिरस्युत्क्रान्त्यै त्वाधिपतिनोर्जोर्जं जिन्व॥

—यजु० १५।९

हे मनुष्य! तू (**त्रिवृद् असि**) ज्ञान, कर्म, उपासना इन तीनों तत्त्वों के साथ वर्तमान है, अतः (**त्रिवृते त्वा**) इन तीनों की वृत्ति के लिए तुझे नियुक्त करता हूँ। तू (**प्रवृत् असि**) प्रवृत्तिमार्ग में जाने योग्य है, अतः (**प्रवृते त्वा**) प्रवृत्तिमार्ग पर चलने के लिए तुझे नियुक्त करता हूँ। तू (**विवृद् असि**) विविध उपायों से उपकार करनेवाला है, अतः (**विवृते त्वा**) विविध उपायों से उपकार के लिए तुझे नियुक्त करता हूँ। तू (**सवृद् असि**) अन्यों के साथ मिलकर सङ्गठन बना सकनेवाला है, अतः (**सवृते त्वा**) अन्यों के साथ मिलकर सङ्गठन बनाने के लिए तुझे नियुक्त करता हूँ। तू (**आक्रमः असि**) शत्रुओं पर आक्रमण कर सकनेवाला है, अतः (**आक्रमाय त्वा**) शत्रुओं पर आक्रमण करने के लिए तुझे नियुक्त करता हूँ। तू (**संक्रमः असि**) संक्रम करनेवाला है, अतः (**संक्रमाय त्वा**) संक्रमण के लिए तुझे नियुक्त करता हूँ। तू (**उत्क्रमः असि**) उत्क्रमण करनेवाला है, अतः (**उत्क्रमाय त्वा**) उत्क्रमण के लिए तुझे नियुक्त करता हूँ। तू (**उत्क्रान्तिः असि**) उत्क्रान्ति करनेवाला है, अतः (**उत्क्रान्त्यै त्वा**) उत्क्रान्ति के लिए तुझे नियुक्त करता हूँ। तू (**अधिपतिना ऊर्जा**) अधिरक्षक बलवान्

द्वारा **(ऊर्जं)** बल को **(जिन्व)** प्राप्त कर।

हे मानव! क्या तू जानता है कि तू संसार का सर्वोत्कृष्ट प्राणी है। तुझे अपनी सर्वोत्कृष्टता के अनुरूप ही कर्म करने हैं। तू 'त्रिवृत्' है, ज्ञान-कर्म-उपासना तीनों की योग्यता रखता है। अतः तुझे उत्कृष्ट ज्ञान, उत्कृष्ट कर्म और उत्कृष्ट उपासना तीनों के सम्यक् सम्पादन के लिए नियुक्त करता हूँ। अकेला ज्ञान या अकेला कर्म कुछ अर्थ नहीं रखता, ज्ञानपूर्वक किया गया कर्म ही श्रेष्ठ फल उत्पन्न करता है। उपासना भी ज्ञानपूर्वक ही होती है, अकेली उपासना छलावा है। अतः तू तीनों का जीवन में यथोचित मेल रख कर ही कार्य कर। दूसरी बात जिसकी ओर मैं तेरा ध्यान आकृष्ट करना चाहता हूँ, वह यह है कि संसार में जीवनयापन के दो मार्ग हैं—एक प्रवृत्तिमार्ग और दूसरा निवृत्तिमार्ग। निवृत्तिमार्ग के अनुयायी लोग यह चाहते हैं कि हम सांसारिक कार्यों से उपरत होकर **'अहं ब्रह्मास्मि'** का ही जप करते रहें। परन्तु यह आत्मप्रवंचना है। सांसारिकता को सर्वथा छोड़ा नहीं जा सकता। प्रवृत्तिमार्ग कहता है कि जिस स्थिति में हमारे जो कर्त्तव्य हैं, उनका हमें पालन करना चाहिए। कुमारावस्था, युवावस्था, वृद्धावस्था, ब्राह्मणत्व, क्षत्रियत्व, वैश्यत्व, ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ, संन्यास सबके अपने-अपने शास्त्रोक्त कर्त्तव्य है। उन्हें करते हुए कुछ समय हम धारणा-ध्यान-समाधि के लिए भी निकालें। यह प्रवृत्तिमार्ग ही मैं तेरे लिए निर्धारित करता हूँ। इस मार्ग में प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों का समन्वय है, सामञ्जस्य है।

यह भी ध्यान रख कि तेरे अन्दर विविध उपायों से उपकार करने का सामर्थ्य है। अतः तू विविध उपायों से जीवन में परोपकार करता रह। कभी तू निर्धन को धन देकर उसका उपकार कर, कभी तू मूक को वाणी देकर, बधिर को श्रवण देकर, पंगु को टाँग देकर, रोगी को स्वास्थ्य देकर उनका उपकार कर। कभी तू अशिक्षित को शिक्षा देकर, मूर्ख को विद्वान् बना कर उसका उपकार कर। कभी तू पीड़ित की

पीड़ा हर कर, विपद्ग्रस्त की विपत्ति हर कर उसका उपकार कर। हे मानव! याद रख, अन्यों के साथ मिलकर सङ्गठन बनाने की शक्ति भी तेरे अन्दर है, अतः अन्यों को साथ लेकर सङ्गठन बना, संस्था खड़ी कर, संस्थान खोल और उन सङ्गठनों, संस्थाओं तथा संस्थानों के द्वारा ऐसा कार्य कर दिखा जिस पर संसार तुझे साधुवाद दे। इस भूतल पर तेरे अनेक शत्रु भी हो सकते हैं। तू उनकी दाल मत गलने दे। उन पर आक्रमण कर और उन्हें पराजित करके विजयदुन्दुभि बजा। तेरे अन्दर संक्रमण की शक्ति भी है। संक्रमण का तात्पर्य है, अन्यों के साथ सम्पर्क करके उनके अन्दर अपने गुण समाविष्ट करना। यदि ऐसा तू करेगा, तो नास्तिकों को आस्तिक, हिंसकों को अहिंसक, निर्बलों को बली, लुटेरों को साधु और शत्रुओं को मित्र बना सकेगा। तेरे अन्दर उत्क्रमण का सामर्थ्य है, अतः उत्क्रमण भी कर। उत्क्रमण का अर्थ है, ऊपर उछलना, जिस स्तर पर खड़ा है, उससे ऊपर के स्तर पर पहुँचना और इस प्रकार उपरले-उपरले स्तर पर पहुँचते-पहुँचते सर्वोन्नत शिखर पर पहुँच जाना। तू उत्क्रान्ति भी कर सकता है, अतः उत्क्रान्ति भी कर। उत्क्रान्ति से अभिप्रेत है जनसमूह को लेकर उच्च दिशा में क्रान्ति कर दिखाना। जैसे किसी पराधीन देश के वासियों द्वारा मिलकर पराधीनता की जंजीर तोड़कर स्वराज्य पा लेना।

हे मानव! किसी बलवान् और प्राणवान् को अधिपति बना कर, अपना संरक्षक बना कर बल तथा प्राणशक्ति प्राप्त कर और संसार को बदल दे।

१०२. बल और संग्राम का अधिपति

ऋषिः परमेष्ठी। देवता अग्निः। छन्दः निचृद् आर्षी गायत्री।

अयमग्निः सहस्त्रिणो वाजस्य शतिनस्पतिः।
मूर्धा कवी रयीणाम् ॥

—यजु० १५।२१

(**अयम्**) यह (**अग्निः**) अग्रनायक परमेश्वर (**सहस्त्रिणः**) सहस्र गुणों से युक्त (**वाजस्य**) बल का और (**शतिनः**) सौ सैन्य बलों से युक्त (**वाजस्य**) संग्राम का (**पतिः**) अधिपति है, (**रयीणां मूर्धा**) ऐश्वर्यों का मूर्धा है, (**कविः**) क्रान्तद्रष्टा है।

आओ, तुम्हें एक विशिष्ट अग्नि की गाथा सुनायें। यह अग्नि पार्थिव आग, अन्तरिक्षस्थ विद्युत् और द्युलोकस्थ सूर्याग्नि से बढ़कर है। ये भौतिक अग्नियाँ उसी विशिष्ट अग्नि की भा से भासभान होती हैं। वह 'अग्नि' है अग्रनायक, तेजःपुञ्ज, हृदयों में सत्य, न्याय और दया की बिजली चमकानेवाला परमेश्वराग्नि। वह 'वाज' का अधिपति है। 'वाज' बल को भी कहते हैं और संग्राम को भी।[1] वह सहस्र गुणगणों से युक्त बल का अधिपति है। उसका बल बड़े से बड़े बलियों के बल से अधिक है। उसका बल बड़े से बड़े यन्त्रों के बल को मात करता है। उसका बल अकेला ही भूगोल-खगोल का सर्जन, धारण और संहरण करने में समर्थ है। उसमें केवल बल ही नहीं है, बल के साथ सहस्र गुणगण भी विद्यमान हैं। वह सच्चिदानन्दस्वरूप, नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभाव, जगदादिकारण, अजन्मा, निराकार, सर्वशक्तिमान्, न्यायकारी, सर्वजगदुत्पादक, सनातन, सर्वमङ्गलमय, करुणाकर, परम सहायक, सर्वानन्दयुक्त,

सकलदुःखविनाशक, अविद्यान्धकारनिर्मूलक, विद्यार्कप्रकाशक, परमैश्वर्यनायक, साम्राज्यप्रसारक, पतितपावन, विश्वविनोदक, विश्वासविलासक, निरञ्जन, निर्विकार, निरीह, निरामय, निरुपद्रव, दीनदयाकर, दारिद्र्यविनाशक, सुनीतिवर्धक, निर्बलपालक, ज्ञानप्रद, धर्म-सुशिक्षक, पुरुषार्थप्रापक, विश्ववन्द्य आदि है। इस प्रकार वह सहस्रगुणगणयुक्त बल के माहात्म्य से समन्वित है। 'वाज' का संग्राम अर्थ लें तो वह सैन्य बलों वाले संग्राम का अधिपति भी है। जिस संग्राम में शत सेनाएँ आ भिड़ती हैं, ऐसे संग्राम का नेतृत्व करनेवाला और विजयी होनेवाला तथा विजयी करनेवाला भी वह है। ये शतसंख्यात सेनाएँ अविद्या, दुराचार, दम्भ, दर्प, अभिमान, क्रोध, पारुष्य आदि हैं, जो काम-क्रोध-लोभ सैनिकों की हैं।[२] इस अध्यात्म संग्राम रूपी 'वाज' का भी वह अधिपति है, नायक है। वह ऐश्वर्यों का मूर्धा भी है, सब भौतिक और आध्यात्मिक ऐश्वर्यों का वह मूर्धाभिषिक्त राजा है। वह 'कवि' भी है, वेदकाव्य का कवि और क्रान्तद्रष्टा है, दूरदर्शी है।

आओ, हम सब मिलकर उस परमेशरूप अग्निदेव के गुण-कर्मों को स्मरण करते हुए उसका जयगान करें।

पाद-टिप्पणियाँ

१. वाज=बल, संग्राम, निघं० २.९, २.१७।

२. द्रष्टव्य : भगवद्गीता, अध्याय १६।

१०३. तेरी प्रशस्तियाँ भद्र हों

ऋषिः परमेष्ठी। देवता अग्निः। छन्दः निचृद् आर्षी उष्णिक्।

भद्राऽउत प्रशस्तयो भद्रं मनः कृणुष्व वृत्रतूर्ये।
येना समत्सु सासहः ॥

—यजु० १५।३९

हे वीर! तू (**वृत्रतूर्ये**[१]) पापी के वध में (**मनः**) मन को (**भद्रं कृणुष्व**[२]) भद्र रख, (**येन**) जिस मन से तू (**समत्सु**[३]) युद्धों में (**सासहः**) अतिशय पराजयकर्ता [होता है]।

हे वीर! तू पापी का वध करने के लिए क्यों प्रवृत्त हुआ है? तेरा उद्देश्य तो पाप का वध करना है। यदि पापी का वध किये बिना पाप का वध हो सके, तो क्या यह मार्ग तुझे स्वीकार नहीं है? प्रेम से या साम, दान, भेद रूप उपायों से भी तो पापी के हृदय को शुद्ध और निष्पाप किया जा सकता है। हाँ, यदि इस प्रकार के सभी उपाय निष्फल हो जाएँ, तब पापी से संघर्ष करना, युद्ध करना, उसे पराजित करना, दण्डित करना या उसका समूल नाश कर देना भी अनिवार्य हो सकता है। याद रख, वृत्रतूर्य में भी, पापी के साथ संग्राम में भी अपने मन को भद्र ही रखना है, मन को क्रोध, विद्वेष आदि से अभद्र या मलिन करके उससे युद्ध नहीं करना है। युद्ध में यही भावना रखनी है कि यदि शत्रु पाप करना छोड़कर धर्ममार्ग पर आ जाता है, हम-जैसा भद्र बन जाता है, तो युद्ध बन्द करके उससे सन्धि करनी अधिक उचित है।

संग्राम में विजयी होने के अनन्तर जो तेरा स्वागत हो, कविजन तेरे लिए प्रशस्तिगीतियाँ रचें, वे भी भद्र ही होनी चाहिएँ। उनमें तेरी शूरता का, अग्रगामिता का, शत्रुदल के

छक्के छुड़ा देने का, शत्रुसेना को आगे बढ़ने देने से रोक कर पीछे खदेड़ देने आदि का ही वर्णन होना चाहिए। उसमें तेरी इस यद्धनीति की चर्चा होनी चाहिए कि शत्रु ने जब अपनी हार मानकर शस्त्र नीचे रख दिये, तब तूने भी युद्ध बन्द करके उनके साथ भद्रता का व्यवहार किया। ऐसा प्रशस्तिगान नहीं होना चाहिए कि कुछ ही शत्रुओं को कैद करके या मारकर भी युद्ध जीता जा सकता था, फिर भी तूने समस्त शत्रुओं का उच्छेद कर डाला। यदि तेरी ऐसी प्रशस्ति होती है कि एक भी शत्रु का वध किये बिना तूने युद्ध जीत लिया, तो हमें तुझ पर गर्व होगा। यदि शत्रु भी तेरी जय बोलते हुए तेरे स्वागत में हमारे साथ सम्मिलित होंगे, तो हम तुझे राजनीतिविशारद कहकर तेरा अभिनन्दन करेंगे।

तेरा मन जहाँ उत्साही, शत्रुविजय के प्रति आशावादी होगा, वहाँ शत्रु के प्रति यदि भद्र और उदार भी होगा, तो तू शत्रुओं को भी अपना मित्र बना सकेगा। जा, युद्ध में अग्रसर हो, सफल संग्रामकर्ता के रूप में प्रशस्ति प्राप्त कर।

पाद-टिप्पणियाँ

१. वृत्रतूर्य=संग्राम। निघं० २.१७

२. कृणुष्व, कृवि हिंसाकरणयोः, भ्वादिः।

३. समत्=संग्राम। निघं० २.१७

४. सासहः अतिशयेन सोढा—द०। षह अभिभवे, छान्दस।

१०४. पृथिवी के पृष्ठ पर जो द्युति पा रहा है

ऋषिः परमेष्ठी। देवता अग्निः। छन्दः स्वराड् आर्षी त्रिष्टुप्।

आ वाचो मध्यमरुहद् भुरण्युरयमग्निः सत्पतिश्चेकितानः।
पृष्ठे पृथिव्या निहितो दविद्युतदधस्पदं कृणुतां ये पृतन्यवः॥

—यजु० १५।५१

(**भुरण्युः**[१]) राष्ट्र का भरण-पोषण करनेवाला (**अयम् अग्निः**) यह वीर राजा (**वाचः मध्यम् अरुहत्**) वाणी के मध्य में आरूढ़ हो गया है, अर्थात् वाणी से स्तुति पा रहा है। यह वीर राजा (**सत्पतिः**) सज्जनों का रक्षक है, (**चेकितानः**[२]) विज्ञानवान् है, (**पृथिव्याः पृष्ठे निहितः**) राष्ट्रभूमि के पृष्ठ पर आसीन किया हुआ, (**दविद्युतद्**[३]) द्युतिमान् होता हुआ (**अधस्पदं कृणुतां**) पैरों तले कर दे (**ये पृतन्यवः**[४]) जो सेना लेकर चढ़ाई करनेवाले हैं उन्हें।

आओ, हर्ष मनायें, उत्सव करें, हमारे राजा ने राजसिंहासन पर आरोहण किया है। राजा कोई छोटी-सी हस्ती नहीं है, वह है हमारे विशाल राष्ट्र का प्रभुतासम्पन्न महानायक। वह 'भुरण्यु' है, प्रजा का भरणपोषणकर्ता है, राष्ट्र को सब ऐश्वर्यों से भरपूर करके उन्नति के चरम सोपान पर ले जानेवाला है। वह 'अग्नि' है, जलता हुआ विद्युद्दीप है, जो सर्वत्र प्रकाश पहुँचाता है और अभिमान, मोह आदि के महान्धकार को दूर करके अन्धियारे कोनों में छिपे निशाचरों को मार भगाता है, वह राष्ट्र के यज्ञकुण्ड में ऊँची-ऊँची ज्वालाओं से लहराता हुआ यज्ञाग्नि है, जो राष्ट्र के सम्पूर्ण वातावरण को सुगन्धित कर देता है। वह अधीनस्थ राजाओं को अपनी परिक्रमा करवानेवाला 'महासूर्य' है, जो अपने किरणजाल से चारों ओर

के तमःस्तोम को उज्ज्वल प्रकाश में बदल देता है। आज वह जन-जन की वाणी का विषय बन गया है। सर्वत्र उसी की चर्चा है, उसी के गीत गाये जा रहे हैं, उसी की गुणावलि का बखान हो रहा है, उसी की वीरता-क्षमता-राजनीतिज्ञता का अवलोकन हो रहा है। यह हमारा राजाधिराज 'सत्पति' है, सज्जनों का रक्षक है, सहायक है, उन्हें सब सुविधाएँ देकर ऊँचा उठानेवाला है और दुर्जनों को या तो सज्जनों में परिणत कर देता है, अन्यथा उन्हें दण्डित करता है। यह हमारी आँखों का तारा राजा 'चेकितान' है, विज्ञानवान् है, अतएव राष्ट्र को भी ज्ञान-विज्ञान की दृष्टि से सर्वोन्नत करनेवाला है। इसके आधिपत्य में राष्ट्र में कोई भी नर-नारी अशिक्षित नहीं रहेगा। हमारा राष्ट्र सब विद्याओं से भरपूर होगा। नवीन-नवीन आविष्कार होंगे, कल-कारखानों का निर्माण होगा, शिल्प चरमोन्नति करेगा। कृषि की हरियाली लहरायेगी। हमारे देश का निर्माण-विभाग वस्तुओं को दूसरे देशों में निर्यात करेगा। शास्त्र-विज्ञान के साथ देश का शस्त्रविज्ञान भी बढ़ेगा, स्वरक्षा के लिए रक्षक और संहारक शस्त्रास्त्रों से भी हमारे सैनिक संनद्ध होंगे। हमारा राजा 'द्युतिमान्' है, आदित्य की ज्योति से भासमान है। कोई भी हमारे राष्ट्र को कुदृष्टि से नहीं देख सकेगा। हमारे राजा और राष्ट्र की द्युति से संत्रस्त होकर कोई हमसे शत्रुता करने का साहस नहीं कर सकेगा। फिर भी यदि कोई शत्रु आकर सेना से हम पर आक्रमण करना चाहेगा, तो पैरों तले रौंद दिया जाएगा। हम विजयी होंगे। हम गर्व करते हैं अपने महामहिम सम्राट् पर। जय हो हमारे इस भुरण्यु, सत्पति, चेकितान, द्युतिमान् वीर सम्राट् की, जय हो हमारे विशाल, उन्नत राष्ट्र की।

पाद-टिप्पणियाँ

१. भुरण धारणपोषणयोः। कण्ड्वादित्वाद् यक्, ततः उः।
२. किती संज्ञाने। लिटः कानच्।
३. द्युत दीप्तौ। दाधर्तिदर्धर्ति० पा० ७.४.६५ से यङ्-लुगन्त, शतृप्रत्ययान्त निपातित।
४. पृतनां सेनाम् आत्मनः इच्छुः पृतन्युः, ते पृतन्यवः।

१०५. जननायक को उद्बोधन

ऋषिः परमेष्ठी। देवता अग्निः। छन्दः निचृद् आर्षी त्रिष्टुप्।

अयमग्निर्वीरतमो वयोधाः सहस्त्रियो द्योततामप्रयुच्छन्।
विभ्राजमानः सरिरस्य मध्यऽउप प्र याहि दिव्यानि धाम॥

—यजु० १५।५२

(**अयम् अग्निः**) यह जननायक (**वीरतमः**) सर्वाधिक वीर, (**वयोधाः**) दूसरों के जीवनों को धारण करनेवाला, (**सहस्त्रियः**) अकेला सहस्त्र के तुल्य (**अप्रयुच्छन्**[२]) प्रमाद न करता हुआ (**द्योतताम्**) चमके। हे वीर! (**सरिरस्य**[३] **मध्ये**) जनसागर के बीच (**विभ्राजमानः**) देदीप्यमान होता हुआ तू (**दिव्यानि धाम**[४]) दिव्य धामों अर्थात् यशों को (**उप प्र याहि**) प्राप्त कर।

जननायक को वेद में अग्नि कहा गया है, क्योंकि वह जनों का अग्रणी या अग्रनेता होता है और अग्नि के समान जाज्वल्यमान, तेजस्वी तथा ऊर्ध्वगामी होता है। हमारा जननायक 'वीरतम' है, सर्वाधिक वीर है। वह शरीर से भी वीर है, मन से भी वीर है, आत्मा से भी वीर है। वह 'वयोधाः' है, असहायों के जीवनों को सहारा देनेवाला है। वह 'सहस्त्रिय' है, अकेला सहस्त्र के बराबर है। जब शत्रु से रण ठनता है या समाज पर कोई अन्य विपदा आती है, तब वह सहस्त्र विरोधियों से लोहा ले सकता है। परन्तु इन महान् गुणों से युक्त भी जननायक यदि प्रमादी हो जाए, तो ये सब गुण व्यर्थ हो जाते हैं। अतः हम चाहते हैं कि हमारा जननायक कभी प्रमाद न करता हुआ, सदा अपने कर्त्तव्य का पालन करता हुआ द्युतिमान् बना रहे। प्रमाद कालिमा है, कर्त्तव्यपालन

ज्योति है। प्रमाद की कालिमा से काला होकर मनुष्य अपनी द्युति खो बैठता है।

हे जननायक! तुम 'सलिल' के मध्य खड़े हो। सलिल पानी को कहते हैं। जब अग्निस्तम्भ पानी के बीच में खड़ा होता है तब लहर-लहर में उसकी छवि दिखायी देती है। तुम भी पानी के बीच खड़े के समान हो, क्योंकि यह जन-सागर तुम्हारे चारों ओर हिलोरें ले रहा है। यह जन-सागर तुम्हारी मित्रभूत प्रजाओं का भी हो सकता है और शत्रु-जनों का भी। मित्रों के मध्य ज्योतिस्तम्भ के समान खड़े तुम जन-जन पर अपनी आभा बखेरो, जन-जन को अपनी ज्योति से द्योतित करो। शत्रुओं के मध्य ज्योतिस्तम्भ के समान खड़े हुए तुम उनके तेज को म्लान करो। हे जननायक! तुम अपने नेतृत्व द्वारा प्रजा का सङ्कटों से उद्धार कर दिव्य धामों को, अलौकिक यशों को प्राप्त करो। प्रजा तुम्हें पुकार रही है। आओ, स्वयं सङ्कट मोल लेकर प्रजा को सङ्कट से छुड़ाओ। राष्ट्र एक होकर तुम्हारा जयजयकार करेगा।

पाद-टिप्पणियाँ

१. सहस्रेण संमितः तुल्यः सहस्त्रियः। 'सहस्रेण संमितौ घः' पा० ४.४.१३५, सहस्र शब्द से तुल्य अर्थ में घ=इय प्रत्यय।
२. युछी प्रमादे-शतृ। न प्रयुच्छन्=अप्रयुच्छन्।
३. सरिर=सलिल=जल। निघं० १.१४। सलिल बहु-वाचक भी है, निघं० ३.१।
४. दिव्यानि धाम=दिव्यानि धामानि। 'शेश्छन्दसि बहुलम्' पा० ६.१.७० से शि का लोप। धामानि त्रयाणि भवन्ति, स्थानानि नामानि जन्मानीति—निरु० ९.२२।

१०६. उठ, जाग

ऋषिः परमेष्ठी। देवता अग्निः। छन्दः आर्षी त्रिष्टुप्।

उद्बुध्यस्वाग्ने प्रति जागृहि त्वमिष्टापूर्ते सꣳसृजेथामयं च।
अस्मिन्त्सधस्थेऽअध्युत्तरस्मिन् विश्वे देवा यजमानश्च सीदत॥

—यजु० १५।५४

हे **(अग्ने)** अग्रासन पर स्थित यजमान! तू **(उद् बुध्यस्व)** उद्बुद्ध हो, **(प्रति जागृहि[१])** जाग जा। **(त्वम् अयं च)** तू और यह यज्ञाग्नि मिलकर **(इष्टापूर्ते[२])** इष्ट और पूर्त को **(संसृजेथाम्)** करो। **(अस्मिन् उत्तरस्मिन् सधस्थे[३] अधि)** इस उत्कृष्ट सहमण्डप में **(देवाः)** हे विद्वानो! तुम **(यजमानः च)** और यजमान **(सीदत)** बैठो।

हे विद्वन्! हे अग्रासन पर स्थित यजमान! तू यज्ञ करने बैठा है, यज्ञकुण्ड में अग्नि प्रज्वलित कर रहा है। जैसे अप्रकाशित दीपशलाकाओं की रगड़ से या उत्तरारणि और अधरारणि के संघर्षण से प्रकाशमान अग्नि प्रज्वलित हो जाती है, वैसे ही तू भी अपने अन्दर विद्याज्योति को जगा। अपने आत्मा से प्रणव-जप का संघर्षण करके दिव्य प्रकाश को उत्पन्न कर। अविद्या की निद्रा को त्याग दे, जाग उठ। तू और यह यज्ञाग्नि मिलकर इष्ट तथा पूर्त का सम्पादन करें। 'इष्ट' शब्द इच्छार्थक इषु धातु से बनता है और देवपूजा, सङ्गतिकरण तथा दान अर्थवाली यज धातु से भी निष्पन्न होता है। अतः 'इष्ट' का अर्थ होता है अभीष्ट सुख, विद्वानों का सत्कार, ईश्वर की आराधना, सन्तों का संग, सत्य विद्यादि का दान। अतः इष्ट सम्पादन करने का आशय होता है कि यजमान को उचित है कि वह यज्ञवेदि में यज्ञाग्नि को प्रदीप्त करके अभीष्ट सुख प्राप्त करने का यत्न करे, अपने से बड़े विद्वानों का

सत्कार करे, ईश्वर की आराधना करे, सत्सङ्गति करे और परोपकार के लिए तन-मन-धन का दान करे। 'पूर्त' शब्द पालन-पूरणार्थक पृ धातु का रूप है। इसका अर्थ होता है, पूर्ण विद्याध्ययन, पूर्ण ब्रह्मचर्य, पूर्ण यौवन, पूर्ण साधन-उपसाधन आदि। अतः पूर्त सम्पन्न करने का आशय है कि यजमान पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन करे, शक्ति से परिपूर्ण खरा यौवन प्राप्त करे, उन्नति के सब साधन-उपसाधनों को संगृहीत करके भौतिक तथा आत्मिक उत्थान का प्रयास करे। यज्ञ करने के लिए यजमान अकेला ही यज्ञमण्डप में नहीं बैठता है, उसके साथ उसका परिवार, साथी-संगी तथा अन्य यज्ञप्रेमी जन भी बैठते हैं। 'सधस्थ' का अर्थ है यज्ञमण्डप, जिसमें एक साथ बहुत से लोग सुविधापूर्वक बैठ सकें। सधस्थ का विशेषण मन्त्र में 'उत्तरस्मिन्' दिया है, जिससे सूचित होता है कि यज्ञ-मण्डप सुसज्जित, सज-धज से युक्त तथा सामूहिक यज्ञ के वातावरण से परिपूर्ण होना चाहिए। उस यज्ञमण्डप में विद्वज्जन, यजमान, यजमान-पत्नी, होता, उद्गाता, अध्वर्यु, ब्रह्मा एवं मन्त्रपाठी आदि सब लोग श्वेत वस्त्र धारण करके पवित्र भावना के साथ बैठें। सबके सुनियन्त्रित रूप में बैठ जाने के पश्चात् यज्ञ प्रारम्भ होता है। मन्त्रोच्चारण तथा सब विधि-विधान सम्पन्न होते हैं, पूर्णाहुति प्रदान की जाती है, यजमानों को आशीर्वाद दिया जाता है, ब्रह्मा का उपदेश होता है और यज्ञशेष रूप में यज्ञ का प्रसाद लेकर यज्ञभावना से भावित और संस्कृत होकर यज्ञप्रेमी जन अपने-अपने घरों को जाते हैं। अन्यत्र जाकर भी वे यज्ञ के वातावरण से चिरकाल तक प्रभावित रहते हैं। आइये, हम भी यज्ञ रचा कर उसका लाभ प्राप्त करें।

पाद-टिप्पणियाँ

१. (प्रतिजागृहि) अविद्यानिद्रां त्यक्त्वा विद्यया चेत—द०।

२. (इष्टापूर्ते) इष्टं सुखं विद्वत्सत्करणम् ईश्वराराधनं सत्सङ्गतिकरणं सत्यविद्यादिदानं पूर्णं बलं ब्रह्मचर्यं विद्यालङ्करणं पूर्णं यौवनं पूर्णं साधनोपसाधनं च—द०।

३. सह तिष्ठन्ति जना यत्र स सधस्थः। सह-स्था, सह को सध आदेश।

१०७. विदुषी शिक्षामन्त्री

ऋषिः परमेष्ठी। देवता विदुषी। छन्दः ब्राह्मी बृहती।

प॒र॒मे॒ष्ठी त्वा॑ सादयतु दि॒वस्पृ॒ष्ठे ज्योति॑ष्मतीम्।
विश्व॑स्मै प्रा॒णाया॑पा॒नाय॑ व्या॒नाय॒ विश्वं॒ ज्योति॑र्यच्छ।
सूर्य॒स्तेऽधि॑पति॒स्तया॑ दे॒वत॑याऽङ्गि॒र॒स्वद् ध्रु॒वा सी॑द॥

—यजु० १५।५८

हे विदुषी! (**त्वा**) तुझे (**परमेष्ठी**[१]) प्रधानमन्त्री (**सादयतु**) प्रतिष्ठित करे (**दिवस्पृष्ठे**) ज्ञानप्रकाश के पृष्ठ शिक्षामन्त्री पद पर, (**ज्योतिष्मतीम्**) तुझ ज्योतिष्मती को, विद्याज्योति से जगमगानेवाली को, (**विश्वस्मै**) सबके लिए (**प्राणाय**) प्राणार्थ, (**अपानाय**) अपानार्थ, (**व्यानाय**) व्यानार्थ। तू (**विश्वं ज्योतिः**) समस्त विद्याज्योति को (**यच्छ**) नियन्त्रित कर। (**सूर्यः ते अधिपतिः**) सूर्य तेरा आदर्श है। (**तया देवतया**) उस देवता से (**अङ्गिरस्वद्**[२]) प्राणवती होकर तू (**ध्रुवा**) अपने पद पर स्थिर होकर (**सीद**) बैठ।

चुनाव में जो दल बहुमत से विजयी हुआ है, उसने अपने प्रधानमन्त्री का चयन कर लिया है। प्रधानमन्त्री अब अपने मन्त्रिमण्डल का गठन कर रहे हैं। शिक्षामन्त्री पद के लिए सबकी दृष्टि एक विदुषी देवी पर लगी हुई है। उसने शिक्षा की आराधना की है, ज्ञान की ज्योति अपने अन्दर जलायी है। दूसरों के अन्दर भी वे ज्ञान की ज्योति जलाना जानती हैं। वे वैदिक साहित्य और भारतीय संस्कृति की पुजारिन हैं। उस विद्या की सर्वोच्च उपाधि उनके पास है। वे शिक्षिका और प्राचार्या रह चुकी हैं। उनके महाविद्यालय की छात्राओं का परीक्षा-परिणाम शतप्रतिशत सर्वोन्नत रह चुका है। प्रबन्ध में

भी उन्होंने कुशलता अर्जित की है। साहित्य-सर्जन में भी अग्रणी रही हैं। राष्ट्रपति-सम्मान तथा अन्य अनेकों पुरस्कार एवं सम्मान प्राप्त कर चुकी हैं। विदेश का भी अनुभव उनके पास है। सबकी इच्छा है कि शिक्षामन्त्री का पद उन्हें मिले। प्रधानमन्त्री के पास उनके चयन के लिए शिष्टमण्डल का प्रस्ताव पहुँच चुका है। जनता का प्रतिनिधि विदुषी को कह रहा है—"हे देवी! हम सबकी अभिलाषा है कि प्रधानमन्त्री आपको शिक्षामन्त्री के पद पर आसीन करें, क्योंकि आप 'ज्योतिष्मती' हैं। ज्ञान की ज्योति, अध्यापनकला की ज्योति, सुप्रबन्ध की ज्योति आपके अन्दर जगमगा रही है। आपके द्वारा शिक्षाजगत् को प्राण प्राप्त होगा, राष्ट्र की प्रसुप्त शिक्षा जागरूक और सज्ञान हो उठेगी, देश में प्रत्येक जनपद में छात्रों और छात्राओं के विशिष्ट विद्याओं के विश्वविद्यालय और महाविद्यालय स्थापित होंगे। शिल्पकला, चिकित्सा, इंजीनियरिंग, कृषि, गृहविज्ञान आदि सभी विद्याओं को प्रोत्साहन मिलेगा। शिक्षाजगत् को 'प्राण' के साथ 'अपान' और 'व्यान' की भी आवश्यकता है। शिक्षा में जो दोष आ गये हैं, उनका निर्गमन 'अपान' द्वारा होगा। शिक्षा का व्यापक प्रसार 'व्यान' द्वारा होगा। आप शिक्षामन्त्री के पद पर आसीन होकर सकल ज्ञान-विज्ञान की शिक्षा को नियन्त्रित करें। प्राचीन भारतीय शिक्षाविदों के अनुभव से लाभ उठायें। विदेशी शिक्षाविदों ने जो शिक्षासूत्र दिये हैं, उन पर भी विचार करें कि वे कहाँ तक अपने देश में लागू हो सकते हैं। द्युलोक से प्रकाश के फब्बारे छोड़ता हुआ सूर्य आपका आदर्श है। जैसे वह विभिन्न लोकों के अन्धकार को मिटा कर प्रकाश का विस्तार करता है, वैसे ही आपको अज्ञान और अविद्या का अंधियारा हटा कर ज्ञान और विभिन्न विद्याओं के प्रकाश को प्रत्येक प्रदेश में फैलाना है। सूर्य से प्राणवती होकर आप शिक्षा का प्रसार करें। आपकी प्रजा में एक भी जन निरक्षर और अशिक्षित न रहे। आप अपने पद पर स्थिर होकर बैठें और शिक्षा के लिए समर्पित हो

जाएँ।

तभी घोषणा होती है कि प्रधानमन्त्री ने अमुक विदुषी को शिक्षामन्त्री का पद सौंपा है। उस विदुषी के नाम के जयकारे उठते हैं। न्यायाधीश उससे शिक्षा क्षेत्र में समर्पित रहने की तथा देश के प्रति सजग और सच्ची रहने की प्रतिज्ञा ग्रहण करवाते हैं। पुष्पमालाओं से उसका स्वागत होता है। शिक्षामन्त्री पद उस विदुषी से धन्य हो जाता है। विदुषी तुरन्त शिक्षा में क्रान्ति करने के लिए जुट जाती है।

पाद-टिप्पणियाँ

१. परमे स्थाने तिष्ठतीति परमेष्ठी प्रधानमन्त्री।

२. प्राणो वै अङ्गिराः, तद्वती यथा स्यात् तथा।

१०८. हे नारी! लोक सुधार, छिद्र भर

ऋषिः परमेष्ठी। देवता इन्द्राग्नी बृहस्पतिश्च। छन्दः विराड् आर्षी अनुष्टुप्।

लो॒कं पृ॑ण छि॒द्रं पृ॑णाथो॑ सीद ध्रु॒वा त्वम्।
इ॒न्द्रा॒ग्नी त्वा॒ बृह॒स्पति॑र॒स्मिन् योना॑वसीषदन्॥

—यजु० १५।५९

हे नारी[1]! (**लोकं पृण**[2]) इहलोक और परलोक को सुधार, (**छिद्रं पृण**) छिद्रों एवं न्यूनताओं को भर (**अथो**) और (**त्वम्**) तू (**ध्रुवा सीद**) स्थिरमति होकर रह। (**त्वा**) तुझे (**इन्द्राग्नी**) इन्द्र और अग्नि ने (**बृहस्पतिः**) और बृहस्पति ने (**अस्मिन् योनौ**[3]) इस घर में, इस पद पर (**असीषदन्**[4]) स्थित किया है।

हे वैदिक नारी! तेरे ऊपर अपना, अपने घर का और नारी-समाज का गुरुतर भार निहित है। तुझे अपने, अपने घर के और नारी-समाज के इहलोक और परलोक का सुधार करना है। प्रथम तो तू आत्मनिरीक्षण कर। अपने में, अपने घर में और नारी-समाज में यदि कोई त्रुटियाँ दिखायी देती हैं, छिद्र प्रतीत होते है, तो तू उन त्रुटियों को दूर कर, छिद्रों को भर। यदि तुझमें ज्ञान की कमी है या विपरीत ज्ञान है, तो ज्ञानपूर्ति और ज्ञानसंशोधन में लग जा। ज्ञान की कमी और विपरीत ज्ञान के कारण उचित कर्म भी नहीं हो पाते। अतः जब तू ज्ञानपूर्ति और ज्ञानसंशोधन कर लेगी, तब तेरे कर्मों की पूर्ति और कर्मों का संशोधन स्वयमेव होने लगेगा। तेरा जीवन आदर्श होना चाहिए, तेरे घर का वातावरण आदर्श होना चाहिए और तू जिस नारी-समाज से संबद्ध है, उस नारी-समाज का चरित्र आदर्श होना चाहिए।

तेरा यह भी कर्त्तव्य है कि तू 'ध्रुवा' अर्थात् स्थिरमति और स्थिर कर्मोंवाली बने। प्रथम तो तेरे मन में अपने कर्त्तव्यपालन के प्रति स्थिरता और दृढ़ता होनी चाहिए। जब तू निर्धारित कर्मों, आयोजनाओं, समितियों, सुधारों के प्रति पर्वत-जैसी 'ध्रुव' और अविचल हो जाएगी, तब कोई तुझे कर्त्तव्यच्युत नहीं कर सकेगा। तब तेरी निर्धारित योजनाएँ सफल होंगी। तब तू स्वयं, तेरा घर और तेरा नारी-समाज निश्चय ही समुन्नत होंगे।

तुझे स्मरण रखना चाहिए कि तेरे इस घर में तुझे किसने बैठाया है, तुझे इन्द्र, अग्नि और बृहस्पति ने इस घर में या इस प्रतिष्ठित पद पर अभिषिक्त किया है। इन्द्र क्षत्रियों का प्रतिनिधि है, अग्नि वैश्यों का प्रतिनिधि है, बृहस्पति ब्राह्मणों का प्रतिनिधि है। तीनों ने मिलकर तुझे ध्रुवा बनाकर लोकपूर्ति, और छिद्रपूर्ति का कार्य सौंपा है। उसे तू दृढ़ता के साथ पूर्ण कर। तेरे लिए यह वेद का सन्देश है।

पाद-टिप्पणियाँ

१. कर्मकाण्ड में इस कण्डिका का विनियोग गार्हपत्य अग्नि की वेदि में इष्टकाओं के उपधान के लिए किया गया है। तदनुकूल ही उवट एवं महीधर का भाष्य है। दयानन्दभाष्य में व्याख्या नारीपरक है।
२. पृ पालनपूरणयो, क्र्यादिः, लोट्।
३. योनि=घर, नि० ३.४
४. षद्लृ, णिच्, लुङ् चङ्।

१०९. अस्त्र-शस्त्र को रक्षक बना, भक्षक नहीं

ऋषिः परमेष्ठी कुत्सो वा। देवता रुद्रः। छन्दः विराड् आर्षी अनुष्टुप्।

यामिषुं गिरिशन्त हस्ते बिभर्ष्यस्तवे ।
शिवां गिरित्र तां कुरु मा हिंसीः पुरुषं जगत् ॥

—यजु० १६।३

(**याम् इषुम्**) जिस बाण को, जिस अस्त्र-शस्त्र को (**गिरिशन्त**) हे उच्च पद पर स्थित होकर शान्ति का विस्तार करनेवाले नायक! तू (**अस्तवे**[१]) शत्रु पर छोड़ने के लिए (**हस्ते बिभर्षि**) हाथ में धारण किये है (**ताम्**) उस बाण या अस्त्र-शस्त्र को (**गिरित्र**) हे पर्वत पर स्थित होकर रक्षा करनेवाले! तू (**शिवां कुरु**) शिव बना। (**मा हिंसीः**) मत हिंसा कर (**पुरुषं**) पुरुषों की, और (**जगत्**) जगत् की।

इस मन्त्र का देवता 'रुद्र' है। रुद्र से यहाँ सेनापति का ग्रहण है। सेनापति के दो कार्य होते हैं, प्रथम शत्रुओं पर बाणवर्षा करके उन्हें रुलाना, द्वितीय स्वपक्ष के वीरों के रोदन, हाहाकार आदि को दूर करना।[२] रुद्र को यहाँ 'गिरिशन्त' और 'गिरित्र' दो विशेषणों से स्मरण किया गया है। भाष्यकार उवट की व्याख्यानुसार रुद्र 'गिरिशन्त' इस कारण है कि वह कैलास गिरि पर अवस्थित होकर सुख का विस्तार करता है[३], और उसे 'गिरित्र' इस हेतु से कहा गया है कि वह कैलास पर्वत पर स्थित होकर अपने भक्तों का त्राण करता है।[४] परन्तु सेनापति तो कैलास पर्वत पर रहता नहीं है। युद्ध करने के लिए ऊँचाई पर स्थित होकर शत्रुओं पर बाण आदि की वर्षा करना सुविधाजनक होता है, अतः किसी भी पर्वत पर स्थित होकर शत्रुओं पर अस्त्रों की वर्षा करके उन पर विजय प्राप्त कर स्वपक्ष को सुख देता है और पहाड़ पर चढ़ कर स्वपक्ष

का त्राण करता है, इस कारण सेनापति को 'गिरिशन्त' और 'गिरित्र' कहा गया है।[५]

रुद्र सेनापति को सम्बोधन करके कहा है कि जिस बाण को छोड़ने के लिए तूने हाथ में पकड़ा हुआ है, उसे शिव बना। युद्ध में काम आनेवाले बाण सभी अस्त्रों के प्रतीक हैं। तात्पर्य यह है कि हमने शत्रु से लड़ने के लिए जो अस्त्र-शस्त्र सुसज्जित कर रखे हैं, उनसे तू जगत् का संहार न करके जगत् की रक्षा कर। युद्ध का उद्देश्य यह नहीं है कि सबको धराशायी करके भूमि को जनशून्य कर दिया जाए। वैदिक सेनापति का कर्त्तव्य यह है कि हत्या कम से कम शत्रुओं की हो और विजय प्राप्त हो जाए। शत्रु हमारा लोहा मानकर हमसे सन्धि कर ले, हमारे राष्ट्र में सम्मिलित हो जाए और हमारी सर्व जगत् को सुखी रखने की नीति का पालन करने लग जाए। "मा हिंसीः पुरुषं जगत्', पुरुषों का और जगत् का संहार मत कर।" इस वैदिक उद्‌बोधन में विश्वशान्ति का दूरदर्शितापूर्ण सूत्र छिपा हुआ है। जगत् का संहार लक्ष्य नहीं है, लक्ष्य है शान्ति का साम्राज्य। युद्ध तो शत्रु को राह पर लाने के लिए एक विवशता है। युद्ध टाला जा सके तो और भी अच्छा है।

पाद-टिप्पणियाँ

१. असु क्षेपणे, तुमर्थ में तवेन् प्रत्यय।
२. रोदयति शत्रूनिति रुद्रः, यद्वा स्ववीराणां रुतः रोदनपीडाहाहाकारादीन् द्रावयतीति रुद्रः।
३. गिरौ पर्वते ऽ वस्थितः कैलासाख्ये शं सुखं तनोतीति गिरिशन्तः—उवट।
४. गिरौ कैलासाख्ये ऽ वस्थितः त्रायते भक्तानिति गिरित्रः—उवट।
५. गिरौ पर्वते ऽ वस्थितः स्वपक्षस्य शं सुखं तनोतीति गिरिशन्तः। गिरौ पर्वते ऽ वस्थितः स्वपक्षं त्रायते इति गिरित्रः।

११०. राष्ट्राध्यक्षों के प्रति आदर

ऋषिः कुत्सः । देवता रुद्रः । छन्दः निचृद् अतिधृतिः ।

नमो हिरण्यबाहवे सेनान्ये दिशां च पतये नमो नमो वृक्षेभ्यो हरिकेशेभ्यः पशूनां पतये नमो नमः शष्पिञ्जराय त्विषीमते पथीनां पतये नमो नमो हरिकेशायोपवीतिने पुष्टानां पतये नमः ॥

—यजु० १६।१७

(**नमः**) नमस्कार हो (**हिरण्यबाहवे सेनान्ये**) हिरण्यबाहु सेनापति को। (**दिशां च पतये नमः**) और दिक्पाल को भी नमस्कार हो। (**नमः हरिकेशेभ्यः वृक्षेभ्यः**) नमस्कार हो हरे पत्ते रूपी केशोंवाले वृक्षों अर्थात् वृक्षाधिपतियों को। (**पशूनां पतये नमः**) पशुओं के रक्षक को नमस्कार हो। (**नमः त्विषीमते शष्पिञ्जराय**[1]) नमस्कार हो पशुप्रदर्शनी में नियुक्त, पशुओं के पिंजरे खोलनेवाले दीप्तिमान् अध्यक्ष को। (**पथीनां पतये नमः**) मार्गों के रक्षक को नमस्कार हो। (**नमः**) नमस्कार हो (**हरिकेशाय उपवीतिने**) यज्ञोपवीत की तरह हरे पट्टे को धारण करनेवाले (**पुष्टानां पतये**) पहलवानों के अध्यक्ष को।

किसी भी राष्ट्र के सफल सञ्चालन के लिए मुख्य अधिकारियों के अतिरिक्त प्रत्येक विभाग के अध्यक्ष नियुक्त किये जाते हैं। प्रजाजनों को इन विभागाध्यक्षों के प्रति उचित आदरभाव प्रकट करना चाहिए। उन विभागाध्यक्षों का उनके कर्त्तव्यपालन के लिए कृतज्ञ भी होना चाहिए। प्रस्तुत मन्त्र में राष्ट्र के कतिपय विभागाध्यक्षों के प्रति 'नमः' कहा गया है। 'नमः' में नमन, कृतज्ञता, आदरभाव, साधुवाद, धन्यवाद, आशीर्वाद आदि सब आ जाता है। **'नमो हिरण्यबाहवे**

सेनान्ये'—जिसने अपने बाहु पर सुनहरा पट्टा धारण किया हुआ है, उस सेनापति को हमारा नमस्कार है। वह सेनापति ही अपने सैनिकों की सहायता द्वारा शत्रुओं से हमारी रक्षा करता है, हमें अभयदान देता है, क्षत-विक्षत और असहाय होने की हमारी चिन्ताओं से हमें मुक्त करता है। **'दिशां च पतये नमः'**—प्रत्येक दिशा में दिक्पाल के रूप में नियुक्त अध्यक्ष को हमारा नमस्कार है। शत्रु गुप्त रूप से किसी भी दिशा से हम पर आक्रमण कर सकता है। उस दिशा का दिक्पाल यदि सतर्क है, तो तुरन्त वह उसकी सूचना सेनाध्यक्ष को देता है, जिससे वह दल-बल के साथ आकर शत्रु से लोहा लेता है और उसे पराजित कर राष्ट्र की रक्षा करता है। दिक्पाल के साथ कुछ सैनिक भी रहते हैं, वे भी शत्रु का मुकाबला करते हैं। **'नमो वृक्षेभ्यो हरिकेशेभ्यः'** हरित पत्र रूप जिनके केश हैं, ऐसे वृक्षों को नमस्कार। यहाँ वृक्षों से लक्षणा द्वारा वृक्षरक्षक अध्यक्ष गृहीत होते हैं। **'पशूनां पतये नमः'**—पशुरक्षक अध्यक्ष को हमारा नमस्कार। जङ्गल के पशु हाथी, शेर, चीता, मृग आदियों का शिकार करना अपराध माना जाता है। उनकी रक्षा के लिए अध्यक्ष नियुक्त होते हैं। सचेत रहने के लिए हम उन्हें धन्यवाद और आदर देते हैं। **'नमः शष्पिञ्जराय त्विषीमते'** पशुप्रदर्शनी में रखे गये सिंह, व्याघ्र आदि विविध पशुओं के पिंजरे खुलवानेवाले दीप्तिमान् अध्यक्ष को नमस्कार। चिड़ियाघर में विविध पशु-पक्षी प्रदर्शनार्थ रखे जाते हैं। उनमें हिंसक जन्तु पिंजरे में बन्द रहते हैं। जब कभी उन्हें पिंजरे से बाहर निकालना होता है, तब एक अधिकारी की निगरानी में कोई नियुक्त पुरुष पिंजरे को खोलता है। यह कार्य जिसकी अध्यक्षता से होता है, वह बहुत दीप्तिमान् (**त्विषीमान्**) पुरुष होता है। कभी हिंसक पशु बिगड़कर पिंजरा खोलने-खुलवाने वाले की जान भी ले सकते हैं। ऐसे साहसी अध्यक्ष को भी हमारा नमस्कार। **'पथीनां पतये नमः'** मार्गरक्षक को हमारा नमस्कार। मार्गों में दुर्घटना

आदि रोकने के लिए मार्गरक्षक नियुक्त किये जाते हैं, उनके अध्यक्ष के प्रति भी हम आदर प्रदर्शित करते हैं। '**पुष्टानां पतये नमः**'—फिर हम पुष्टों अर्थात् पहलवानों के अधिपति को भी नमस्कार करते हैं। पहलवान लोग जिसके संयोजकत्व में अखाड़ा खोद कर पहलवानी, व्यायाम, मलखम्भ आदि करते हैं, उसके प्रति भी हम आदर दर्शाते हैं। वह संयोजक 'हरिकेश उपवीती' होता है, अर्थात् उसने हरित वर्ण का पट्टा यज्ञोपवीत की तरह धारण किया होता है।

मन्त्रोक्त सब अधिपतियों का तथा इनसे भिन्न अन्य अधिपतियों का भी सम्मान करना उचित है, क्योंकि ये अपने-अपने विभागों का पालन करते हैं।

पाद-टिप्पणी

१. शष्पिञ्जराय शङ् उत्प्लुतं पिञ्जरं बन्धनं येन तस्मै—द०। शश प्लुतगतौ, भ्वादिः।

१११. सब हृष्टपुष्ट और नीरोग रहें

ऋषिः परमेष्ठी प्रजापतिः अथवा देवाः। देवता रुद्रः।
छन्दः आर्षी जगती।

इमा रुद्राय तवसे कपर्दिने क्षयद्वीराय प्र भरामहे मतीः।
यथा शमसद् द्विपदे चतुष्पदे विश्वं पुष्टं ग्रामेऽअस्मिन्ननातुरम्॥

—यजु० १६।४८

(तवसे) बल और वृद्धि देनेवाले, **(कपर्दिने)** वायुरोग को दूर करनेवाले, **(क्षयद्वीराय)** वीरों को निवास देनेवाले **(रुद्राय)** रोगनाशक वैद्य के लिए **(इमाः मतीः)** इन प्रशस्तियों तथा प्रज्ञाओं को **(प्रभरामहे)** हम प्रकृष्टरूप से लाते हैं, **(यथा)** जिससे **(द्विपदे चतुष्पदे)** द्विपाद् मनुष्यों और चतुष्पात् पशुओं के लिए **(शम् असत्)** सुख होवे। **(अस्मिन् ग्रामे)** इस ग्राम में **(विश्वं)** सब कोई **(पुष्टं)** हृष्टपुष्ट और **(अनातुरं)** नीरोग **(असत्)** होवे।

वेद में रुद्र कई अर्थों में प्रयुक्त हुआ है—परमेश्वर, प्राण, सेनापति, आचार्य आदि। इसका एक अर्थ वैद्यराज भी है। वेद में रुद्र को 'भिषजों में भिषक्तम' कहा गया है[१]। पीड़ादायक रोगों को दूर करने के कारण वैद्य को रुद्र कहते हैं[२]। मन्त्र में रुद्र के तीन विशेषण दिये गये हैं। प्रथम 'तवसे' विशेषण गतिवृद्धिहिंसार्थक णिजन्त 'तु' धातु से असुन् प्रत्यय करने पर चतुर्थी विभक्ति प्रथम पुरुष का रूप है। वैद्य रोगशय्या पर पड़े रोगी को चलने-फिरने योग्य करता है, उसकी वृद्धि-पुष्टि करता है, उसके रोग-कीटाणुओं को नष्ट करता है। निघण्टु में 'तवस्' शब्द बलवाचक है[३]। वैद्य चिकित्सा-शक्ति से सम्पन्न होता है, निर्बल रोगी को बल देता है। दूसरा विशेषण 'कपर्दी' है। अधिकतर रोग वायुविकार से होते हैं। वायुरोग

को निस्सारण करने के कारण वैद्य को 'कपर्दी' कहते हैं।[४] कपर्द जटाजूट को भी कहते हैं, जटाजूट को धारण करने के कारण वैद्य 'कपर्दी' कहलाता है।[५] जटाजूट धारण करने से उसके मस्तिष्क में विशेष शक्ति आती है, जिसका उपयोग वह मानसिक रोगों के उपचार में कर सकता है। कपर्द समुद्र से निकलनेवाले 'कौड़ों' को भी कहते हैं, उनका उपयोग भी चिकित्सा में होता है।[६] तीसरा विशेषण 'क्षयद्वीर' है, जिसका अर्थ है, वीरों को निवास देनेवाला[७]। वीरों में प्रजा के वीर पुरुष और वीराङ्गनाएँ भी आ जाती हैं और सेना के वीर योद्धा भी। वैद्य प्रजा के वीर-वीराङ्गनाओं की तथा युद्ध में आहत योद्धाओं की चिकित्सा करके उन्हें जीवन प्रदान करता है। इन विशेषणों से युक्त वैद्यराज के प्रति हम प्रज्ञाओं (मतियों) को लाते हैं, अर्थात् उसे यथोचित प्रशिक्षण देते हैं, जिससे वह गम्भीर से गम्भीर रोगी की सफल चिकित्सा कर सके। वह द्विपाद् मनुष्य की भी चिकित्सा करे और गाय आदि पशुओं की भी, जिससे हमारे ग्राम या नगर में सभी हृष्टपुष्ट और नीरोग रहें। मति का अर्थ प्रशस्ति भी होता है, हम उक्त गुणों से युक्त वैद्यराज की प्रशस्तियाँ भी करते हैं।

पाद-टिप्पणियाँ

१. भिषक्तमं त्वा भिषजां शृणोमि। ऋ० २.३३.४
२. रुतः रोगान् द्रावयतीति रुद्रो भिषक्।
३. निघं० २.९
४. पर्द कुत्सिते शब्दे, भ्वादिः। कं सुखं यथा स्यात् तथा पर्दयति वायुदोषं निःसारयतीति कपर्दी।
५. कपर्दो जटाजूटो ऽस्यास्तीति कपर्दी।
६. कपर्दः 'कौड़ा' इति ख्यातः समुद्रजकीटाङ्गविशेषः। तद्वान् कपर्दी, चिकित्सायां तदुपयोगकर्ता इत्यर्थः।
७. क्षयन्तो निवसन्तो वीरा येन स क्षयद्वीरः, क्षि निवासगत्योः।

११२. किस वृक्ष से द्यावापृथिवी बने?

ऋषिः भुवनपुत्रः विश्वकर्मा। देवता विश्वकर्मा।
छन्दः स्वराड् आर्षी त्रिष्टुप्।

किं स्विद्वनं कऽउ स वृक्षऽआस यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षुः।
मनीषिणो मनसा पृच्छतेदु तद्यदध्यतिष्ठद्भुवनानि धारयन्॥

—यजु० १७।२०

(**किं स्विद् वनं**) कौन सा वन था (**कः उ स वृक्षः आस**) कौन सा वह वृक्ष था, (**यतः**) जिससे [जगत्स्रष्टाओं ने] (**द्यावापृथिवी**) द्युलोक और भूलोक को (**निष्टतक्षुः**[१]) गढ़ा, रचा? (**मनीषिणः**) हे मनीषिओ! (**मनसा**) मत लगा कर (**तत् इत् उ पृच्छत**) इसके विषय में भी पूछो कि (**भुवनानि धारयन्**) भुवनों को धारण करनेवाला वह कारीगर (**यत् अधि अतिष्ठत्**) जिसके ऊपर बैठा हुआ था।

जब मैं द्यावापृथिवी पर दृष्टि डालता हूँ, तब आश्चर्यचकित रह जाता हूँ। भूलोक के मिट्टी, घास, वृक्ष-वनस्पति, पर्वतमाला, नदियाँ, समुद्र, जल, वायु, खनिज पदार्थ, वसन्त-ग्रीष्म-वर्षा-शरद् आदि ऋतुएँ सबमें किसी की कारीगरी दृष्टिगोचर होती है। भूमि से लगा हुआ ही अन्तरिक्षलोक है, जिसमें पवन, बिजली, बादल, चन्द्रमा आदि की छटा हमें मुग्ध करती है। उससे ऊपर द्युलोक है, जहाँ सूर्य, विविध नक्षत्रपुंज, राशिचक्र, आकाशगङ्गा आदि हमें विस्मित कर देते हैं।

वेदमन्त्र प्रश्न उठा रहा है कि वह वन कौन-सा था और उसके अन्तर्गत वृक्ष कौन-सा था, जिससे सृष्टि के कारीगर ने द्यावापृथिवी की रचना की? मन्त्र के उत्तरार्ध मं एक प्रश्न और उठाया गया है कि मन की पूर्ण जिज्ञासा के साथ इस

विषय में भी पूछो कि जिस कारीगर ने द्यावापृथिवी आदि भुवनों की रचना की वह जब उन भुवनों को धारण कर रहा था, तब किस स्थान पर स्थित होकर धारण कर रहा था?

ऋग्वेद में भी यह मन्त्र विश्वकर्मा-सूक्त (ऋक् १०.८१) में आया है। सकल ब्रह्माण्ड का रचयिता और धर्ता 'विश्वकर्मा' परमेश्वर है। उसी के कर्तृत्व से विविध शिल्पकलाओं से परिपूर्ण ये द्यावापृथिवी आदि लोक रचे गये हैं। वह विश्व का निमित्त कारण है। प्रश्न है कि किस उपादान से, किस वन और वृक्ष से, उसने लोकों की रचना की है? इसका उत्तर है कि 'प्रकृति' रूप वन है और उसके महत्, अहंकार, पंचतन्मात्रा आदि वृक्ष हैं, जिससे द्यावापृथिवी आदि भुवनों की रचना हुई है। जीवात्मा दूसरा निमित्त कारण है, जिसके लिए ये सब भुवन रचे गये हैं। दूसरा प्रश्न यह है कि द्यावापृथिवी आदि भुवनों का कारीगर जब उन भुवनों को धारण कर रहा था, तब किस आधार पर स्थित था? यह प्रश्न इस कारण उठा कि हम लोग जब किसी बोझ को अपने कन्धे या सिर पर उठाते हैं, तब आकाश में लटके-लटके नहीं उठाते, अपितु किसी आधार पर स्थित होकर ही उठाते हैं। यही बात विश्व के कारीगर पर भी लागू होनी चाहिए। इसका उत्तर यह है कि आधार पर खड़े होना तो उनके लिए लागू होता है, जो शरीरधारी हैं। विश्व का कारीगर 'विश्वकर्मा' जैसे अशरीरी होते हुए विश्व की रचना कर लेता है, ऐसे ही अशरीरी होने के कारण बिना किसी आधार पर स्थित हुए ही विश्व का धारण भी कर लेता है।

<u>पाद-टिप्पणी</u>

१. निस्—तक्षू तनूकरणे, लिट्।

११३. पारिवारिक यज्ञ-सत्सङ्ग

ऋषिः अप्रतिरथः। देवता अग्निः। छन्द निचृद् आर्षी अनुष्टुप्।

यस्यं कुर्मो गृहे हविस्तमंग्ने वर्द्धया त्वम्।
तस्मैं देवाऽअधि ब्रुवन्नयं च ब्रह्मणस्पतिः॥

—यजु० १७।५२

(यस्य गृहे) जिसके घर में **(हविः कुर्मः)** हम अग्निहोत्र की हवि देते हैं, **(तम्)** उसे **(अग्ने)** हे जगदीश्वर व यज्ञाग्नि! **(त्वं वर्धय[१])** आप बढ़ाओ, उन्नत करो। **(तस्मै)** उसके लिए **(देवाः अधिब्रुवन्)** विद्वान् लोग उपदेश और आशीर्वाद दें, **(अयं च ब्रह्मणस्पतिः[२])** और यह वेदज्ञ संन्यासी भी [उसे उपदेश व आशीर्वाद दे]।

हमने पारिवारिक यज्ञ-सत्सङ्ग की योजना बना कर उसे क्रियात्मक रूप दे दिया है। हमारे समाज के एक-सौ सदस्य हैं। प्रत्येक सदस्य के घर पर बारी-बारी से प्रतिदिन पारिवारिक सत्सङ्ग लगता है। सन्ध्या, अग्निहोत्र एवं ईश्वर-भक्ति के मधुर भजनों के उपरान्त किन्हीं विद्वान् का सारगर्भित उपदेश होता है। जिस परिवार में सत्सङ्ग का कार्यक्रम होता है, उसके गृहपति एवं घर के अन्य सदस्यों को अन्य परिवारों का अपने घर पर स्वागत करते हुए अपार हर्ष का अनुभव होता है, वे स्वयं को धन्य मानते हैं। बड़ा ही मधुर वातावरण होता है। पुरुष, माताएँ, बहनें, युवतियाँ जब भावविभोर होकर गाते हैं, 'यज्ञरूप प्रभो हमारे भाव उज्ज्वल कीजिए' तब अपूर्व समा बंध जाता है।

हे अग्नि! हे अग्रणी प्रभु! हे तेजोमय जगदीश्वर! हे यज्ञाग्नि! जिस गृहपति के घर में, जिसके परिवार में हम

सत्सङ्ग लगाते हैं, गोघृत एवं सुगन्धित हवन-सामग्री की यज्ञकुण्ड में हवि देते हैं, उसे तुम बढ़ाओ, स्वास्थ्य से बढ़ाओ, सुगन्ध से बढ़ाओ, दीर्घायुष्य से बढ़ाओ, तेजस्विता से बढ़ाओ, बल-वीर्य से बढ़ाओ, इन्द्रिय-सामर्थ्य से बढ़ाओ, मनोबल और आत्मबल से बढ़ाओ, विद्या से बढ़ाओ, सदाचार से बढ़ाओ, आनन्द से बढ़ाओ। केवल गृहपति को ही नहीं, उसके सारे परिवार को बढ़ाओ। प्रत्येक 'स्वाहा' की ध्वनि एवं आहुति के साथ ऊँचा उठाओ।

जिसके घर में हम पारिवारिक सत्सङ्ग लगाते हैं, उसे विद्वज्जन उपदेश दें, आशीर्वाद और आशीष दें। अपने आशीषों से उसके जीवन को सत्य, शिव, सुन्दर बना दें। उसके जीवन को अग्नि के समान पवित्र, ऊर्ध्वगामी एवं तेजोमय बना दें। उसके जीवन को अनुकरणीय एवं यशस्वी बना दें। आओ सब मिलकर आशीर्वाद दें "सत्याः सन्तु यजमानस्य कामाः", "ओ३म् स्वस्ति, ओ३म् स्वस्ति, ओ३म् स्वस्ति।" सब यज्ञशेष का प्रसाद लेकर विदा हों, प्रभु का प्रसाद लेकर विदा हों, सत्सङ्गी परिवार पर अपना प्रेम बरसा कर विदा हों। ओ३म् शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

पाद-टिप्पणियाँ

१. वर्द्धया=वर्द्धय। छान्दस दीर्घ।

२. ब्रह्मणः वेदस्य पतिः रक्षकः विद्वान् संन्यासी।

११४. दिव्य गुण-कर्मों और सुखों का प्रापक त्यागमय जीवन

ऋषिः विधृतिः। देवता यज्ञः। छन्दः विराड् आर्षी अनुष्टुप्।

देवहूर्यज्ञऽआ च॑ वक्षत्सुम्नहूर्यज्ञऽआ च॑ वक्षत्।
यक्ष॑दग्निर्देवो देवाँ२॥ऽआ च॑ वक्षत्॥

—यजु० १७।६२

(**देवहूः**[१]) दिव्य गुणों को बुलानेवाला है (**यज्ञः**) त्यागमय जीवन, (**आवक्षत्**[२] **च**) वह हमें दिव्य गुण भी प्राप्त कराये। (**सुम्नहूः**[३]) सुख को बुलानेवाला है (**यज्ञः**) त्यागमय जीवन, (**आवक्षत् च**) वह हमें सुख भी प्राप्त कराये। (**यक्षत्**[४]) प्रशंसा करे (**अग्निः देवः**) प्रकाशमय परमेश्वर (**देवान्**) दिव्य कर्मों की (**आवक्षत् च**) और उन्हें प्राप्त भी कराये।

सुखी जीवन के लिए समस्त सुख-सुविधाओं को जुटाना मानव के लिए अभीष्ट हो सकता है, परन्तु स्वेच्छा से त्यागमय जीवन व्यतीत करना उससे भी अच्छा है। एक धूनी रमाये साधु ने किसी नगर से बाहर एक वृक्ष के नीचे आसन जमाया। नागरिक लोग श्रद्धावश तरह-तरह की भेंटें उसके आगे रख जाते। वह सब सामान गरीबों को बाँट देता था। एक दिन एक सेठ थालों में आभूषण, रेशमी वस्त्र, मिष्टान्न, फल आदि राजसी सामान लेकर आये। वह सामान भी उसने जरूरत-मन्दों को बाँट दिया। सेठ ने कुछ उपदेश देने की अभ्यर्थना की तो साधु बोला—जैसे मैं बाँटता हूँ, वैसे ही तुम भी बाँटो। सेठ ने कहा—महाराज, आप तो दूसरों का दिया बाँट रहे हैं, इसलिए आपको बाँटने में कुछ दर्द नहीं है। हमारी तो अपनी कमाई है। साधु बोला—क्यों गर्व करते हो! तुम्हारी धन-

दौलत भी भगवान् की दी हुई है। जितना बाँटोगे, उतनी ही बढ़ेगी। गरीब से जो प्यार करता है, उससे भगवान् प्यार करते हैं।

त्यागमय जीवन 'देवहूः' है, दिव्य गुणों को बुला कर लानेवाला है। त्याग का गुण मनुष्य के अन्दर आते ही अहिंसा, सत्य, अस्तेय, श्रद्धा, न्याय, दया आदि सब गुण स्वयं उसके पास दौड़े चले आते हैं। मनुष्य असत्यभाषण, चोरी आदि करता है किसी स्वार्थ के लिए। जब उसका जीवन ही परार्थ हो जाता है, तब हिंसा आदि दुर्गुण उसके पास भला क्यों फटकेंगे। त्यागमय जीवन 'सुम्नहूः' है, सुख को बुला कर लानेवाला है। त्याग में जो सुख अनुभव होता है, उसे त्यागी ही जानता है। कोई धनी-मानी व्यक्ति किसी सत्कार्य के लिए एक लाख का दान करके लौट रहा था। चेहरे पर प्रसन्नता की रौनक थी। किसी ने कहा—तू तो ऐसा खुश दीख रहा है, जैसे करोड़पति हो गया हो।

दिव्य गुणों के साथ दिव्य कर्म भी आने चाहिएँ। त्यागमय जीवन दिव्य कर्मों की ओर भी मनुष्य को अग्रसर करता है। हम प्रकाशमय अग्निप्रभु से प्रार्थना करते हैं कि वह हमें दिव्य कर्मों का धनी भी बनाये।

आओ, हम त्यागरूप यज्ञ को अपना कर दिव्यगुणों के राजा, सुख के स्वामी और दिव्य कर्मों के धुरन्धर बनें।

पाद-टिप्पणियाँ

१. देवान् दिव्यगुणान् आह्वयतीति देवहूः।
२. आ-वह प्राणणे, लेट्। आवक्षत्=आ वहतु।
३. सुम्न=सुख, निघं० ३.६। सुम्नानि सुखानि आह्वयतीति सुम्नहूः।
४. यक्षत्, यज देवपूजासङ्गतिकरणदानेषु, लेट्। यजतु पूजयतु प्रशंसतु।

११५. उद्ग्राभ और निग्राभ

ऋषिः विधृतिः । देवता इन्द्रः । छन्दः विराड् आर्षी अनुष्टुप् ।

वाजस्य मा प्रसवऽउद्ग्राभेणोदग्रभीत् ।
अधा सपत्नानिन्द्रो मे निग्राभेणाधराँ२ ॥ऽअकः ॥

—यजु० १७।६३

(वाजस्य प्रसवः) बल, विज्ञान आदि के उद्भव ने **(मा)** मुझे **(उद्ग्राभेण)** उद्ग्राभ द्वारा, उत्साहवर्धन द्वारा **(उदग्रभीत्)** ऊँचा उठा दिया है। **(अध[1])** और **(इन्द्रः)** इन्द्र ने **(मे सपत्नान्)** मेरे आन्तरिक और बाह्य शत्रुओं को **(निग्राभेण)** निरुत्साह एवं धिक्कार के द्वारा **(अधरान् अकः)** नीचा कर दिया है।

हमारे आत्मा के पास दो हथियार हैं, एक उद्गाभ और दूसरा निग्राभ। उत् तथा नि पूर्वक ग्रहणार्थक ग्रह धातु से क्रमशः उद्गाह तथा निग्राह शब्द बनते हैं। वेद में ग्रह धातु के ह को भ[2] होकर उद्ग्राभ और निग्राभ हो जाते हैं। उद्ग्राभ का अर्थ है उत्साहवर्धन, निग्राभ उससे उल्टा है अर्थात् निरुत्साहीकरण। उद्ग्राभ में विजयार्थ प्रेरित करना, बढ़ावा देना, साधुवाद देना, उद्बोधन देना, उत्साहित करना, नीचे गिरते को सहारा देकर ऊपर उठाना, आगे बढ़ाना आदि अर्थ समाविष्ट हैं। इसके विपरीत निग्राह में हतोत्साहित करना, धिक्कार देना, अपमानित करना, पराजित करना, नीचे धकेलना, नीचे पटकी देना, धक्का देकर निकालना आदि अर्थ आते हैं।

आज बड़े हर्ष का विषय है कि मेरा आत्मा सजग और कर्मठ होकर अपनी उद्ग्राभ और निग्राभ नामक दोनों शक्तियों का उपयोग करने लगा है। आत्मबल के उद्भव ने अपनी

उद्ग्राभ नामक शक्ति से मेरी सात्त्विक वृत्तियों को जगा दिया है, मेरी महत्त्वाकांक्षा को मुखरित कर दिया है, मेरे अहिंसा-सत्य-अस्तेय-ब्रह्मचर्य-अपरिग्रह आदि गुणों को चोटी पर चढ़ा दिया है, मेरी अभय, सत्त्वसंशुद्धि, आर्जव आदि विशेषताओं को बढ़ा दिया है, मेरे धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष नामक पुरुषार्थ-चतुष्टय को बल दे दिया है, मुझ गिरते को सहारा देकर ऊपर उठा दिया है। साथ ही मेरे आत्मा ने अपनी निग्राह नामक दूसरी शक्ति का प्रयोग करके काम, क्रोध, लोभ आदि रिपुओं को गलहत्था दे दिया है, अविद्या, अधर्म, अनाचार, वैर, विरोध, कुसंगति, पशुता, अकर्मण्यता आदि को धिक्कृत कर दिया है, मेरी दुर्बलताओं को निहत कर दिया है, मेरी पापवृत्तियों को पराजित कर दिया है।

आज मैं विजयी बनकर, सिर ऊँचा करके खड़ा हुआ हूँ। मैं धरातल से ऊँचा उठकर अन्तरिक्ष में पहुँच गया हूँ, मेरी गणना शिखरारुढ़ लोगों में होने लगी है। सद्गुणों का सागर मेरे अन्दर उमड़ने लगा है। उच्च आकांक्षाएँ हिलोरें लेने लगी हैं। पाशविकता, दुर्मति, अहंकार, दैन्य आदि वृत्तियां पलायन कर गयी हैं। आन्तरिक और बाह्य शत्रु निष्कासित हो गये हैं। हे मेरे आत्मन्! मुझे ऐसा ही बनाये रखो, मुझे सबका शिरोमणि बना दो।

पाद-टिप्पणियाँ

१. अधा=अध। छान्दस दीर्घ।

२. हृग्रहोर्भश्छन्दसि। पा० ३.१.८४ पर वार्तिक

११६. आगे की दिशा में बढ़ता चल

ऋषिः विधृतिः । देवता अग्निः । छन्दः निचृद् आर्षी त्रिष्टुप् ।

प्राचीमनु प्रदिशं प्रेहि विद्वानग्नेरग्ने पुरोऽअग्निर्भवेह।
विश्वाऽआशा दीद्यानो विभाह्यूर्जं नो धेहि द्विपदे चतुष्पदे ॥

—यजु० १७।६६

(अग्ने) हे अग्रगामी मानव! **(विद्वान्)** विद्वान् तू **(प्राचीं प्रदिशम् अनु)** आगे बढ़ने की दिशा में **(प्रेहि)** बढ़ता चल। **(इह)** इस संसार में **(अग्नेः पुरः अग्निः भव)** नायकों के भी आगे जानेवाला नायक बन। **(विश्वाः आशाः)** सब दिशाओं को **(दीद्यानः[१])** प्रकाशित करता हुआ **(वि भाहि)** विशेषरूप से चमक, यशस्वी हो। **(नः द्विपदे चतुष्पदे)** हमारे द्विपाद् और चतुष्पाद् के लिए **(ऊर्जं धेहि)** अन्न और बल प्रदान कर।

हे मानव! क्या तू जहाँ खड़ा है, वहीं खड़ा रहेगा? देख, जो तुझसे पीछे थे, वे बहुत आगे जा चुके हैं। जो तेरे साथ खड़े थे, उन्होंने मंजिल पार कर ली है। जो भूमि पर खड़े थे, वे अन्तरिक्ष में पहुंच गये हैं। तुझे क्या आगे बढ़ने की और ऊपर उठने की साध नहीं हैं? क्या दूसरों को आगे दौड़ लगाते देख कर तेरा हृदय उत्साहित नहीं होता? क्या दूसरों को ऊपर उठते देख कर तेरा हृदय तरंगित नहीं होता?

हे नर! तू विद्वान् बन, शास्त्रों का वैदुष्य प्राप्त कर, अनुभवी लोगों के साथ मिल-जुल कर अनुभव प्राप्त कर। फिर वैदुष्य तथा अपने और दूसरों के अनुभव के आधार पर जो दिशा तुझे सही प्रतीत हो, उस दिशा में कदम बढ़ाता चल, खाई-खन्दकों को लांघता चल, आकाश में उड़ता चल,

आलसियों को पीछे छोड़ता चल, या उन्हें भी उत्साहित करके अपने साथ लेता चल। देख, मार्ग बहुत लम्बा है, मंजिल बहुत दूर है। थकने का नाम मत ले, विश्राम की बात मत कर। चलता चल, उछलता चल, उड़ता चल, लक्ष्य पर पहुँचकर ही दम ले।

हे वीर! तू नायक बन, नायकों का भी नायक बन। जब तू आगे बढ़ जाएगा, उन्नत हो जाएगा, तब जन-साधारण तुझे स्वयं अपना नायक बनाने में गौरव अनुभव करेंगे। नायक लोग भी तुझे अपना नेता बनायेंगे। नेताओं का नेता बनकर तू अपने राष्ट्र की पताका विश्व के गगन में फहरा। हे जननायक! तू सब दिशाओं का अंधेरा दूर कर, सब दिशाओं को विद्या और धर्म के प्रकाश से प्रकाशित कर। सब दिशाओं के वासियों को धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की जगमगाहट से जगमग कर। हमारे द्विपात्, चतुष्पात् सबको अन्न दे, जीवन दे, बल दे, प्राण दे। तब तू स्वयं भी प्रकाशित होगा, तेरे यश की दीप्ति सर्वत्र प्रसृत होगी। तेरा अभिनन्दन होगा, तेरा जयगान होगा, तेरी आरती उतरेगी।

पाद-टिप्पणी

१. दीदयति=ज्वलति। निघं० १.१६

११७. हे मानव! तू ऐसा बन

ऋषयः सप्त ऋषयः। देवता मरुतः। छन्दः आर्षी उष्णिक्।

शुक्रज्योतिश्च चित्रज्योतिश्च सत्यज्योतिश्च ज्योतिष्माँश्च।
शुक्रश्चऽऋतपाश्चात्यंहाः ॥

—यजु० १७।८०

हे मनुष्य! तू (**शुक्रज्योतिः च**) दीप्त ज्योतिवाला हो, (**चित्रज्योतिः च**) चित्र-विचित्र ज्योतिवाला हो, (**सत्यज्योतिः च**) सत्य ज्योतिवाला हो, (**ज्योतिष्मान् च**) प्रशस्त ज्योतिवाला हो, (**शुक्रः च**) शुद्ध-पवित्र हो, (**ऋतपाः च**) ऋत का पालक हो, (**अत्यंहाः**) पाप या अपराध को अतिक्रान्त करनेवाला हो।

हे मानव! क्या तू जानता है कि इस संसार में तू किसलिए आया है? तुझे अपना कुछ लक्ष्य निर्धारित करना है और उसे पूर्ण करने के लिए प्राणपण से जुट जाना है। किन्तु लक्ष्य तक पहुँचने का सामर्थ्य प्रत्येक में नहीं होता है। वे ही प्रशस्त जन लक्ष्य तक पहुँच पाते हैं, जो स्वयं को गुणी और समर्थ बना लेते हैं। अतः तू भी स्वयं को गुणवान् बनाने में तत्पर हो जा। तू 'शुक्रज्योति' बन, प्रज्वलित ज्योतिवाला हो।[१] तेरी ज्योति राख से ढकी नहीं होनी चाहिए। ऐसा न हो कि तेरे अन्दर ज्योति तो रहे, किन्तु तू उसके प्रति उदासीन रहता हो, उससे सिद्ध होनेवाले महान् कार्य करने की उमङ्ग तेरे अन्दर न उठती हो। यदि ऐसा है, तो उस ज्योति को सजग कर ले। तेरी ज्योति प्रदीप्त होकर हिमालय से भी ऊँची हो जानी चाहिए। यह मैं आलङ्कारिक भाषा बोल रहा हूँ, क्योंकि वह ज्योति भौतिक नहीं, प्रत्युत मानसिक है। वह उत्साह की ज्योति है, महत्त्वाकांक्षा की ज्योति है, अग्रगामिता की ज्योति है।

तू 'चित्रज्योति' भी बन। तेरी ज्योति चित्र-विचित्र कई

प्रकार की होनी चाहिए। अग्नि की ज्वालाएँ जैसे काली, कराली, मनोजवा, सुलोहिता, सुधूम्रवर्णा, विस्फुलिङ्गिनी, विश्वरुची ये सात प्रकार की होती हैं,[२] वैसे ही तेरी ज्वालाएँ भी पाँच ज्ञानेन्द्रिय, मन और बुद्धि इन सात ऋषियों से संबद्ध सात प्रकार की होनी चाहिएँ।

चक्षु, श्रोत्र आदि प्रत्येक ज्ञानेन्द्रिय से ज्वालाएँ उठाकर ज्ञान का विकास तुझे करना चाहिए। यह भी ध्यान रख कि तुझे 'सत्यज्योति' भी बनना चाहिए। सत्य को ही ज्योति मान कर चलेगा, तो भ्रान्ति के जाल में न उलझकर सत्य पथ पर आगे ही आगे बढ़ता चला जाएगा। फिर तुझे 'ज्योतिष्मान्' भी होना चाहिए। यहाँ मतुप् प्रत्यय प्रशस्त अर्थ में है। तात्पर्य यह है कि तू प्रशस्त ज्योतिवाला बन। छोटे-छोटे लक्ष्य न बना कर महान् लक्ष्य निर्धारित कर।

तुझे 'शुक्र' भी बनना है। यहाँ पवित्रार्थक 'शुचिर्' पूतीभावे धातु से रन् प्रत्यय करने पर शुक्र शब्द बना है। तुझे पूर्णतः मन, वचन, कर्म से पवित्र होना चाहिए। साथ ही तुझे 'ऋतपाः' अर्थात् सत्याचरण का पालक भी बनना चाहिए। सत्य है सत्य ज्ञान और ऋत है सत्याचरण। अकेला सत्य ज्ञान पर्याप्त नहीं है, जब तक वह आचरण में न लाया जाए। अन्त में एक गुण और समझ ले, तू 'अत्यंहाः' भी बन। 'अंहस्' कहते हैं पाप को, उसे जिसने अतिक्रान्त कर दिया है, ऐसा निष्पाप तू बन। पाप विचार को न मन में ला, न क्रिया में परिणत कर।

हे मरुतो! हे मानवो! इन सब गुणों से युक्त यदि तुम हो जाओगे, तो सफलता की डोर सदा तुम्हारे हाथ में रहेगी।

पाद-टिप्पणियाँ

१. शुक्रं प्रज्वलितं ज्योतिर्यस्य स शुक्रज्योतिः। शुच धातु ज्वलनार्थक, निघं० १.१६

२. काली कराली च मनोजवा च सुलोहिता या च सुधूम्रवर्णा। विस्फुलिङ्गिनी विश्वरुची च देवी लेलायमाना इति सप्त जिह्वाः। मु० उप० १.२.४!

३. भूमनिन्दाप्रशंसासु नित्ययोगे ऽतिशायने। संसर्गे ऽस्ति विवक्षायां भवन्ति मतुबादयः॥ पा० ५.२.९४ पर काशिका।

११८. यज्ञ का चित्रण

ऋषिः वामदेवः। देवता यज्ञपुरुषः। छन्दः निचृद् आर्षी त्रिष्टुप्।

एताऽअर्षन्ति हृद्यात्समुद्राच्छतव्रजा रिपुणा नावचक्षे।
घृतस्य धाराऽअभिचाकशीमि हिरण्ययो वेतसो मध्यऽआसाम्॥

—यजु० १७।९३

(**एताः**) ये वेद की ऋचाएँ (**अर्षन्ति**[१]) निकल रही हैं (**हृद्यात् समुद्रात्**[२]) हृदयाकाश से (**शतव्रजाः**) सैंकड़ों की संख्या में, जो (**रिपुणा**) यज्ञ के शत्रु द्वारा (**न अवचक्षे**)[३] रोकने योग्य नहीं हैं। इसके अतिरिक्त (**घृतस्थ धाराः**) घी को धाराओं को (**अभिचाकशीमि**)[४] देख रहा हूँ। (**आसां मध्ये**) इनके मध्य में (**हिरण्ययः वेतसः**) अग्निरूप सुनहरा वेतस है।

मैं वेद की ऋचाओं के पाठपूर्वक यज्ञ कर रहा हूँ। वेद की ऋचाएँ सैंकड़ों की संख्या में मेरे हृदयाकाश से निकल रही हैं। मैं इनका पाठ करता हुआ भावविभोर हो रहा हूँ, आनन्दमग्न हो रहा हूँ। ये ऋचाएँ किसी के रोके रुक नहीं सकती हैं। न आन्तरिक शत्रु यज्ञविरोधी तर्क इन्हें रोक सकते हैं, न बाह्य शत्रु यज्ञविरोधी लोग इन्हें रोक सकते हैं। जैसे अन्य अच्छे कार्यों का विरोध कुछ लोगों की ओर से होता है, ऐसे ही समाज में कुछ यज्ञविरोधी लोग भी होते हैं। वे कहते हैं कि जितने घी तथा अन्य पदार्थ अग्नि में भस्म करके नष्ट किये जा रहे हैं, उतने घी तथा अन्य गोला, मिश्री, छुहारे, बादाम, मुनक्का, किशमिश आदि गरीबों में बाँट दिये जाते, तो कितना कल्याण होता। वे यज्ञ के शत्रु पर्यावरणशुद्धि को कोई महत्त्व नहीं देते। यज्ञ से जल-वायु की शुद्धि होकर और

वृष्टि होकर जो मानवकल्याण होता है, जितना द्रव्य हम अग्नि में जलाते हैं, उससे अधिक जनहित हो जाता है, उसकी ओर उनका ध्यान ही नहीं जाता। लोग कितना ही यज्ञ का विरोध करें, मेरी ऋचाओं का पाठ, यज्ञवेदि में अग्नि का प्रज्वालन और हविर्द्रव्यों की आहुतियाँ रुकेंगी नहीं। यज्ञ का जितना विरोध होगा, उतना ही अधिक उसका प्रचलन होगा। ऋचाओं के पाठ के साथ-साथ घृत की धारें भी अग्नि में पड़ रही हैं। प्रत्येक 'स्वाहा' के साथ घृताहुतियाँ पड़ती हैं, अन्य हविर्द्रव्य आहुत होते हैं, और प्रत्येक आहुति के साथ मध्य में अग्नि की ज्वालाएँ ऊपर उठती हैं। यह दृश्य कितना मनोमुग्धकारी है। यह हिरण्यय वेतस की प्रभा, यह सुनहरी अग्निज्वाला हमें भी निमन्त्रण दे रही है कि तुम भी अग्नि बनकर ऊर्ध्वारोहण करो, बाह्य अग्निज्वाला के साथ अपने अन्दर की अग्निज्वाला भी जलाओ और ऊर्ध्वारोहण करते हुए पृथिवी से अन्तरिक्ष में, अन्तरिक्ष से द्युलोक में और द्युलोक से स्वर्लोक में पहुँच जाओ। ये लोक उन्नति के स्तरों के सूचक हैं। भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः, सत्यम् ये सात लोक उन्नति के सात सोपान हैं। एक से दूसरे स्तर में, दूसरे से तीसरे स्तर में, इसी प्रकार उपरले-उपरले स्तर में जाते हुए हम भौतिक और आध्यात्मिक उन्नति करते रहें।

पाद-टिप्पणियाँ

१. अर्षन्ति, ऋषी गतौ। (अर्षन्ति) गच्छन्ति निस्सरन्ति—द०।
२. समुद्र=अन्तरिक्ष, निघं० १.३
३. अव-चक्ष-एश् प्रत्यय। 'अवचक्षे च' पा० ३.४.१५
४. अभिचाकशीमि=पश्यामि।

११९. मेरे सत्य-साधना के कार्य यज्ञभावना से निष्पन्न हों

ऋषयः देवाः। देवता प्रजापतिः। छन्दः स्वराट् शक्वरी।

सत्यं च मे श्रद्धा च मे जगच्च मे धनं च मे विश्वं च मे महश्च मे क्रीडा च मे मोदश्च मे जातं च मे जनिष्यमाणं च मे सूक्तं च मे सुकृतं च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्॥

—यजु० १८।५

(सत्यं च मे) मेरा सत्य ज्ञान **(श्रद्धा च मे)** मेरी श्रद्धा, **(जगत् च मे)** मेरा क्षेत्र, **(धनं च मे)** मेरा धन, **(विश्वं च मे)** मेरी विश्व के साथ ममता की भावना, **(महः च मे)** मेरा तेज, **(क्रीडा च मे)** मेरी क्रीडा, **(मोदः च मे)** मेरा मोद-प्रमोद, **(जातं च मे)** मेरा भूत, **(जनिष्यमाणं च मे)** मेरा भविष्य, **(सूक्तं च मे)** मेरा सुवचन, **(सुकृतं च मे)** मेरा सुकर्म **(यज्ञेन कल्पन्ताम्)** यज्ञ से समर्थ बनें।

सफल जीवनयात्रा के लिए सर्वप्रथम मनुष्य को इसके ज्ञान की आवश्यकता होती है कि सत्य क्या है और असत्य क्या है। जब उसे सत्य का ज्ञान हो जाता है, तब उस सत्य को आचरण में लाना होता है। परन्तु मनुष्य सत्याचरण में तब तक तत्पर नहीं होता, जब तक सत्य में उसकी श्रद्धा न हो। श्रद्धा होते ही सत्य में प्रवृत्ति स्वतः ही होने लगती है। व्यक्ति जिस 'जगत्' या क्षेत्र का होता है, उसी में वह सत्य को प्रवृत्त करता है। जैसे व्यापार के 'जगत्' या क्षेत्र में रमण करनेवाला व्यक्ति उसी जगत् में सत्याचरण करेगा। इसी प्रकार विद्याध्यापन या क्षात्रधर्म के जगत् का व्यक्ति भी अपने-अपने क्षेत्र में ही सत्य का प्रयोग करेगा। विभिन्न क्षेत्र में सत्य का प्रयोग करने

के लिए किसी न किसी रूप में धन भी चाहिए। किसी क्षेत्र-विशेष में सत्य को क्रियान्वित करते समय विश्वहित की भावना को भी भुलाया नहीं जा सकता, क्योंकि वह बात सत्य नहीं मानी जा सकती, जिसके क्रियान्वयन से किसी क्षेत्रविशेष को तो लाभ पहुँचता प्रतीत हो, किन्तु शेष विश्व का अकल्याण होता हो। सत्य का प्रचार आसान नहीं है। उसके लिए आत्मा और मन में 'महः' अर्थात् तेजस्विता चाहिए। तेजस्वी लोग ही स्वयं सत्यव्रती होकर सत्य के प्रचारक बनते हैं। सत्य के प्रचारार्थ सत्य में 'क्रीडा' करनी होती है, सत्य में रम जाना होता है। ऐसी वृत्ति धारण करनी होती है कि सत्य में ही 'मोद' माने, सत्य के फूलने से मन प्रफुल्ल हो, सत्य के प्रचारित होने से अन्तरात्मा मुदित हो।

सत्य के साधक एवं प्रचारक को अपने जीवन का 'जात' और 'जनिष्यमाण' अर्थात् 'भूत' और 'भविष्य' भी देखना होता है। अपने भूत का आत्म-निरीक्षण करके वह यह निर्धारित करता है कि उसके भूत जीवन में कितना अंश सत्य का रहा है और कितना असत्य का। फिर वह यह विचार करता है कि आगे अपने भविष्य जीवन की योजना क्या बनाऊँ, जिसमें सत्य ही सत्य हो, असत्य का लवलेश भी न रहे। फिर सत्यप्रचार के लिए सुभाषित (सूक्त) और सुकर्म (सुकृत) को भी अपनाता है। इस प्रकार सत्य के साधक के लिए सारे साधन सत्य के पोषक ही हो जाते हैं। परन्तु यह 'सत्य' की साधना 'यज्ञभावना' के बिना अपूर्ण ही रहती है। लोकहित की भावना ही यज्ञ-भावना है। लोकहित की भावना से सत्य की साधना को बल मिलता है, क्रियाशीलता मिलती है, पूर्णता मिलती है।

आओ, हम भी अपने सत्य, श्रद्धा आदि को यज्ञ द्वारा सामर्थ्यवान् और सफल करें।

१२०. मेरे सब गुण-कर्म यज्ञ-भावना से सम्पन्न हों

ऋषयः देवाः । देवता प्रजापतिः । छन्दः भुरिक् अति शक्वरी।

ऋतं च मेऽमृतं च मेऽयक्ष्मं च मेऽनामयच्च मे जीवातुश्च मे दीर्घायुत्वं च मेऽनमित्रं च मेऽभयं च मे सुखं च मे शयनं च मे सूषाश्च मे सुदिनं च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥

—यजु० १८।६

हे प्रजापति परमेश्वर! (**ऋतं च मे**) मेरा सत्य व्यवहार (**अमृतं च मे**) और मेरा अमरत्व, (**अयक्ष्मं च मे**) और मेरा आरोग्य, (**अनामयच्च मे**) और मेरा आरोग्यकारी पथ्य, (**जीवातुश्च मे**) और मेरा भद्र जीवन, (**दीर्घायुत्वं च मे**) और मेरा दीर्घायुष्य, (**अनमित्रं च मे**) और मेरा अजात-शत्रुत्व, (**अभयं च मे**) और मेरी निर्भयता, (**सुखं च मे**) और मेरा सुख, (**शयनं च मे**) और मेरा शयन, (**सूषाः च मे**) और मेरी शुभ उषा, (**सुदिनं च मे**) और मेरा सुदिन (**यज्ञेन कल्पन्ताम्**) यज्ञभावना के साथ सम्पन्न हों।

छान्दोग्य उपनिषद् कहती है कि मनुष्य का जीवन एक यज्ञ है।[१] उसके प्रथम २४ वर्ष प्रातःसवन हैं, आगे के ४४ वर्ष माध्यन्दिन सवन हैं और उससे आगे के ४८ वर्ष सायंसवन हैं। इस बीच कोई आधि-व्याधि सताने लगे तो उसे दृढ़ मनोबल के साथ ललकार कर कहे कि मेरे यज्ञ को विघ्नित मत करो। तब वह उससे छूट जाता है और उसका ११६ वर्ष का यज्ञ पूर्ण हो जाता है। यही यज्ञ-भावना है। मनुष्य अपने जीवन को पवित्र यज्ञ समझे, तो न कोई दुर्विचार उसे सता सकेगा, न कोई रोग, और शिव सङ्कल्पों का वह स्वागत करेगा। 'ऋत' शब्द गत्यर्थक 'ऋ' धातु से बनता है। इसका अर्थ है सत्यभाषण और सत्य व्यवहार। मैं अपने जीवन को यज्ञ समझकर सदा सत्यभाषण ही करूँ, दूसरों के साथ सत्य

व्यवहार ही करूँ, क्योंकि शतपथब्राह्मण कहता है कि जो पुरुष अनृत भाषण करता है, वह अपवित्र होता है।[२] मैं अमृत हूँ, मेरा आत्मा अमर है, यदि मैं असत्य और अभद्र आचरण करूँगा, तो सत्यव्रती जन मुझे धिक्कारेंगे। अमर होता हुआ मैं धिक्कार का भाजन बनता हूँ, तो मेरी अमरता समाप्त होती है, मैं पतितों की श्रेणी में आ जाता हूँ। मुझे 'अयक्ष्मत्व' प्राप्त हो, आरोग्य मिले। रोगी होता हूँ, तो मेरा यज्ञ त्रुटित होता है। मैं ऐसा पथ्य करूँ, जिससे नीरोग रहूँ, यह नीरोग रहने का उपाय है। केवल पथ्य ही नहीं, नीरोग रहने के जो भी साधन योगासन, प्राणायाम, व्यायाम आदि हैं, वे सब इसमें समाविष्ट हैं। मेरा 'जीवातु' मेरा भद्र जीवन, भद्र प्राण प्रशस्त हो। मुझे दीर्घायुष्य प्राप्त हो। कम से कम शत वर्ष तो मुझे जीना ही चाहिए। मुझे 'अनमित्रत्व' प्राप्त हो, मैं अजातशत्रु कहलाऊँ। मैं किसी से शत्रुता न करूँ और न मुझसे कोई शत्रुता करे। सबका मित्र बनकर रहूँ। मैं निर्भय रहूँ। वेद कहता है "जैसे सूर्य और पृथिवी किसी से डरते नहीं है, वैसे ही हे मेरे प्राण! तू किसी से मत डर।[३]" मुझे 'सुख' प्राप्त हो, जीवन में परमानन्द मिले, क्योंकि दुःखग्रस्त रहने पर मेरा यज्ञ विघ्नित होगा। मुझे मेरा 'शयनसुख' प्राप्त हो, मैं सोने पर विश्रान्ति अनुभव करूँ, दुःस्वप्न मुझे न सतायें। मेरे जीवन में 'सुनहरी उषा' खिलती रहे, उदासीनता या निष्क्रियता के अन्धकार से मैं कभी ग्रस्त न होऊँ। मैं सदा यह अनुभव करूँ कि तमस् से ज्योति की ओर आ रहा हूँ। मेरा दिन 'सुदिन' हो, प्रत्येक नया दिन उदित होने पर मैं यह अनुभव करूँ कि यह दिन मेरे लिए सुदिन होकर आया है, मेरे लिए कुछ उपहार लाया है।

उक्त सब वस्तुएँ सब गुण, सब सौगातें मुझे तभी मिल सकती हैं, जब मैं अपने जीवन को यज्ञ समझकर पवित्रता के साथ व्यतीत करूँ—"यज्ञेन कल्पन्ताम्"।

पाद-टिप्पणियाँ

१. पुरुषो वाव यज्ञः। छा० उप० ३.१६

२. अमेध्यो वै पुरुषो यदनृतं वदति। श० १.१.१.१

३. यथा द्यौश्च पृथिवी च न बिभीतो न रिष्यतः।
एवा मे प्राण मा बिभेः॥ अ० २.१५.१

१२१. मेल-जोल और पुरुषार्थ का यज्ञ

ऋषयः देवाः। देवता आत्मा। छन्दः शक्वरी।

ऊर्क् च मे सूनृता च मे पयश्च मे रसश्च मे घृतं च मे मधु च मे सग्धिश्च मे सपीतिश्च मे कृषिश्च मे वृष्टिश्च मे जैत्रं च मऽऔद्भिद्यं च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्॥ —यजु० १८।९

(**ऊर्क् च मे**) मेरा बलप्राणप्रद अन्न, (**सूनृता च मे**) और मेरी रसीली वाणी, (**पयः च मे**) और मेरा दूध, (**रसः च मे**) और मेरा रस, (**घृतं च मे**) और मेरा घृत, (**मधु च मे**) और मेरा मधु, (**सग्धिः च मे**) और मेरा सहभोज, (**सपीतिः च मे**) और मेरा सहपान, (**कृषिः च मे**) और मेरी खेती, (**वृष्टिः च मे**) और मेरी वर्षा, (**जैत्रं च मे**) और मेरी विजय, (**औद्भिद्यं च मे**) और मेरा ओषधि-वनस्पतियों का अंकुरित होना (**यज्ञेन कल्पन्ताम्**) यज्ञ से सम्पन्न हों।

मैं यदि मेल-जोल और पुरुषार्थ एवं कर्मण्यता का यज्ञ करता हूँ, तो मुझे बहुत-सी सम्पदाएँ प्राप्त हो सकती हैं और वे मेरे पास स्थिर रह सकती हैं। मुझे 'ऊर्क्' प्राप्त हो, बलप्राणप्रद अन्न मुझे मिले, जिससे मैं बलवान्, प्राणवान् और परिपुष्ट बनूँ। मेरे शरीर की रचना परमेश्वर ने मांसभक्षी हिंसक जन्तुओं-जैसी नहीं बनायी है, अतः मांस-मदिरा के सेवन से अपने शरीर, मन और आत्मा को मलिन न करूँ। मुझे रसीली वाणी प्राप्त हो। मैं दूसरों के प्रति मधुर-प्यारी वाणी बोलूँ और अन्य जन भी मेरे प्रति मधुर-प्यारी वाणी बोलें। मुझे शुद्ध 'गोदुग्ध' प्राप्त हो, मैं गाय पालूँ, गोसेवा का पुरुषार्थ करूँ। मुझे 'रस' प्राप्त हो, मैं द्राक्षारस, अङ्गूरों का रस, सन्तरों का रस, सेव का रस, इक्षुरस सेवन करूँ, जिससे मुझे पुष्टि और

तीव्र बुद्धि मिले। मुझे 'गोघृत' प्राप्त हो, गोघृत से शरीर नीरोग और कान्तिमय तथा मन-बुद्धि सात्त्विक होते हैं। मुझे 'मधु' मिले, मैं शहद का आस्वादन करूँ। शहद कान्ति तथा पाचनशक्ति देता है तथा नेत्रज्योति बढ़ाता है। मुझे 'सग्धि' और 'सपीति' के अवसर प्राप्त हों। दूसरों के साथ मिलकर सहभोज और सहपान करके मुझे सङ्गति का आनन्द प्राप्त हो। मेरी 'कृषि' लहलहाये। बीज बोने के लिए धरती को तैयार करने से लेकर फसल काटने तक की सब क्रियाएँ मैं पुरुषार्थपूर्वक करूँ, जिससे मैं अन्नपति होकर दूसरों को अन्न खिला सकूँ। मुझे 'वर्षा' मिले, बादल की वर्षा भी मेरे ऊपर हो और विविध ऐश्वर्यों की वर्षा तथा प्रभुकृपा की वर्षा का भी मैं पात्र बनूँ।

मुझे 'जैत्र' प्राप्त हो, मैं प्रतियोगिताओं में भाग लेकर विजयी बनूँ, शत्रुओं से लोहा लेकर विजयी बनूँ, आपदाओं से लड़कर विजयी बनूँ। मुझे 'औद्भिद्य' प्राप्त हो, मैं उत्कर्ष-प्राप्ति में बाधक विघ्न-बाधाओं की परत फोड़ कर ऊपर उठूँ, ऊर्ध्वारोहण करूँ। उक्त सब सम्पदाएँ मुझे पारस्परिक मेल-जोल और पुरुषार्थ के यज्ञ से प्राप्त हों और बढ़कर मुझे आनन्दित करती रहें।

१२२. यज्ञ से विविध अन्नों की प्रचुरता

ऋषयः देवाः। देवता धान्यदः आत्मा। छन्दः भुरिग् अतिशक्वरी।

व्रीहयश्च मे यवाश्च मे माषाश्च मे तिलाश्च मे मुद्गाश्च मे खल्वाश्च मे प्रियङ्गवश्च मेऽणवश्च मे श्यामाकाश्च मे नीवाराश्च मे गोधूमाश्च मे मसूराश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्॥

—यजु० १८।१२

(**व्रीहयः च मे**) मेरे धान, (**यवः च मे**) और मेरे जो, (**माषाः च मे**) और मेरे उड़द, (**तिलाः च मे**) और मेरे तिल, (**मुद्गाः च मे**) और मेरे मूँग, (**खल्वाः च मे**) और मेरे चने, (**प्रियङ्गवः च मे**) और मेरे कँगुनी चावल, (**अणवः च मे**) और मेरे किनकी चावल, (**श्यामाकाः च मे**) और मेरे साँवक चावल, (**नीवाराः च मे**) और मेरे पसाई के चावल, जो बिना बोये उत्पन्न होते हैं, (**गोधूमाः च मे**) और मेरे गेहूँ (**मसूराः च मे**) और मेरे मसूर (**यज्ञेन कल्पन्ताम्**[1]) यज्ञ से प्रचुर तथा पुष्ट होवें।

मैं चाहता हूँ कि मेरे देश में धान, जौ, उड़द, तिल, मूँग, चने, कँगुनी चावल, किनकी चावल, सांवक चावल, जङ्गली धान, गेहूँ और मसूर इन धान्यों की खेती प्रचुरता के साथ हो। इन धान्यों में कुल मिलाकर खाद्योपयोगी सब तत्त्व आ जाते हैं। इनके लिए हमें दूसरे देशों पर निर्भर न रहना पड़े। ये सब अन्न यज्ञ द्वारा बहुत मात्रा में और पोषक गुणवाले होकर उपजें। यज्ञ से यहाँ एक तो कृषियज्ञ अभिप्रेत है और दूसरा अग्निहोत्र। कृषियज्ञ में उपजाऊ भूमि, अच्छी जुताई, अच्छा खाद, अच्छा बीज, उसे उपयुक्त समय पर बोना, समय पर सिंचाई, समय पर फसल काटना, भूसी अलग करना, खलिहानों

में भरना, बिक्री करना आदि सब बातें अभिप्रेत हैं। किसी भी बात में लापरवाही होने पर उपज पर प्रभाव पड़ सकता है। खाद रासायनिक खादों की अपेक्षा गोमूत्र और गाय के गोबर का अच्छा रहता है। ये कृषियज्ञसम्बन्धीं सावधानियाँ हैं। अग्निहोत्र का प्रयोग इस रूप में किया जा सकता है कि गोघृत तथा धान, जौ, तिल और गूगल की सामग्री से एवं आम और पीपल दोनों की समिधाओं से यज्ञ करके उसकी राख खेतों में बखेरी जाए।

'यज्ञेन कल्पन्ताम्' का एक अर्थ यह भी है कि ये सब अन्न भोग-यज्ञ द्वारा आरोग्य प्रदान करने में समर्थ हों। यज्ञ शब्द देवपूजा, सङ्गतिकरण और दान अर्थवाली यज धातु से बनता है। जिस क्रिया में ये तीनों तत्त्व सन्तुलनपूर्वक विद्यमान हैं, वह 'यज्ञ' है। अन्न के भोग में प्रथम तो दाता परमेश्वर की पूजा है, फिर अपने उदर के साथ अन्न का सङ्गतिकरण है, फिर अन्न का भक्षण अकेले नहीं, दानपूर्वक होता है, क्योंकि स्वयं खाने के अतिरिक्त अतिथियज्ञ और बलिवैश्वदेवयज्ञ भी करना होता है। भोजन में अन्नों के चयन में सन्तुलन भी होना चाहिए कि उसमें स्टार्च, प्रोटीन, वसा, चीनी, तन्तु आदि सब ठीक अनुपात में रहें। इस प्रकार भोग करेंगे तो उससे हमारा मन, मस्तिष्क और शरीर स्वस्थ होंगे और परोपकार भी होगा।

आओ, यज्ञ द्वारा ही हम इन तथा अन्य उपयोगी अन्नों को प्रचुर मात्रा में उत्पन्न करें और यज्ञ द्वारा ही इनका भोग करें।

पाद-टिप्पणी

१. कल्पन्ताम्—क्लृपु सामर्थ्ये, लोट् लकार।

१२३. मेरा प्रत्येक कार्य यज्ञ के साथ हो

ऋषयः देवाः। देवता यज्ञानुष्ठाता आत्मा। छन्दः क. स्वराड् विकृतिः, र. स्वराड् ब्राह्मी उष्णिक्।

क आयुर्यज्ञेन कल्पतां प्राणो यज्ञेन कल्पतां चक्षुर्यज्ञेन कल्पताᳪ श्रोत्रं यज्ञेन कल्पतां वाग्यज्ञेन कल्पतां मनो यज्ञेन कल्पतामात्मा यज्ञेन कल्पतां ब्रह्मा यज्ञेन कल्पतां ज्योतिर्यज्ञेन कल्पताᳪ स्वर्यज्ञेन कल्पतां पृष्ठं यज्ञेन कल्पतां यज्ञो यज्ञेन कल्पताम्।
र स्तोमश्च यजुश्चऽऋक् च साम च बृहच्च रथन्तरञ्च। स्वर्देवाऽअगन्मामृताऽअभूम प्रजापतेः प्रजाऽअभूम वेट् स्वाहा॥

—यजु० १८।२९

(**आयुः यज्ञेन कल्पतां**) आयु यज्ञ से समर्थ हो। (**प्राणः यज्ञेन कल्पतां**) प्राण यज्ञ से समर्थ हो। (**चक्षुः यज्ञेन कल्पतां**) चक्षु यज्ञ से समर्थ हो। (**श्रोत्रं यज्ञेन कल्पतां**) श्रोत्र यज्ञ से समर्थ हो। (**मनः यज्ञेन कल्पतां**) मन यज्ञ से समर्थ हो। (**आत्मा यज्ञेन कल्पतां**) आत्मा यज्ञ से समर्थ हो। (**ब्रह्मा यज्ञेन कल्पतां**) ब्रह्मा यज्ञ से समर्थ हो। (**ज्योतिः यज्ञेन कल्पतां**) अध्यात्म ज्योति यज्ञ से समर्थ हो। (**स्वः यज्ञेन कल्पतां**) मोक्ष यज्ञ से समर्थ हो। (**पृष्ठं यज्ञेन कल्पतां**) स्तोत्र यज्ञ से समर्थ हो। (**यज्ञः यज्ञेन कल्पतां**) यज्ञ यज्ञ से समर्थ हो। (**स्तोमः च**) स्तोम, (**यजुः च**) और यजुः, (**ऋक् च**) और ऋक्, (**साम च**) और साम, (**बृहत् च**) और बृहत् नामक सामगान, (**रथन्तरं च**) और रथन्तर नामक सामगान [यज्ञ से समर्थ हों]। हम मनुष्यों ने (**देवाः**) देव होकर (**स्वः अगन्म**) जीवन्मुक्ति पा ली है। (**अमृताः अभूम**) हम अमर हो गये हैं। (**प्रजापतेः प्रजाः अभूम**) प्रजापति की

प्रजा हो गये हैं। **(वेट्)** वषट्, **(स्वाहा)** स्वाहा।

मैं चाहता हूँ कि मेरे सब कार्य यज्ञपूर्वक हों, मेरे सब साधन, मेरे शरीर का प्रत्येक अङ्ग, मेरी प्रत्येक क्रिया यज्ञपूर्वक हो। स्वार्थ की सिद्धि के साथ परार्थ की सिद्धि करना ही यज्ञ है। यदि केवल स्वार्थ की सिद्धि होती है, परार्थ के प्रति उदासीनता है, न परार्थ की हानि होती है, न सिद्धि, तो वह यज्ञ नहीं है। हम अग्निहोत्ररूप यज्ञ करते हैं, उसमें भी स्वार्थ की सिद्धि के साथ परार्थ की सिद्धि होती है, क्योंकि यज्ञ से जो पर्यावरणशोधन होता है, उससे सबको लाभ होता है। मैं अपनी आयु यज्ञपूर्वक व्यतीत करूँ, आयु-भर अपनी उन्नति के साथ दूसरों की उन्नति भी करता रहूँ, इसी में मेरी आयु की सफलता है। मैं अपने प्राणों से यज्ञ करता रहूँ, अर्थात् प्राणों से स्वार्थसिद्धि के साथ परार्थसिद्धि भी करता रहूँ। मैं अपने चक्षु, श्रोत्र और वाणी से यज्ञ करता रहूँ। जो कुछ आँख से देखूँ, श्रोत्र से सुनूँ, वाणी से बोलूँ उससे दूसरों का भी भला करूँ। मैं अपने मन को यज्ञ में लगाऊँ। जो कुछ मन से सोचूँ-विचारूँ, सङ्कल्प करूँ, इन्द्रिय-व्यापार में मन को लगाऊँ, उससे दूसरों का भी कल्याण हो। सब ज्ञानों का कर्ता और सब ज्ञानों का ग्रहीता तो मेरा आत्मा है। वह जो कार्य करे और जो ज्ञान उपार्जित करे, उससे दूसरे लोग भी लाभान्वित हों। मेरे द्रव्ययज्ञ का ब्रह्मा जिस यज्ञ का सञ्चालन करता है, उस यज्ञ की पूर्णाहुति से मुझे तो लाभ होगा ही, किन्तु यज्ञ में सम्मिलित सभी भाई-बहिन उससे तृप्त हों। मेरे अन्दर जो ज्ञान की ज्योति जलती है, प्रभु-प्रेम की ज्योति जलती है, उससे मैं तो अध्यात्म-साधना में समुन्नत होऊँगा ही, वह ज्योति अन्यों को भी ज्योतिष्मान् करे। मेरी जीवन्मुक्ति भी मेरी ही मुक्ति का साधन न बने, अपितु अन्यों की दुःखमुक्ति में भी कारण बने। मेरे स्तोत्र केवल मुझे ही भगवत्स्तुति में विभोर न करें, प्रत्युत अन्य भी उन स्तोत्रों से आह्लादित हों। मेरा ब्रह्मयज्ञ, देवयज्ञ, पितृयज्ञ, अतिथियज्ञ, भूतयज्ञ भी मुझे

आह्लादित करने के साथ-साथ अन्यों को भी आनन्दित करे। मेरा स्तोम, मेरा यजुर्वेद पाठ, ऋग्वेदपाठ, सामवेदपाठ, बृहत् नामक सामगान, रथन्तरनामक सामगान भी यज्ञपूर्वक हों अर्थात् मेरे साथ वे अन्यों को भी सुखी करें। इस प्रकार यदि मैं यज्ञपूर्वक सब कर्म सम्पन्न करूँगा, तो मैं उन-उन कार्यों में सफल माना जाऊँगा। केवल अपने लिए कुछ उपलब्धि कर लेने में सफलता नहीं है, जब तक अन्यों को भी उससे कुछ उपलब्धि न हो।

देखो, हम मनुष्य देव बन गये हैं। दिव्यता प्राप्त करके हमने 'स्वः' को पा लिया है, हम जीवन्मुक्त हो गये हैं, हम अमर हो गये हैं, हम मानव सम्राट् की नहीं, प्रजापति की प्रजा हो गये हैं। हम अग्निहोत्र करते हुए प्रत्येक आहुति के साथ 'वषट्' बोलते हैं, 'स्वाहा' बोलते हैं। हे मानवो! अपना प्रत्येक कार्य यज्ञपूर्वक करो, उसी में उस कर्म की सफलता है।

१२४. प्रदिशाएँ मेरे लिए पयस्वती हों

ऋषयः देवाः । देवता अग्निः । छन्दः आर्षी अनुष्टुप् ।

पयः पृथिव्यां पयऽओषधीषु पयो दिव्यन्तरिक्षे पयो धाः ।
पयस्वतीः प्रदिशः सन्तु मह्यम् ॥

—यजु० १८ । ३६

हे अग्रनायक परमेश्वर! आपने (**पृथिव्यां पयः**) पृथिवी में दूध, (**ओषधीषु पयः**) ओषधियों में दूध, (**दिवि पयः**) द्युलोक में दूध, (**अन्तरिक्षे पयः**) अन्तरिक्ष में दूध (**धाः**) रखा है। (**प्रदिशः**) प्राची आदि मुख्य दिशाएँ भी (**मह्यं**) मेरे लिए (**पयस्वती**) दूध-भरी (**सन्तु**) हो जाएँ।

देखो, परमात्मा ने विश्व के अनेक स्थानों में दूध रखा हुआ है। पृथिवी में दूध है। पृथिवी में सलोनी मिट्टी का दूध है, स्रोतों-सरिताओं-सरोवरों का दूध है, सोने-चाँदी का दूध है, हीरे-मोतियों का दूध है, गन्धक का दूध है, गौओं का दूध है, वन-उपवनों का दूध है। ये सब दूध हमारे लिए अमृततुल्य हैं। ओषधियों में भी दूध निहित है। ओषधियों में हरियाली का दूध है, पत्तियों का दूध है, फूलों का दूध है, पके फलों का दूध है। द्युलोक में भी दूध रखा हुआ है। द्युलोक में सूर्यप्रकाश का दूध है, नक्षत्रों की ज्योति का दूध है, आकर्षणशक्ति का दूध है। अन्तरिक्ष में भी परमेश्वर ने दूध रखा हुआ है। अन्तरिक्ष में पवन का दूध है, विद्युद् ज्योति का दूध है, पर्जन्य का दूध है, वृष्टि का दूध है। पृथिवी, ओषधि, द्यौ, अन्तरिक्ष के ये दूध हमारे लिए प्राण बरसाते हैं, हमें शक्ति देते हैं, जीवन देते हैं, वरदान देते हैं, आयुष्य देते हैं, अहोरात्र देते हैं, ऋतुएँ देते हैं, संवत्सर देते हैं, समृद्धि देते हैं, सौभाग्य

देते हैं, अन्न देते हैं, धन-सम्पदा देते हैं, जागृति देते हैं। ये दूध हमें न मिलें, तो ब्रह्माण्ड से जीवन ही समाप्त हो जाए, प्रगति बिखर जाए, उत्कर्ष रुक जाए, रोहण और आरोहण मिट जाएँ, धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष की क्रीडा विरत हो जाए। ये दूध न मिलें, तो ब्राह्मण का ब्राह्मणत्व, क्षत्रिय का क्षात्रबल, वैश्य का वैभव सब लुप्त हो जाएँ। ये दूध न मिलें, तो ब्रह्मचारियों का ब्रह्मचर्य और अध्ययन, गृहस्थों का गृहस्थ-धर्म, वानप्रस्थों की आत्मोन्नति और जनसेवा तथा संन्यासियों का परोपकार शशशृङ्गवत् हो जाएँ। इन दूधों से धनी-गरीब की भूख मिटती है, इन दूधों से हमारी जीवन-यात्रा होती है। ये दूध हमारे लिए संजीवन-रस का काम करते हैं, ये दूध हमारे अन्दर प्राण भरते हैं।

हे परमेश! हे जगदीश्वर! आपने पृथिवी में ओषधियों में, द्यौ में, अन्तरिक्ष में दूध रखा है, तो प्रदिशाओं को भी दूध से भर दो। पूर्व में दूध हो, पश्चिम में दूध हो, उत्तर में दूध हो, दक्षिण में दूध हो। प्रत्येक दिशा दूध से भरपूर हो जाए। प्रत्येक दिशा के वासी दूध पियें, दूध पिलाएँ, दूध में नहाएँ, दूध में सरसें-विकसें, दूध से समृद्ध हों, दूध की पिचकारियाँ छोड़ें, दूध की बाल्टियाँ भरें। दिशाओं में दूध की हवाएँ चलें, दूध की वृष्टि हो, दूध के नदी-नाले बहें। शान्ति का दूध हो, प्रेम का दूध हो, आनन्द का दूध हो, उत्कर्ष का दूध हो, सङ्गठन का दूध हो, सहानुभूति का दूध हो, सत्सङ्ग का दूध हो, मैत्री का दूध हो, ईश्वरोपासना का दूध हो।

१२५. यज्ञ गन्धर्व है, दक्षिणाएँ अप्सरा हैं

ऋषयः देवाः। देवता यज्ञः। छन्दः विराड् आर्षी त्रिष्टुप्।

भुज्युः सुपर्णो यज्ञो गन्धर्वस्तस्य दक्षिणाऽअप्सरसं स्तावा नाम। स नऽइदं ब्रह्म क्षत्रं पातु तस्मै स्वाहा वाट् ताभ्यः स्वाहा॥

—यजु० १८।४२

(**भुज्युः**[१]) पालनकर्ता, सुखभोग करानेवाला, (**सुपर्णः**) शुभ पंखोंवाला (**यज्ञः**) यज्ञः (**गन्धर्वः**) पृथिवी को धारण करनेवाला है, (**दक्षिणाः**) दक्षिणाएँ (**तस्य**) उस यज्ञ की (**अप्सरसः**) अप्सराएँ हैं, (**स्तावाः**[४] **नाम**) जिनका नाम स्तावा है। (**सः**) वह यज्ञ (**नः**) हमारे (**इदं ब्रह्म क्षत्रं पातु**) इस ब्रह्मबल और क्षात्रबल की रक्षा करे। (**तस्मै स्वाहा**) उसके लिए स्वाहापूर्वक आहुति देते हैं, (**वाट्**) वह यज्ञ हमारी आहुति का वहन करे। (**ताभ्यः स्वाहा**) उन दक्षिणाओं के लिए स्वाहा करते हैं।

मनुष्य का जीवन यज्ञमय है। दैनिक यज्ञ, पञ्च महायज्ञ, पर्वयज्ञ, नैमित्तिक यज्ञ, काम्य यज्ञ आदि यज्ञों का तांता लगा रहता है। फिर मनुष्य को अपना जीवन भी यज्ञमय बनाना होता है, जिसके प्रथम २४ वर्ष प्रातःसवन होते हैं, अगले ४४ वर्ष माध्यन्दिन सवन होते हैं और उससे आगे के ४८ वर्ष सायंसवन होते हैं। इस प्रकार जीवन का यह यज्ञ ११६ वर्ष तक चलता है। यह ११६ वर्ष का यज्ञ महिदास ऐतरेय ने किया था, जिसका छान्दोग्य उपनिषद्[५] में वर्णन है। 'त्र्यायुषं जमदग्नेः' आदि मन्त्र के अनुसार तीन सौ वर्ष का भी जीवनयज्ञ हो सकता है।[६] इसी मन्त्र की एक व्याख्या के अनुसार यह यज्ञ चार सौ वर्ष का भी हो सकता है।[७] यज्ञ त्याग और दान

का सन्देश देता है। अपने पास जो कुछ भी ऐश्वर्य है, उससे दूसरों का भी पेट भरना है, दूसरों की भी आवश्यकताएँ पूर्ण करनी हैं। चींटी, कौओं को भी भोजन देना है, अतिथियों का भी सत्कार करना है। यह त्याग की भावना अग्निहोत्रयज्ञ द्वारा आती है। अग्निहोत्र से पर्यावरण शुद्ध होता है। इसलिए मन्त्र में कहा है कि यज्ञ 'भुज्यु' है, यज्ञकर्ता का तथा अन्यों का पालन करनेवाला है, उन्हें सुखभोग करानेवाला है। यज्ञ 'सुपर्ण' है। अग्निज्वाला और वायु ये यज्ञ के दो पंख हैं, जिनसे वह दूर-दूर तक उड़ता है, दूर-दूर तक यज्ञ की रोगहर पोषक सुगन्ध पहुँचाता है। यज्ञ 'गन्धर्व' है, भूमि को धारण करनेवाला है। यज्ञ से ही भूमि टिकी है, अन्यथा यदि सब स्वार्थ को ही देखने लगें, परार्थसिद्धि संसार से मिट जाए, तो भूमि छिन्नविच्छिन्न हो जायेगी। भूमि में राष्ट्र की भावना यज्ञ से ही आती है, जिस राष्ट्र के लिए राष्ट्रवासी बलिदान होने तक के लिए तैयार रहते हैं।

यज्ञ की त्यागभावना को और अधिक स्पष्ट करने के लिए कहा है कि यज्ञ की 'अप्सरा' दक्षिणाएँ हैं। यज्ञ पुरुष-स्त्री दोनों से मिलकर चलता है। यजमान के आसन पर भी पति-पत्नी दोनों बैठते हैं। 'अप्सरस:' का योगार्थ है 'जो प्राणों में साथ-साथ चलती हैं'। दक्षिणाएँ यज्ञ के प्राणों के साथ-साथ चलती हैं, अन्यथा यज्ञ निष्प्राण हो जाए। यज्ञ-समाप्ति पर पुरोहित को भी दक्षिणा दी जाती है और अन्य उपयोगी संस्थाओं को भी दक्षिणा देने की परम्परा है। पर्यावरणशुद्धिरूपी दक्षिणा तो न केवल यज्ञ के प्रारम्भ से यज्ञ-समाप्ति तक, अपितु उसके बाद भी चलती रहती है। इन दक्षिणाओं को मन्त्र में 'स्तावा:' कहा गया है, क्योंकि इनसे ही यज्ञ स्तुति पाता है। आओ, यज्ञ के लिए 'स्वाहा' करें तथा दक्षिणाओं को अपने जीवन का अङ्ग बना लें। यह मन्त्र 'राष्ट्रभृत्' आहुति का है, क्योंकि इससे राष्ट्र का भरण-पोषण होता है। यज्ञ से ब्रह्म-क्षत्र दोनों की रक्षा होगी। विद्वान् ब्राह्मण भी यज्ञ करें,

चक्रवर्ती राजा भी यज्ञ करे। यज्ञ से दोनों अपने-अपने त्यागपूर्ण कर्त्तव्यपालन की शिक्षा लें और राष्ट्र को उन्नत करें।

पाद-टिप्पणियाँ

१. यज्ञो वै भुज्युः, यज्ञो हि सर्वाणि भूतानि भुनक्ति। श० ९.४.१.११। (भुज्युः) भुज्यन्ते सुखानि यस्मात् सः—द०।

२. गां पृथिवीं धरतीति गन्धर्वः।

३. (अप्सरसः) या अप्सु प्राणेषु सरन्ति प्राप्नुवन्ति ताः—द०।

४. दक्षिणा वै स्तावाः, दक्षिणाभिर्हि यज्ञः स्तूयते। यो यो वै कश्च दक्षिणां ददाति स्तूयत एव सः। श० ९.४.१.११

५. छां०उप० ३.१६

६-७. शतवर्षमितानि त्रीणि आयूंषि समाहृतानि त्र्यायुषम्—पा० ५.४.७७ के अनुसार। "त्र्यायुषमित्यस्य चतुरावृत्त्या त्रिगुणादधिकं चतुर्गुणमप्यायुः। ...विद्याविज्ञानसहितमायुरस्ति तद् वयं प्राप्य त्रिवर्षशतं चतुर्वर्षशतं वा ऽऽ युः सुखेन भुञ्जीमहीति।" यजु० ३.६२, द०भा०, भावार्थ।

१२६- सूर्य-सदृश कान्ति से हमें रोचिष्णु करो

ऋषिः शुनःशेपः। देवता अग्निः। छन्दः भुरिग् आर्षी अनुष्टुप्।

यास्तेऽअग्ने सूर्ये रुचो दिवमातन्वन्ति रश्मिभिः।
ताभिर्नोऽअद्य सर्वाभी रुचे जनाय नस्कृधि॥

—यजु० १८।४६

(याः ते) जो तेरी **(अग्ने)** हे अग्नि! **(सूर्ये रुचः[१])** सूर्य में कान्तियाँ हैं, जो **(रश्मिभिः)** किरणों से **(दिवम् आतन्वन्ति[२])** द्युलोक को विस्तीर्ण करती हैं, **(ताभिः सर्वाभिः)** उन सब कान्तियों से **(अद्य)** आज **(नः रुचे[३] कृधि)** हमें कान्तिमान् कर दो, **(जनाय रुचे कृधि)** राष्ट्र के अन्य सब जनों को भी कान्तिमान् कर दो।

हे अग्नि! तेरी महिमा अपार है। तू पृथिवी पर पार्थिव अग्नि के रूप में विराजमान है। पृथिवी की सतह पर भी तेरी ज्वाला जल रही है और भूगर्भ में भी तू अनन्त ताप को सुरक्षित किये हुए है। अन्तरिक्ष में तू विद्युत् के रूप में प्रकाशमान है और द्युलोक में सूर्य, नक्षत्रों, तारामण्डलों तथा उल्कापिण्डों आदि के रूप में भासमान है। हे अग्नि! तेरी जो कान्तियाँ द्युलोक में रश्मियों के रूप में फैली हुई हैं और जिनसे तू सकल ब्रह्माण्ड को कान्तिमान् किये हुए है, उन कान्तियों से हमें भी कान्तिमान् कर दे। हमारे अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय सारे शरीर कान्ति से तेजस्वी हो उठें। हमारा मन ऐसा तेजोमय, प्रभामय एवं प्रतापवान् हो जाए कि उसके सब सङ्कल्प-विकल्प आभान्वित हो उठें, न कि निस्तेज, उदासीन एवं निष्क्रिय रहें। हमारी बुद्धि ऐसी प्रखर हो जाए

कि गूढ़ से गूढ़ रहस्यों को प्रस्फुटित कर सकें। हमारा आत्मा ऐसा सबल, तेजस्वी, प्रभावी और वैद्युत ज्योति से ज्योतिष्मान् हो जाए कि उसका अध्यात्म प्रकाश सकल दैहिक शक्तियों को प्रोज्ज्वल कर दे। हम आध्यात्मिक पुरुष कहलाने के पात्र हो जाएँ। हमारी योगशक्तियाँ प्राञ्जल, दैवी सम्पदा से युक्त, सक्रिय और प्रदीप्त हो उठें। हे अग्नि! हम भी अध्यात्म सम्पत्ति से देदीप्यमान हो जाएँ और हमारे राष्ट्र के अन्य सब जन भी रोचना से रोचिष्मान् बन जाएँ।

हे अग्नि! अपनी द्युलोक की रश्मियों से हम सब राष्ट्रवासियों को रोचिष्णु कर दो।

पाद-टिप्पणियाँ

१. रुचः कान्तयः। रुच दीप्तौ अभिप्रीतौ च, भ्वादिः।
२. आ-तनु विस्तारे, तनादिः।
३. रुग्, रुचौ, रुचः। रुचे, चतुर्थी एकवचन।
४. कृधि=कुरु, छान्दस रूप। श्रुशृणुपृकृवृभ्यश्छन्दसि पा० ६.४, १०२ से कृ धातु से परे लेट् के हि को धि।

१२७. चारों वर्णों में दीप्ति और पारस्परिक प्रेम

ऋषिः शुनःशेप। देवता बृहस्पतिः। छन्दः भुरिग् आर्षी अनुष्टुप्।

रुचं नो धेहि ब्राह्मणेषु रुचꣳराजसु नस्कृधि।
रुचं विश्यैषु शूद्रेषु मयि धेहि रुचा रुचम्॥

—यजु० १८।४८

हे विशाल ब्रह्माण्ड के अधिपति बृहस्पति परमेश्वर! आप (**नः ब्राह्मणेषु**) हमारे ब्राह्मणों में (**रुचं धेहि**) दीप्ति और प्रेम स्थापित करो। (**रुचं**) दीप्ति और प्रेम (**नः राजसु**) हमारे क्षत्रियों में (**कृधि**) करो। (**रुचं**) दीप्ति और प्रेम (**विश्येषु**) वैश्यों में और (**शूद्रेषु**) शूद्रों में [उत्पन्न करो]। (**मयि**) मेरे अन्दर भी (**रुचा**) प्रीति के साथ (**रुचं**) प्रेम को (**धेहि**) स्थापित करो।

हे विशाल ब्रह्माण्ड के अधिपति बृहस्पति परमात्मन्! हे विशाल वाङ्मय के स्वामी बृहस्पति आचार्य! हमारा समाज ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन चार वर्णों में विभक्त है। आप हमारे ब्राह्मणों में ब्राह्मणत्व की दीप्ति और प्रेम उत्पन्न कीजिए। ब्राह्मणत्व कहलाता है ब्रह्मविद्या, वेदविद्या, अन्य विविध विद्या तथा आस्तिकता में नैपुण्य। इसकी प्रभा, इसकी चमक हमारे ब्राह्मणों में हो। 'रुच' धातु के अर्थ दीप्ति और प्रीति होते हैं,[1] अतः 'रुच' का दूसरा अर्थ प्रेम[2] भी ग्राह्य है। ब्राह्मणजन परस्पर प्रीतिभाव रखें और दूसरे वर्णों के साथ भी प्रेम का व्यवहार करें। हमारे राजाओं में, क्षत्रियों में क्षात्र धर्म की दीप्ति और प्रेम उत्पन्न कीजिए। क्षात्रवल की द्युति उनमें ऐसी हो कि वे प्रजा की रक्षा में तथा शत्रु के उच्छेद में सदा तत्पर रहें। पारस्परिक प्रीति भी रखें और ब्राह्मण, वैश्य तथा

शूद्र के साथ भी प्रेम रखें। हमारे वैश्यों में भी वैश्य धर्म की दीप्ति तथा परस्पर और अन्य वर्णों के साथ प्रेमभाव रहे। वैश्य-धर्म है कृषि, व्यापार और पशुपालन। शूद्रों में भी अपने सेवाधर्म की चमक और पारस्परिक प्रेमभाव उत्पन्न कीजिए। आप मेरे अन्दर भी दीप्ति के साथ प्रेमभाव प्रकट कीजिए। इस प्रकार सम्पूर्ण समाज एक-दूसरे के प्रति प्रेम से आबद्ध और अपने-अपने कर्त्तव्यपालन के प्रति जागरूक रहे, तो समाज और राष्ट्र समुन्नत और प्रशस्त कहलाने का गौरव प्राप्त कर सकेंगे।

हे परमेश तथा हे आचार्यवर! आप चारों वर्णों को दूध-पानी की तरह परस्पर मैत्री और प्रीतिभाव से समन्वित करके प्रतिष्ठास्पद कीजिए, यही हमारी प्रार्थना है।

पाद-टिप्पणी

१. रुच दीप्तौ अभिप्रीतौ च, भ्वादिः। 'रुचं प्रेम'—द०।

१२८. स्वर्ग जहाँ मधु और घृत की धारें बहती हैं

ऋषिः विश्वकर्मा। देवता यज्ञः। छन्दः विराड् आर्षी अनुष्टुप्।

यत्र धाराऽअनपेता मधोर्घृतस्य च याः।
तदग्निर्वैश्वकर्मणः स्वर्देवेषु नो दधत्॥

—यजु० १८।६५

(**यत्र**) जहाँ (**मधोः**) मधु की (**घृतस्य च**) और घृत की (**धाराः**) धाराएँ (**अनपेताः**) उपस्थित रहती हैं (**तत् स्वः**) वह स्वर्ग अर्थात् सुखी जीवन (**वैश्वकर्मणः**[1] **अग्निः**) विश्वकर्मा परमेश्वर द्वारा रचित यज्ञाग्नि (**देवेषु**) विद्वानों के मध्य में (**नः दधत्**[2]) हमें प्राप्त कराये।

क्या तुम पूछते हो कि यज्ञाग्नि प्रज्वलित करके उसमें घृत, हवन-सामग्री, पक्वान्न, मेवा आदि की आहुति डालने से क्या फल सिद्ध होता है? श्रुति कहती है कि इस अग्निहोत्र से स्वर्ग प्राप्त होता है। वह स्वर्ग कहीं आकाश में नहीं है, यहाँ पृथिवी पर ही है। हम यज्ञकुण्ड में मन्त्रोच्चारणपूर्वक अग्न्याधान और अग्निप्रदीपन करते हैं, समिदाधान, पञ्च घृताहुतियाँ, जलसेचन, आघार आज्याहुतियाँ, आज्याभागाहुतियाँ, प्रधान होम की आहुतियाँ देकर पूर्णाहुति करते हैं। यह तो दैनिक अग्निहोत्र का विधि-विधान है। अन्य कोई यज्ञ करते हैं, तो उसके लिए निर्धारित विधियाँ करनी होती हैं। सभी यज्ञों में यज्ञ-समिधा पलाश, शमी, पीपल, बड़, गूलर, आम, विल्व आदि की ही प्रयोग में लाते हैं। घृत के अतिरिक्त हवन-सामग्री में चार प्रकार के होम-द्रव्यों का मिश्रण होता है—"प्रथम सुगन्धित कस्तूरी, केशर, अगर, तगर, श्वेत चन्दन,

इलायची, जायफल, जावित्री आदि। द्वितीय पुष्टिकारक घृत, दूध, फल, कन्द, अन्न, चावल, गेहूँ, उड़द आदि। तीसरे मिष्ट शक्कर, सहत, छुवारे, दाख आदि। चौथे रोगनाशक सोमलता अर्थात् गिलोय आदि ओषधियाँ।''

इन यज्ञों से पर्यावरण शुद्ध होता है, वायु-जल आदि सुगन्धित होते हैं, रोग नष्ट होते हैं, शुद्ध जल की वृष्टि होती है। ईश्वर की स्तुति-प्रार्थना-उपासना होती है। सबके मिलकर बैठने से सङ्गठन सुदृढ़ होता है। दान की भावना जागृत होती है। प्रस्तुत मन्त्र में कहा गया है कि विश्वकर्मा परमेश्वर द्वारा रचित यज्ञाग्नि में होम करने से हमें वह स्वर्ग प्राप्त होता है, जिसमें मधु और घृत की धाराएँ बहती हैं। सुखी जीवन ही स्वर्ग है। यज्ञ करने से इस जन्म में भी 'स्वर्ग' अर्थात् सुखी जीवन प्राप्त होता है और इहलोकप्रयाण के बाद भी मनुष्य-जन्म मिलता है और उसमें मधु, घृत आदि की सम्पदा से युक्त सुखी जीवन होता है।

आओ, हम भी यज्ञ करके मधु और घृत की धाराओंवाला स्वर्ग प्राप्त करें।

पाद-टिप्पणियाँ

१. विश्वकर्मणः परमेश्वराज्जातः वैश्वकर्मणः।
२. डुधाञ् धारणपोषणयोः, लेट् लकार।

१२९. सोम में सुरा का मिश्रम

ऋषिः प्रजापतिः । देवता सोमः । छन्दः निचृत् शक्वरी ।

स्वाद्वीं त्वा स्वादुना तीव्रां तीव्रेणामृताममृतेन ।
मधुमतीं मधुमता सृजामि सꣳसोमेन ।
सोमोऽस्यश्विभ्यां पच्यस्व सरस्वत्यै पच्यस्वेन्द्राय सुत्राम्णे पच्यस्व ॥

—यजु० १९ । १

हे सुरा! (**स्वाद्वीं**) स्वादु, (**तीव्रां**) तीव्र, (**अमृतां**) अमृततुल्य (**मधुमतीं**) मधुर (**त्वा**) तुझे (**स्वादुना**) स्वादु, (**तीव्रेण**) तीव्र (**अमृतेन**) अमृततुल्य (**मधुमता**) मधुर (**सोमेन**) सोम के साथ (**संसृजामि**) संयुक्त करता हूँ, मिलाता हूँ। सोम के साथ मिलकर हे सुरा! (**सोमः असि**) तू सोम हो गयी है। (**अश्विभ्यां पच्यस्व**) प्राण और अपान के लिए तू परिपक्व हो। (**सरस्वत्यै पच्यस्व**) विद्या के लिए परिपक्व हो, (**सुत्राम्णे इन्द्राय पच्यस्व**) सुत्राणकर्ता विश्वसम्राट् तथा राष्ट्रसम्राट् के लिए परिपक्व हो।

आओ, सुरा को सोम के साथ मिलायें। किन्तु सुरा को मदिरा समझने की भूल मत कर बैठना। स्वादी, तीव्रा, अमृता, मधुमती सुरा को स्वादु, तीव्र, अमृत, मधुपान् सोम के साथ मिलायें। 'सुरा' है वाक् और 'सोम' है मन। शब्दार्थक 'स्वृ' धातु से 'स्वरा' और व् को उ करके वाणीवाची 'सुरा' शब्द बना है। सोम का अर्थ मन प्रसिद्ध ही है, क्योंकि ईश्वरीय मन से ही सोम (चन्द्रमा) की उत्पत्ति हुई है।[१] वाणी स्वादु भी हो सकती है और बेस्वाद भी, तीव्र भी हो सकती है और हल्की भी, अमृतरूप भी हो सकती है और मृत भी, मधुर भी हो सकती है और कटु भी। इसी प्रकार मन भी स्वादु, तीव्र,

अमृत और मधुमय भी हो सकता है और बेस्वाद, हल्का, मृत और कटु भी। वाणी को मन में मिलाने का तात्पर्य है मौन हो जाना। जब मनुष्य बोलता है, तब मन वाणी में समाहित हो जाता है और जब मौन होता है, तब वाणी मन में समाविष्ट हो जाती है। मन पहले ही स्वादु, तीव्र, अमृत और मधुर है, वाणी का स्वादुत्व, तीव्रत्व अमृतत्व और मधुरत्व भी उसमें मिलकर मन को और भी अधिक स्वादु, तीव्र, अमृत और मधुर बना देता है। वाणी भी सोम में मिलकर सोम हो जाती है, अर्थात् मन में मिलकर मन हो जाती है। मन स्वादुता के साथ विचार करता है, तीव्रता के साथ करता है, अमृत अर्थात् सजीवता के साथ करता है, मधुरता के साथ करता है। परन्तु मनुष्य रहता मौन ही है। जितना ही मन किसी विषय में विचार करेगा, उतने ही उस विषय में उसके विचार परिपक्व होंगे। प्राणापान अर्थात् योगाभ्यास के विषय में विचार परिपक्व होते हैं, सरस्वती अर्थात् विद्या के विषय में विचार परिपक्व होते हैं, सुत्रामा इन्द्र अर्थात् सुत्राणकर्ता विश्वसम्राट् तथा राष्ट्रसम्राट् के विषय में विचार परिपक्व होते हैं। इस प्रकार योगाभ्यास, विभिन्न विद्याओं तथा ईश्वरविज्ञान एवं राजनीति-विज्ञान के विषय में मन पूर्ण चिन्तन कर लेता है। तब मन में समाविष्ट वाणी मन से बाहर आ जाती है और मन द्वारा चिन्तित ज्ञान-विज्ञान का प्रचार करती है। यह है सुरा को सोम में मिलाने का रहस्य।

आओ, हम भी सुरा को सोम में मिलायें, वाणी को मन में संनिहित करके, मौन होकर गम्भीर चिन्तन करें और परिपक्व विचार बनाकर मौन तोड़े तथा वाणी को पुनः प्रवृत्त करके परिपक्व विचारों का प्रचार करें।

पाद-टिप्पणी

१. चन्द्रमा मनसो जातः। य० ३१.१२

१३०. सम्राट् कैसा और किस लिए नियुक्त?

ऋषिः आभूतिः। देवता सोमः। छन्दः निचृद् आर्षी पङ्क्तिः।

उपयामगृहीतोऽस्याश्विनं तेजः सारस्वतं वीर्यमैन्द्रं बलम्।
एष ते योनिर्मोदाय त्वानन्दाय त्वा महसे त्वा ॥

—यजु० १९।८

हे सम्राट्! तू (**उपयामगृहीतः असि**) यम-नियमों से गृहीत है, जकड़ा हुआ है। तेरे अन्दर (**आश्विनं तेजः**) प्राण अपान एवं सूर्य-चन्द्र का तेज है, (**सारस्वतं वीर्यम्**) सारस्वत वीर्य है, (**ऐन्द्रं बलम्**) विद्युत् का बल है। (**एष ते योनिः**) यह राष्ट्र तेरा घर है, आश्रम है, कार्य-स्थल है। (**मोदाय त्वा**) मैं तुझे प्रजा के मोद के लिए नियुक्त करता हूँ, (**आनन्दाय त्वा**) आनन्द के लिए नियुक्त करता हूँ, (**महसे त्वा**) महत्त्व के लिए तुझे नियुक्त करता हूँ।

हे सम्राट्! क्या आपको मालूम है कि हमने आपके अन्दर किन गुणों को देखा है और किसलिए आपको इस पद पर प्रतिष्ठित किया है? आप 'उपयामों' से बंधे-जकड़े हुए हैं। अहिंसा-सत्य-अस्तेय-ब्रह्मचर्य-अपरिग्रह ये पाँच यम और शौच-सन्तोष-तप-स्वाध्याय-ईश्वरप्रणिधान ये पाँच नियम आपको ऊँचा उठाये हुए हैं। इनके पालन करने के कारण सब प्रजाजन प्रसन्नता और विश्वास के साथ आपको अपना नेता स्वीकार करने में गौरव अनुभव करते हैं। आपके अन्दर 'अश्वियुगल' का तेज विद्यमान है। 'अश्विनौ' के अनेक अर्थों में निरुक्तकार ने सूर्य-चन्द्रमा अर्थ भी बताये हैं। आपके अन्दर सूर्य और चन्द्र दोनों का तेज विद्यमान है। जीवन में

दोनों तेजों की आवश्यकता है। सब प्राणी और वनस्पति सूर्य और चन्द्रमा दोनों के तेजों से प्राण ग्रहण करते हैं। सूर्य का तेज उष्ण प्राण और चन्द्रमा का तेज सौम्य प्राण प्रदान करता है। यदि केवल उष्ण प्राण ही प्राप्त हो, तो यह जड़-चेतन जगत् भस्म हो जाए। इसी प्रकार यदि केवल सौम्य प्राण ही प्राप्त हो, तो यह जड़-जङ्गम जगत् सर्दी से ठिठुर कर गल जाए। दोनों तेजों से सप्राण मनुष्य सच्चे अर्थों में तेज से जगमगाता है और अपने सम्पर्क में आनेवालों को तेज से सप्राण करता है। 'आश्विन तेज' से भासमान होने के कारण ही आप सबका नेतृत्व करने में समर्थ हैं। आपके अन्दर 'सारस्वत वीर्य' भी है। सरस्वती का वरदान आपको प्राप्त है, वेदवाणी की शिक्षाएँ आपके आत्मा में ओतप्रोत हैं, विद्या का भण्डार आपके पास विद्यमान है, ज्ञान-विज्ञान की बहुमुखी धाराओं में आप निष्णात हैं। इस कारण भी हम आपको अपना नेता बनाना चाहते हैं। फिर आपके अन्दर 'इन्द्र का बल' भी है, विद्युत्-जैसी चामत्कारिक शक्ति हैं, जो असंख्यों को अपने पीछे चला सकती है। इस कारण भी हम नेतृत्व की वागडोर आपके हाथों में सौंपने के लिए उत्सुक हो रहे हैं।

राष्ट्र का यह राजमहल आपके लिए है। आवश्यकता पड़ने पर राजमहल छोड़कर आपको सड़कों पर भी आना पड़ सकता है। आपको हम राजमुकुट पहना रहे हैं। किस लिए? प्रजा को मोद प्रदान करने के लिए, कष्टों से उबार कर उन्नति के शिखर पर चढ़ा कर प्रफुल्ल करने के लिए, प्रजा को पूजास्पद बनाने के लिए, महिमान्वित करने के लिए, तेजस्विता प्रदान करने के लिए। आप आइये और अपना पदभार ग्रहण कीजिए।

१३१. माता-पिता की सेवा करके अनृण होता हूँ

ऋषिः हैमवर्चिः । देवता अग्निः । छन्दः शक्वरी ।

यदापिपेष मातरं पुत्रः प्रमुदितो धयन् ।
एतत्तदग्नेऽअनृणो भवाम्यहतौ पितरौ मया ।
सम्पृच स्थ सं मा भद्रेण पृङ्क्त विपृच स्थ वि मा पाप्मना पृङ्क्त ॥

—यजु० १९।११

(यत्) जो **(आ पिपेष)** चारों ओर से पीसा है, पीड़ित किया है **(मातरं)** माता को **(पुत्रः)** मुझ पुत्र ने **(प्रमुदितः)** प्रमुदित होकर **(धयन्)** दूध पीते हुए, **(एतत् तद्)** यह वह **(अग्ने)** हे विद्वन्! **(अनृणः भवामि)** अनृण हो रहा हूँ। अब बड़ा होकर **(मया)** मैंने **(पितरौ)** माता-पिता को **(अहतौ)** पीड़ित नहीं किया है, [प्रत्युत उनकी सेवा की है]। हे विद्वानो! आप लोग **(सम्पृचः स्थः)** संपृक्त करनेवाले हो। **(मा)** मुझे **(भद्रेण)** भद्र से **(संपृक्त)** संपृक्त करो, जोड़ो। आप लोग **(विपृचः स्थ)** वियुक्त करनेवाले हो, **(मा)** मुझे **(पाप्मना)** पाप से **(वि पृङ्क्त)** वियुक्त करो, पृथक् करो।

जब मैं बच्चा था, तब माता की गोदी में लेटा हुआ बहुत हाथ-पैर मारता था, किलकारी भर कर मचलता था, उछलता था, प्रमुदित होकर माँ का दूध पीता था, ऐसी गतिविधियाँ करता था कि माँ को पीसे डालता था। माँ के साथ चिपट कर सोता था, बिस्तर पर ही मल-मूत्र कर देता था, माँ मुझे सूखे में कर स्वयं गीले में सोती थी, सब कष्ट सहती थी। जब कुछ बड़ा हुआ, तब घुटनों के बल सरकने लगा। कोई कितनी ही मूल्यवान् वस्तु रखी होती थी, वह मेरे हाथ लग जाती थी, तो उसे गिरा देता था, फेंक देता था। तब भी माँ मुझे कुछ

नहीं कहती थी। ज्यों-ज्यों कुछ बड़ा होता गया, मेरी शरारतें बढ़ती गयीं और मैं माँ को कष्ट ही कष्ट देता गया। फिर भी माँ मुझे दुलराती थी, पुचकारती थी। कभी मार भी देती, तो फिर उठा कर छाती से चिपटा लेती थी। अब तो मैं बहुत बड़ा हो गया हूँ, युवक कहलाने लगा हूँ। बचपन में माँ को दी गयी पीड़ाओं को याद करता हूँ, तो दुःखी होने लगता हूँ। सोचता हूँ, माता-पिता ने बाल्यकाल में मेरी जो सेवा की है, उसका ऋण क्या कभी मैं चुका सकूँगा? मैंने बालपन में जो उन्हें कष्ट पहुँचाये हैं, उनका क्या कभी प्रतीकार कर सकूँगा? मैं उन्हें कष्ट ही कष्ट देता रहा और वे मुझे सुख ही सुख देते रहे। उन्होंने मेरी सेवा की, पढ़ने योग्य हुआ तो पढ़ाया-लिखाया, योग्य बनाया। उनके उस ऋण से मैं अनृण होना चाहता हूँ। अतः मैं आज से व्रत लेता हूँ कि भविष्य में मैं कभी ऐसा काम नहीं करूँगा, जिससे उनका जी दुःखे, उन्हें कष्ट पहुँचे। बचपन में मेरी जैसी सेवा उन्होंने की है, उससे बढ़कर उनकी सेवा करूँगा। पहले मैं उन्हें पैर मारता था, अब उनके चरण दबाऊँगा। वे रोगी होंगे तो उनके लिए औषध लाऊँगा। स्वयं कमा-कमा कर उन्हें खिलाऊँगा, उनकी सब आवश्यकताएँ पूरी करूँगा। हर तरह से उन्हें प्रसन्न रखने का यत्न करूँगा। कभी उनका हनन नहीं करूँगा—"**अहतौ पितरौ मया।**"

हे विद्वानो! आपसे जो सम्पर्क स्थापित करता है, उसे आप सद्गुणों और सत्कर्मों से सम्पृक्त कर देते हो। आपके सदाचरण से वह भी सदाचार की शिक्षा ले लेता है। आप मुझे 'भद्र' से संपृक्त करो, भले कर्मों से जोड़ो। मुझे परोपकार में लगाओ, पर-सेवा में तत्पर करो, परों का कष्ट मिटाने में और उन्हें सुखी करने में संलग्न करो। मेरे विचार भद्र हों, मेरे सङ्कल्प भद्र हों, मेरी चेष्टाएँ भद्र हों। हे विद्वानो! आपसे जो सम्बन्ध जोड़ता है, उसे अभद्र कार्यों से आप वियुक्त कर देते हो, छुड़ा देते हो। मुझे 'पाप' से वियुक्त करो, पृथक् करो। पाप विचार को और पाप कर्म को मैं अपने पास न फटकने दूँ और यदि पाप मैं करूँ, तो आप उसे मेरे अन्दर से निकाल फेंको। मैं आपका गुणगान करूँगा, मैं आपका सदा ऋणी रहूँगा। आपको मेरा नमस्कार है।

१३२. दीक्षा का फल

ऋषिः हैमवर्चिः। देवता यज्ञः। छन्दः आर्षी अनुष्टुप्।

व्रतेन दीक्षामाप्नोति दीक्षयाप्नोति दक्षिणाम्।
दक्षिणा श्रद्धामाप्नोति श्रद्धया सत्यमाप्यते॥

—यजु० १९।३०

(व्रतेन) सत्यभाषण, ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थाश्रमप्रवेश आदि का व्रत लेकर **(दीक्षाम् आप्नोति)** दीक्षा प्राप्त करता है। **(दीक्षया)** दीक्षा लेकर **(आप्नोति)** प्राप्त करता है **(दक्षिणाम्)** दक्षिणा को अर्थात् दीक्षा के फल को। **(दक्षिणा[१])** दक्षिणा से अर्थात् दीक्षा के फल से **(श्रद्धाम् आप्नोति)** श्रद्धा को प्राप्त करता है, अर्थात् उसे दीक्षा आदि सत्कर्मों में श्रद्धा हो जाती है। **(श्रद्धया)** श्रद्धा से **(सत्यम्)** सत्य **(आप्यते)** प्राप्त होता है।

मनुष्य जब कोई व्रत लेता है, तब पुरोहित या गुरु से उसकी दीक्षा लेता है। दीक्षा-यज्ञ में वह सत्पुरुषों तथा माताओं को भी निमन्त्रित करता है, जिससे वे भी जानें कि उसने यह व्रत लिया है और यदि वह व्रत से डिगने लगे, तो उसे सचेत कर दें। बहुतों के सामने व्रत की दीक्षा लेने में उसे व्रतपालन में सहायता मिलती है। दीक्षा लेने से दीक्षा ग्रहण करनेवाले को दक्षिणा प्राप्त होती है, अर्थात् व्रतग्रहण का फल या लाभ मिलने लगता है। जैसे किसी ने ब्रह्मचर्य का व्रत ग्रहण किया, ब्रह्मचर्य की दीक्षा ली, तो कुछ समय ब्रह्मचर्य के पालन से उसे उसका लाभ प्राप्त होने लगा। उसके चेहरे पर कान्ति आ गयी, शरीर में बल आ गया, मन शिवसङ्कल्पयुक्त हो गया, आत्मबल भी प्राप्त हुआ। यह उसे दीक्षा की दक्षिणा मिली,

अर्थात् दीक्षा का फल प्राप्त हुआ। दक्षिणा से श्रद्धा प्राप्त होती है, अर्थात् यह विश्वास जम जाता है कि यह कार्य बहुत अच्छा है। यथा ब्रह्मचर्यपालन से दक्षिणा (लाभ-प्राप्ति) मिली, तो ब्रह्मचर्य के प्रति श्रद्धा जमी कि यह कार्य करना चाहिए। श्रद्धा से वह सत्य हृदयङ्गम हो जाता है। यथा ब्रह्मचर्य में श्रद्धा हुई, तो ब्रह्मचर्यरूप सत्य हृदय में घर कर गया। अब व्रतग्रहणकर्ता कभी ब्रह्मचर्य से विचलित नहीं होगा।

मन्त्रोक्त क्रम प्रत्येक व्रतग्रहण पर घटित हो सकता है। कोई प्रतिदिन प्राणायाम और योगासन करने का व्रत लेता है, इस व्रत की दीक्षा लेता है। प्रतिदिन व्रत पालन करने से उसे दक्षिणा प्राप्त होती है, अर्थात् इसका लाभ प्रतीत होने लगता है। लाभ प्रतीत होने से प्राणायाम और योगासन में श्रद्धा उत्पन्न होती है। श्रद्धा से प्राणायाम और योगासन रूप सत्य आत्मा में प्रतिष्ठित हो जाता है। तब वह अन्यों को भी इसका लाभ बताने लगता है। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने संस्कारविधि में यह मन्त्र वानप्रस्थ आश्रम की दीक्षा के प्रमाणरूप में दिया है। उनके अनुसार "जब मनुष्य ब्रह्मचर्यादि तथा सत्यभाषणादि व्रत अर्थात् नियम धारण करता है, तब उस व्रत से दीक्षा को प्राप्त होता है। दीक्षा से दक्षिणा को अर्थात् सत्कारपूर्वक धनादि को प्राप्त होता है। उस सत्कार से श्रद्धा को अर्थात् सत्यधारण में प्रीति को प्राप्त होता है और श्रद्धा से सत्य विज्ञान या सत्य पदार्थ मनुष्य को प्राप्त होता है। इसलिए श्रद्धापूर्वक ब्रह्मचर्य और गृहाश्रम का अनुष्ठान करके वानप्रस्थ आश्रम अवश्य करना चाहिए।" वैसे प्रत्येक व्रतग्रहण या दीक्षा के लिए यह मन्त्र लागू होता है।

पाद-टिप्पणी

१. दक्षिणा=दक्षिणया। दक्षिणा—आ, पूर्वसवर्णदीर्घ।

१३३- जीवित पितरों का श्राद्ध

ऋषिः प्रजापतिः । देवता पितरः । छन्दः निचृद् अष्टिः ।

पितृभ्यः स्वधायिभ्यः स्वधा नमः पितामहेभ्यः स्वधायिभ्यः स्वधा नमः प्रपितामहेभ्यः स्वधायिभ्यः स्वधा नमः । अक्षन् पितरोऽमीमदन्त पितरोऽतीतृपन्त पितरः पितरः शुन्धध्वम् ॥

—यजु० १९।३६

(**स्वधायिभ्यः पितृभ्यः**) अन्न-जल की इच्छा वाले पिताओं के लिए (**स्वधा**) अन्न-जल हो, (**नमः**) उनका नमस्कार आदि से आदर हो। (**स्वधायिभ्यः पितामहेभ्यः**) अन्न-जल की इच्छावाले दादाओं के लिए (**स्वधा**) अन्न-जल हो, (**नमः**) उनका नमस्कार आदि से आदर हो। (**स्वधायिभ्यः प्रपितामहेभ्यः**) अन्न-जल की इच्छावाले परदादाओं के लिए (**स्वधा**) अन्न-जल हो, (**नमः**) नमस्कार आदि से आदर हो। (**अक्षन्**) भोजन कर लिया है (**पितरः**) पितृजनों ने, (**अमीमदन्त**) हमें आनन्दित कर लिया है (**पितरः**) पितृजनों ने, (**अतीतृपन्त**) हमें तृप्त कर दिया है (**पितरः**) पितृजनों ने। हे (**पितरः**) पितृजनो! आप हमें (**शुन्धध्वम्**) उपदेश देकर शुद्ध-करो।

परम्परानुसार मृतकश्राद्ध केवल पिता, पितामह और प्रपितामह के लिए ही किया जाता है, प्रप्रपितामह आदि के लिए नहीं। वेद में भी पिता, पितामह और प्रपितामह तक का ही नाम आता है, परन्तु वह मृतकश्राद्ध नहीं, जीवितों का श्राद्ध है। प्रतिवर्ष श्राद्ध के पखवाड़े में जिस तिथि को जिसका देहान्त हुआ होता है, उस दिन ब्राह्मणों को जिमाया जाता है तथा उन्हें वस्त्र आदि भेंट किये जाते हैं। समझा यह जाता है

कि हमारे पितरों को यह भोजन और ये वस्त्रादि पहुँच जाते हैं और इनसे वे तृप्त हो जाते हैं, अन्यथा वे भूखे और निर्वस्त्र रहें।

'स्वधा' शब्द निघण्टु में अन्नवाचक और जलवाचक शब्दों में पठित है।[1] मन्त्र कहता है कि अन्न-जल के इच्छुक पिताओं को अन्न-जल दो और नमस्कार आदि से उनका आदर करो। अन्न-जल के इच्छुक पितामहों को अन्न-जल दो और नमस्कार आदि से उनका आदर करो। अन्न-जल के इच्छुक प्रपितामहों को अन्न-जल दो और नमस्कार आदि से उन्हें आदर दो। किसी व्यक्ति के जीवनकाल में उसके अधिक से अधिक प्रपितामह ही जीवित रह सकते हैं। कल्पना कीजिए किसी व्यक्ति का विवाह २५ वर्ष की आयु में हुआ है। सामान्यतया २६ वर्ष की आयु में उसकी सन्तान हो जाएगी। जब २५ वर्ष की आयु में उसके पुत्र का विवाह होगा और उसके पौत्र या पौत्री उत्पन्न होंगे, तब उसकी आयु ५२ वर्ष की होगी, तब वह वानप्रस्थ हो जाएगा। पौत्र का २५ वर्ष की आयु में विवाह होकर जब उसकी सन्तान होगी, तब दादा लगभग ७८ वर्ष का होगा। प्रपौत्र का भी २५ वर्ष की आयु में विवाह होकर जब उसकी सन्तान होगी, तब परदादा की आयु १०५ वर्ष होगी। यदि किसी का विवाह २५ वर्ष से भी कम आयु में हो जाता है, तो प्रपौत्र का पुत्र अपने जीवनकाल में अपने शतवर्षीय प्रपितामह को देख सकेगा। इससे अधिक आयु सामान्यतः नहीं होती है। अतः प्रपितामह तक को ही अन्न-जल देने और नमस्कार आदि से आदर प्रदान करने को वेद कहता है। यदि मृतक-श्राद्ध अभीष्ट होता, तो मृतक को अन्न-जल देना और नमस्कार आदि से आदर देना तो प्रपितामह से पूर्व की पीढ़ियों में भी चल सकता था, अतः प्रप्रपितामह आदि का नाम क्यों नहीं लिया गया? वस्तुतः पुत्र, पौत्र या प्रपौत्र जीवित पितरों का अन्न-जल, नमस्कार आदि से सत्कार कर रहे हैं, अतः वे कहते हैं कि पितृजनों ने भोजन कर लिया

है और आशीर्वाद देकर हमें आनन्दित तथा तृप्त भी कर दिया है। अन्त में पुत्र, पौत्र तथा प्रपौत्र उनसे प्रार्थना करते हैं कि आप हमें उपदेश देकर शुद्ध-पवित्र कीजिए। इस प्रकार यह जीवितों का श्राद्ध चलता है।

यहाँ यह भी द्रष्टव्य है कि यदि पिता-पितामह वानप्रस्थ हो चुके होंगे और प्रपितामह भी वानप्रस्थ या संन्यासी होंगे, तो उन्हें भी कभी-कभी घर बुलाकर उनका सत्कार करना अभीष्ट है। अतएव महर्षि दयानन्द ने अपने भाष्य में इस मन्त्र के भावार्थ में लिखा है—"हे पुत्र, शिष्य, पुत्रवधू आदि जनो! तुम उत्तम अन्नादि पदार्थों से पिता आदि वृद्धों का निरन्तर सत्कार किया करो तथा पितर लोग भी तुमको आनन्दित करें। जैसे पितादि बाल्यावस्था में तुम्हारी सेवा करते हैं, वैसे ही तुम लोग वृद्धावस्था में उनकी सेवा यथावत् किया करो।"

पाद-टिप्पणी

१. स्वधा=जल, निघं० १.१२, अन्न २.७।

१३४. एक देवी

ऋषिः वैखानसः। देवता वैश्वदेवी वाक्। छन्दः विराड् आर्षी त्रिष्टुप्।

वैश्वदेवी पुनती देव्यागाद्यस्यामिमा बह्व्यस्तन्वो वीतपृष्ठाः।
तया मदन्तः सधमादेषु वयꣳस्याम पतयो रयीणाम्॥

—यजु० १९।४४

(**वैश्वदेवी**) सब विद्वानों का हित करनेवाली[1], (**पुनती**) पवित्रता देती हुई (**देवी**) ज्ञान से प्रकाशित वेदवाणी (**आगात्**) आयी है, (**यस्याम्**) जिसके अन्दर (**इमाः बह्व्यः तन्वः**[2]) ये बहुत-सी विस्तीर्ण विद्याएँ (**वीतपृष्ठाः**[3]) व्याप्त पृष्ठों वाली हैं। (**तया**) उससे (**सधमादेषु**[4]) यज्ञों में (**मदन्तः**) आनन्दित होते हुए (**वयं**) हम (**रयीणां पतयः**) धनों के स्वामी (**स्याम**) हो जायें।

एक देवी आयी है। वह सब विद्वानों का हितसम्पादन करती है, अपवित्रों को पवित्र करती है। वह बहुत-सी विद्याएँ जानती है। उससे विद्याएँ सीख कर धनवान् हो जाओ। यह देवी है वेदवाणी। यास्काचार्य के अनुसार जो दान करता है, प्रकाशित होता है, प्रकाशित करता है, उसे देव कहते हैं। देवी स्त्रीलिङ्ग है। वेदवाणी ईश्वरभक्ति, सत्य, अहिंसा आदि का दान करने, स्वयं ज्ञान से प्रकाशित होने तथा अन्यों को ज्ञान से प्रकाशित करने के कारण 'देवी' है। जो वेदवाणी को सीख कर विद्वान् बनते हैं, उन्हें कर्त्तव्याकर्त्तव्य का बोध करा कर यह उनका हित सम्पादन करती है और जो पापाचार से अपवित्र होते हैं उन्हें सदाचार में प्रवृत्त करके यह उन्हें पवित्रात्मा बनाती है। इस वेदवाणी के अन्दर बहुत-सी विस्तीर्ण विद्याएँ भरी हुई हैं। इसमें अध्यात्मविद्या, योगविद्या, प्राणविद्या

और ब्रह्मविद्या भी है, अग्नि-विद्युत्-सूर्य की आग्नेय विद्या भी है, जलविद्या भी है, वायुविद्या भी है, भूगोलविद्या भी है, नक्षत्रविद्या भी है, गणितविद्या भी है, राजनीतिविद्या भी है, यन्त्रविद्या भी है, युद्धविद्या भी है, वर्णाश्रमविद्या भी है, विमानादियानविद्या भी है, सर्पविद्या भी है, हिरण्यविद्या भी है, आयुर्वेदविद्या भी है, धनुर्वेदविद्या भी है, गन्धर्वविद्या भी है, पुनर्जन्म एवं मुक्ति की विद्या भी है, सृष्टिविद्या भी है, कृषिविद्या एवं पशुपालनविद्या भी है। जिन विद्याओं में जिन्हें रुचि हो, उन्हें ध्येय बनाकर वेदवाणी का अध्ययन, पारायण और अनुसन्धान करें, आधुनिक विज्ञान से उसकी तुलना करें। यदि कोई नवीन तथ्य मिलता है, तो उसे आधुनिक विज्ञान से जोड़ें। विभिन्न यज्ञ चलाएँ, उनमें वेदवाणी का प्रयोग करें। सङ्गठन करें, आगे बढ़ें, उत्कर्ष प्राप्त करें, प्रत्येक क्षेत्र में विजयी हों, धन कमायें, दान करें, आनन्दित हों, आनन्दित करें।

हे वैश्वदेवी देवी! तू हमें पवित्र कर, धर्मात्मा बना, दीर्घायुष्य दे, सबसे बड़े सम्राट् परमेश्वर का सखा बना। उसके साथ हम हँसें, खेलें, दिव्यता का झूला झूलें, धन्य हों।

पाद-टिप्पणियाँ

१. विश्वेभ्यो देवेभ्यो विद्वद्भ्यो हिता वैश्वदेवी।

२. (तन्वा:) विस्तृतविद्या:—द०।

३. वीतानि व्याप्तानि पृष्ठानि यासु ता:।

४. सह माद्यन्ति यत्र स सधमादो यज्ञ:। सधमादस्थयोश्छन्दसि पा० ६.३.९६ से सह को सध आदेश।

१३५. जीवित पितरों की श्री मुझे प्राप्त हो

ऋषिः वैखानसः । देवता श्रीः । छन्दः आर्षी अनुष्टुप् ।

ये स॒मा॒नाः सम॑नसो जी॒वा जी॒वेषु माम॒काः ।
तेषा॒ꣳ श्रीर्मयि॑ कल्पताम॒स्मिँल्लो॒के श॒तꣳ समा॑ः ॥

—यजु० १९।४६

(ये) जो **(जीवेषु)** जीवितों में **(समानाः[१])** सप्राण, सचेष्ट, **(समनसः)** मनोबल से युक्त **(मामकाः)** मेरे **(जीवाः)** जीवित पितर हैं, **(तेषां श्रीः)** उनकी श्री **(मयि कल्पतां)** मुझे प्राप्त होती रहे **(अस्मिन् लोके)** इस लोक में **(शतं समाः)** शत वर्ष तक।

मैं अपने पितरों पर दृष्टिपात करता हूँ, तो गर्व से मेरा सिर ऊँचा हो जाता है और मैं उनके प्रति नतमस्तक हो जाता हूँ। ये पितर वानप्रस्थ और संन्यासी मेरे पिता, पितामह, प्रपितामह भी हो सकते हैं, गुरुकुलों के आचार्य भी हो सकते हैं और मुझसे जिनका रक्तसम्बन्ध कुछ नहीं है, किन्तु हैं जो मेरे ही, क्योंकि मुझ-जैसे लोगों के उत्थान के लिए सतत प्रयत्नशील रहते हैं, ऐसे साधु, सन्त, योगी, महात्मा, नेता जन भी हो सकते हैं। देखो, ये महात्मा जङ्गल में वृक्ष के नीचे शिला पर दो-दो घण्टे समाधिस्थ बैठे रहते हैं और जब कभी समाधि-सुख छोड़ कर नगर में जनता को दर्शन देने आते हैं, तब इनके मौन उपदेश से सहस्रों की जनमण्डली कृतार्थ हो जाती है। दूसरे ये भगवे वस्त्रधारी परिव्राजक हैं, जो वेदमन्त्र द्वारा ईशस्तुति करके जब धाराप्रवाह भाषण करते हैं, तब सब अविद्याएँ और भ्रमजाल कटते जाते हैं और असत्य पर सत्य की विजय होती चलती है। इनके सदुपदेश अन्धकार में ज्योति

का कार्य करते हैं। इन योगी सन्त की ओर भी निहारो, जो नगर-नगर में जाकर, योगशिविर लगाते हैं और जनता को हठयोग की क्रियाएँ तथा ध्यानयोग का प्रशिक्षण देते हैं। इन्हें भी देखो, ये मेरे पितामह हैं, जो वानप्रस्थाश्रमी होकर तपस्या का जीवन व्यतीत कर रहे हैं तथा वैदिक ग्रन्थ-लेखन की सारस्वत साधना में संलग्न हैं। ये सभी ज्ञानरसप्रदान द्वारा मेरा और मत्सदृश सहस्रों का पालन करने के कारण पितर हैं। ये मेरे हैं और मैं इनका हूँ। ये 'समानाः' हैं, सप्राण और सचेष्ट हैं। इनके जागरूक प्राणवाला होने के कारण ही सहस्रों-लाखों की जनता मन्त्रमुग्ध की तरह इनके पीछे चलने को तैयार हो जाती है। ये 'समनसः' हैं, मनोबल के धनी हैं। इनके मन में यह शक्ति है कि कष्ट से कराहनेवालों को आशीर्वाद से ही चङ्गा कर देते हैं। ये सब जीवित हैं, मृत पितर नहीं हैं। मैं चाहता हूँ कि इनमें जो 'श्री' है, वह मुझे शत वर्ष तक प्राप्त होती रहे, यावज्जीवन मिलती रहे। इनमें 'श्री' है विद्या की, अगाध पाण्डित्य की, कर्मनिष्ठा की, तपस्या की, ईश्वरभक्ति की, परोपकार की, अनृत से सत्य की ओर ले जाने की। इनमें 'श्री' है अहिंसा की, मैत्रीभाव की, धार्मिकता की, अशिव को शिव और असुन्दर को सुन्दर बनाने की। इनमें 'श्री' है दरिद्रता को दूर करने की, पाप-कालिमा को धोने की, वैरभाव को नष्ट करने की, अशान्ति को शान्ति में बदलने की, सांसारिकता में आध्यात्मिकता लाने की। इनकी यह 'श्री', इनकी यह सम्पदा, इनकी यह ज्योति, इनकी यह विभूति मुझे भी प्राप्त हो, यही मेरी कामना है, यही मेरी साधना है।

पाद-टिप्पणी

१. समानाः=१. सप्राण, सम्-आनाः, अन प्राणने। २. सचेष्ट, सम्-अनिति गतिकर्मा, निघं० २.१४।

१३६. दो मार्ग

ऋषिः वैखानसः। देवता पितरः। छन्दः स्वराड् आर्षी पङ्क्तिः।

द्वे सृतीऽअशृणवं पितॄणामहं देवानामुत मर्त्यानाम्।
ताभ्यामिदं विश्वमेजत्समेति यदन्तरा पितरं मातरं च॥

—यजु० १९।४७

(पितॄणां) पितृजनों के, **(देवानां)** विद्वानों के **(उत)** और **(मर्त्यानां)** मनुष्यों के **(द्वे सृती)** दो मार्ग **(अशृणवम्)** मैंने सुने हैं। **(ताभ्यां)** उन दो मार्गों से **(एजद् विश्वं)** क्रियाशील यह सब जगत् **(समेति)** सञ्चार करता है **(यत् पितरं मातरं च अन्तरा)** जो पिता और माता के अर्थात् द्यौ और पृथिवी के मध्य में है।[1]

मनुष्य-जन्म प्राप्त करके संसार में जो जैसे कर्म करते हैं, उन्हें तदनुसार गति प्राप्त होती है। मनुष्यों की तीन श्रेणियाँ हैं। कुछ लोग 'पितृजन' हैं, जिनमें पिता, पितामह, प्रपितामह आते हैं। कुछ 'देवजन' हैं, जिनमें विद्वान् लोग आते हैं। कुछ 'मर्त्य' हैं, जिनमें साधारण मनुष्य आते हैं। दो मार्ग हैं, एक 'पितृयाण', दूसरा 'देवयान'। उक्त तीनों प्रकार के मनुष्य अपने जीवनयापन के लिए दोनों में से कोई भी मार्ग चुन सकते हैं। 'पितृयाण' है माता-पिता से जन्म प्राप्त करके संसार में विषयभोग का सुख प्राप्त करते हुए जीवन व्यतीत करना। जो इस मार्ग को चुनते हैं वे यदि पशु-पक्षी-कीट-पतङ्ग-सर्प आदि की योनि में जन्म न पाकर कर्मानुसार पुनः मनुष्यजन्म पाते हैं, तो पुनः विषयभोग के सुख में ही लिप्त रहते हैं। इस मार्ग को पितृजन भी चुन सकते हैं, विद्वज्जन भी चुन सकते हैं और साधारण मनुष्य भी चुन सकते हैं। वे पुनः-पुनः किसी योनि में जन्म पाते रहेंगे और जीवन-मरण के चक्र से कभी छूटेंगे नहीं। पुनः-पुनः जन्म पाने में सुख और दुःख दोनों ही उन्हें प्राप्त होते हैं। कभी समृद्धि पाकर और अनुकूल वातावरण

पाकर सुखी होते हैं, तो कभी दरिद्रता से और प्रतिकूल वातावरण से, प्रेमी जनों के कष्ट, मृत्यु आदि से दुःखी भी होते हैं। सुख की अपेक्षा दुःख ही उन्हें अधिक भोगना पड़ता है। कभी व्याधिजन्य दुःख है, कभी अपने बहुमूल्य धन-धान्य की चोरी का दुःख है, कभी डाकुओं द्वारा लूटे जाने का दुःख है, कभी स्त्री-पुत्रादि के बिछोह का दुःख है। वे सुख-साधन जुटाते हैं, किन्तु कभी-कभी सुख-साधन भी दुःख के कारण बन जाते हैं। जैसे प्रासाद बनवाया सुख के लिए, किन्तु वर्षा या भूकम्प से छत कच्ची होकर गिर जाने से परिवार के लोग यमलोक चले गये, तो सुखसाधन भी दुःख का कारण बन गया। इसी प्रकार सिंह-व्याघ्र आदि द्वारा हानि पहुँचाये जाने का भी दुःख होता है। अनावृष्टि, अतिवृष्टि भूकम्प, नदी की बाढ़ आदि से आक्रान्त होकर भी मनुष्य दुःख पाते हैं। विषयभोग से जो सुख प्राप्त होता है, वह भी रोग आदि हो जाने से दुःख का कारण बन जाता है। इस प्रकार पितृयाण मार्ग का अवलम्बन करनेवाले लोग चाह सुख की ही करते हैं, किन्तु वस्तुतः उन्हें भोगने दुःख ही अधिक पड़ते हैं।

दूसरा मार्ग है 'देवयान'। इस मार्ग को भी पूर्वोक्त तीनों प्रकार के लोग चुन सकते हैं, वे विषयभोग की लालसा को छोड़कर सदाचारपूर्वक अपना धार्मिक जीवन व्यतीत करें, अन्य लोगों के साथ मैत्री का व्यवहार करें, व्रत-उपवास आदि करें, योगाभ्यास, ध्यान और साधना द्वारा परमेश्वर में मन को लगायें, निष्काम कर्म करें, अहिंसा-सत्य-अस्तेय आदि यमों का और शौच-सन्तोष-तप आदि नियमों का पालन करें, धारणा-ध्यान-समाधि में मन लगायें, तो वे जन्म-मरण के बन्धन से छूट कर मोक्ष प्राप्त कर सकते हैं। अतः मन्त्र में कहा गया है कि जो भी पिता-माता अर्थात् द्यावापृथिवी के मध्य में स्थित सब जगत् है, वह इन्हीं मार्गों से गति करता है और उसका फल प्राप्त करता है।

अतः आओ, हम भी अपने विवेक का प्रयोग करें और इन मार्गों में से जो श्रेयस्कर है, उसी को चुन कर तदनुसार अपने जीवन को चलायें।

पाद-टिप्पणी

१. द्यौः पिता पृथिवी माता। "असौ वै पिता इयं माता" श० १२.८.१.२१

१३७. प्रजननशक्ति-वर्धक हवि

ऋषिः वैखानसः। देवता अग्निः। छन्दः निचृद् अष्टिः।

इदं हविः प्रजननं मेऽअस्तु दशवीरꣳसर्वगणꣳस्वस्तये।
आत्मसनि प्रजासनि पशुसनि लोकसन्यभयसनि।
अग्निः प्रजां बहुलां मे करोत्वन्नं पयो रेतोऽअस्मासु धत्त॥

—यजु० १९।४८

(**इहं हविः**) यह हवि (**मे**) मेरे लिए (**प्रजननम् अस्तु**) प्रजननशक्ति देनेवाली हो, तथा (**सर्वगणं**) सब अङ्गों को पुष्ट करनेवाली हो। यह (**आत्मसनि**) आत्मिक शक्ति को देनेवाली, (**प्रजासनि**) सन्तान देनेवाली, (**पशुसनि**) पशु देनेवाली, (**लोकसनि**) लौकिक सुख देनेवाली और (**अभयसनि**) अभय देनेवाली हो। (**अग्निः**) हवि ग्रहण करनेवाला यज्ञाग्नि (**मे**) मेरे लिए (**बहुलां प्रजां करोतु**) बहुत सन्तान देवे। हे ऋत्विजो! तुम (**अन्नं**) अन्न, (**पयः**) दूध और (**रेतः**) वीर्य (**अस्मासु धत्त**) हमें प्राप्त कराओ।

कर्मकाण्ड में इससे पूर्व के मन्त्र से अग्नि में दूध की आहुति दी जाती है और इस मन्त्र से यजमान पात्र में शेष दूध को पी लेता है। यह तो प्रचलित कर्मकाण्ड की प्रक्रिया है। हम इस मन्त्र का विनियोग इस रूप में भी कर सकते हैं कि इस मन्त्र का पाठ करके यजमान यज्ञाग्नि में दूध की आहुति भी दे और अवशिष्ट दूध का पान भी करे। इस प्रकार दूध की हवि यज्ञाग्नि में भी पड़े और यजमान की जाठराग्नि में भी। दोनों अग्नियों में दूध की हवि पड़ने से यजमान की प्रजनन-शक्ति की वृद्धि होगी, ऐसा आशय प्रतीत होता है। प्रातःसायं यज्ञाग्नि में गोदुग्ध की हवि देने से तथा प्रातः और रात्रि गोदुग्ध का पान करने से प्रजनन-शक्ति बढ़ती है। शतपथ

ब्राह्मण में 'दशवीर' से दस प्राणों का ग्रहण किया है[१]। यह हवि दस प्राणों की शक्ति को भी बढ़ाती है। वहीं 'सर्वगण' से सब अङ्गों का ग्रहण किया गया है।[२] सब अङ्गों की शक्ति भी इस हवि से बढ़ती है। अङ्गों में ज्ञानेन्द्रियाँ, कर्मेन्द्रियाँ, हृदय, तिल्ली, जिगर आँतें, रक्तनाड़ियाँ, फेंफड़े आदि सब आ जाते हैं। मन्त्र कहता है कि यह हवि आत्मिक शक्ति को भी बढ़ाती है,[३] मन-बुद्धि-आत्मा इससे प्रभावित होते हैं, इससे प्रजनन-शक्ति बढ़कर सन्तानें भी बलवान् और बुद्धिमान् होती है। गाय, बकरी आदि पशु पालने की शक्ति और योग्यता भी इससे उत्पन्न होती है। लौकिक और आध्यात्मिक दोनों प्रकार के सुख भी इससे प्राप्त होते हैं। आत्मा में निर्मलता भी आती है। प्रजा अर्थात् पुत्र-पुत्रियाँ बहुल अर्थात् अधिक संख्या में उत्पन्न करने की शक्ति भी मिलती है। शतपथ ब्राह्मण में जनक याज्ञवल्क्य से पूछते हैं कि अग्निहोत्र किस हवि से किया जाए, तब याज्ञवल्क्य ने सबसे पहले दूध का ही नाम लिया है[४]। प्रजनन-शक्ति बढ़ानेवाली शतावरी आदि अन्य ओषधियाँ भी हैं, जिनकी यज्ञाग्नि में तथा जाठराग्नि में हवि देने से लाभ मिलता है। शतावरी ओषधि वीर्यवर्धक है, इसका वर्णन अथर्ववेद में भी आता है। अन्त में यज्ञ के ऋत्विजों होता, उद्गाता, अध्वर्यु, ब्रह्मा से कहते हैं कि तुम हमें अन्न और दूध सुलभ कराओ, जिनके खान-पान से हमारे शरीर में वीर्य बनेगा। यह अन्न और दूध यज्ञशेष के रूप में हमें प्राप्त हो और कृषि तथा गोपालन द्वारा भी हम प्राप्त करें। हवि में ऐसी सात्त्विक एवं बलप्रद ओषधियाँ भी ग्राह्य हैं, जिनसे आत्मबल, निर्भयता आदि भी विकसित हों।

पाद-टिप्पणियाँ

१. प्राणा वै दशवीराः, प्राणानेवात्मन् धत्ते। श० १२.८.१.२२
२. अङ्गानि वै सर्वे गणाः, अङ्गान्येवात्मन् धत्ते। श० वही
३. आत्मानं सनोति ददातीति आत्मसनि। षणु दाने।
४. श० ११.३.१.१-३

१३८. अग्निष्वात्त और अनग्निष्वात्त पितर

ऋषिः शङ्खः। देवता पितरः। छन्दः विराड् आर्षी त्रिष्टुप्।

येऽअग्निष्वात्ता येऽअनग्निष्वात्ता मध्ये दिवः स्वधया मादयन्ते।
तेभ्यः स्वराडसुनीतिमेतां यथावशं तन्वं कल्पयाति॥

—यजु० १९।६०

(**ये**) जो (**अग्निष्वात्ताः**) अग्निविद्या को सम्यक् प्रकार से ग्रहण किये हुए और (**अनग्निष्वात्ताः**) अग्नि-भिन्न ज्ञानकाण्ड को सम्यक् प्रकार से ग्रहण किये हुए पितृजन (**दिवः मध्ये**) ज्ञान-प्रकाश के मध्य में (**स्वधया**) स्वकीय धारणविद्या से (**मादयन्ते**) सबको आनन्दित करते हैं (**तेभ्यः**) उनके लिए (**स्वराड्**) स्वराट् परमात्मा (**एताम् असुनीतिं तन्वं**) इस प्राणक्रिया प्राप्त शरीर को (**यथावशं**) इनकी इच्छानुसार (**कल्पयाति**) समर्थ बनाये अर्थात् स्वस्थ और दीर्घायु करे।

उवट और महीधर ने अग्निष्वात्त तथा अनग्निष्वात्त मृत पितर माने हैं, जो स्वर्गलोक में रहते हैं। उनके अनुसार अग्निष्वात्त वे पितर हैं, जिनका अग्नि स्वाद ले चुका है, अर्थात् जिनका अन्त्येष्टि-कर्म हो चुका है और अनग्निष्वात्त पितर वे हैं, जिनका किसी कारण अन्त्येष्टि द्वारा अग्निदाह नहीं हुआ है[१], जैसे, जो जल में डूब कर मरे हैं या सिंह-व्याघ्र आदि ने जिन्हें खा लिया है, अथवा जो भूकम्प आदि दुर्घटना में दब कर मर गये हैं। स्वामी दयानन्द इन्हें जीवित पितर ही मानते हैं। उनके मत में अग्निविद्या को जिन्होंने सम्यक्प्रकार गृहीत किया है, वे अग्निष्वात्त हैं। ये अग्नि परमेश्वराग्नि, यज्ञाग्नि, शिल्पाग्नि, विद्युद्रूप अग्नि, सूर्यरूप अग्नि सभी हो सकते हैं,

अर्थात् अग्निष्वात्त पितर अग्निविद्या के पण्डित हैं।[२] इसमें कर्मकाण्ड भी सम्मिलित है। अग्निभिन्न विद्या वा विद्याओं को जिन्होंने ग्रहण किया है, वे अनग्निष्वात्त पितर हैं। ये अग्निभिन्न विद्याएँ योगविद्या, आयुर्वेदविद्या भूगर्भविद्या, खगोलविद्या आदि अनेक हो सकती हैं।[३] ये अग्निष्वात्त और अनग्निष्वात्त पितर हमारे पिता, पितामह, प्रपितामह, माता, मातामह, प्रमातामह, आचार्य तथा अन्य पूज्य विद्वज्जन होते हैं। ये हमारे पितर 'द्यौ' के मध्य में अर्थात् ज्ञानप्रकाश में विचरते हैं। किन्हीं को अग्निविद्या का प्रकाश प्राप्त है, किन्हीं को अग्निभिन्न विद्याओं का प्रकाश उपलब्ध है। जैसे हम सूर्य के प्रकाश में विचरते हैं, ऐसे ये ज्ञान के प्रकाश में विचरते हैं। इनके अन्दर 'स्वधा' होती है, स्वयं को धारण करने की शक्ति विद्यमान रहती है। ये विघ्नों, आपदाओं, प्रतिकूलताओं से विचलित न होकर स्थिर और स्थितप्रज्ञ रहते हैं। इस स्वधा-शक्ति से ये स्वयं को तो आनन्दित करते ही हैं, अपने सम्पर्क में आनेवाले अन्य जनों को भी आनन्दलाभ कराते हैं। इन पितरों के लिए स्वराट् परमात्मा से प्रार्थना की गयी है कि वह प्राणव्यापार से युक्त इनके शरीर को इनकी इच्छा के अनुसार समर्थ बनाये, स्वस्थ और दीर्घायु करे, जिससे ये चिरकाल तक अपनी विद्याओं द्वारा मानवों का हित-सम्पादन करते रहें।

पाद-टिप्पणियाँ

१. ये अग्निष्वात्ताः ये पितरः अग्निष्वात्ता अग्निना आस्वादिताः, ये च अनग्निष्वात्ताः श्मशानकर्म अप्राप्ताः—उवटः।

२. (अग्निष्वात्ताः) अग्निः परमेश्वरो ऽभ्युदयाय सुष्ठुतया आत्तो गृहीतो यैस्ते ऽग्निष्वात्ताः। तथा होमकरणार्थं शिल्पविद्यासिद्धये च भौतिकोऽग्निरात्तो गृहीतो यैस्ते। ऋ०भा०भू०, पितृयज्ञविषयः।

३. (ये अग्निष्वात्ताः) ये अग्निविद्यायुक्ताः, (अनग्निष्वात्ताः) वायुजल भूगर्भविद्यादिनिष्ठाः—वही।

१३९. मेरी कामनाएँ पूर्ण हों

ऋषिः प्रजापतिः। देवता समित्। छन्दः स्वराड् अतिशक्वरी।

एधोऽस्येधिषीमहि समिदसि तेजोऽसि तेजो मयि धेहि।
समाववर्ति पृथिवी समुषाः समु सूर्यः। समु विश्वमिदं जगत्।
वैश्वानरज्योतिर्भूयासं विभून्कामान्व्यश्नवै भूः स्वाहा॥

—यजु० २०। २३

हे परमेश्वर! आप (**एधः[१] असि**) संवृद्ध हो और संवृद्धि देनेहारे हो। आपकी कृपा से हम भी (**समिधीमहि**) संवृद्धि पायें। आप (**समिद्[२] असि**) मशाल के समान आत्मा के प्रकाशक हो, (**तेजः असि**) तेजस्वी हो, (**तेजः मयि धेहि**) मुझमें भी तेज स्थापित करो। आपकी व्यवस्था से (**पृथिवी समाववर्ति**) भूमि सम्यक् आवर्तन कर रही है, घूम रही है, (**सम् उषाः**) उषा भलीभाँति घूम रही है, (**सम् उ विश्वम् इदं जगत्**) यह सारा जगत् ही घूम रहा है। (**वैश्वानरज्योतिः भूयासम्**) मैं वैश्वानर अग्नि की ज्योति के समान होऊँ। (**विभून् कामान् व्यश्नवै**) व्यापक कामनाओं को पूर्ण करूँ। (**भूः**) मैं सत्तावान् होऊँ। (**स्वाहा**) यह मेरी प्रार्थना पूर्ण हो।

जब मैं इस विशाल ब्रह्माण्ड के रचयिता जगदीश्वर की ओर दृष्टि फेरता हूँ और उसकी रची इस प्रकृति को निहारता हूँ, तब मैं आश्चर्यचकित रह जाता हूँ। हे सद्गुणनिधान परमेश्वर! आप स्वयं संवृद्ध हो, सबसे महान् हो। आप परिश्रमी शरणागतों को भी संवृद्ध और महान् बनानेवाले हो। आपकी कृपा से हम भी संवृद्ध और महान् बनें। क्षुद्र कीट-पतङ्गों की भाँति संसार में जन्म लें और चले जाएँ, ऐसा जीवन हम नहीं चाहते। आप तो हमें ऐसा महान् बना दो कि

सहस्राब्दियों तक जगत् हमारी महत्ता को स्मरण करता रहे। हे परमेश! आप जलती हुई मशाल हो, मशाल के समान जन-जन की आत्माओं के प्रकाशक हो, मार्गदर्शक हो। हे देवेश! आप तेजोमय हो, सूर्य चन्द्र-तारकावलि से बढ़कर तेजोमय हो। आप हमें भी तेजस्वी बना दो, हमारे आत्मा, मन, बुद्धि और प्राणों को तेजस्विता से ओतप्रोत कर दो।

हे अखिलेश! जब हम ब्रह्माण्ड में आपकी व्यवस्था को देखते हैं, तब मुग्ध हो जाते हैं। आपके रचे नियमों के अनुसार ही यह भूमि लट्टू के समान अपनी धुरी पर घूमती हुई अण्डाकृति मार्ग पर सूर्य के चारों ओर भी घूम रही है। इसी से दिन-रात और ऋतुचक्रप्रवर्तन की व्यवस्था आप कर रहे हो। हे विश्वपति! आप ही उषा को भी घुमा रहे हो। आपके ही नियम का अनुसरण करके प्रतिदिन प्राची में उषा झिलमिलाती है और उसके पश्चात् सूर्य उदित होता है। तमःस्तोम छँट कर प्रकाश की आभा भूमण्डल में बिखर जाती है। केवल पृथिवी, उषा और सूर्य ही नहीं, यह सम्पूर्ण जगत् ही आवर्तन कर रहा है, कुम्भकार के चक्र के समान घूम रहा है और सर्जन कर रहा है अचरज पैदा करनेवाले नाना पदार्थों को। आपकी इस करनी पर हम नतमस्तक हैं।

हे जगत्स्रष्टा! तुमने सर्वजनहितकारी, जाज्वल्यमान वैश्वानर अग्नि को बनाया है। मुझे भी तुम अग्नि के तुल्य ज्योतिष्मान् बना दो। कहाँ तक मैं तुम्हारी सृष्टि और अपनी कामनाओं का बखान करूँ! एक सूत्र में इतना ही कहता हूँ कि मेरी कामनाएँ क्षुद्र न होकर विभु हों, महती हों, जनकल्याण चाहनेवाली हों और तुम्हारी कृपा से वे पूर्ण भी होती रहें। हे देवाधिदेव! मैं सत्तावान् बनूँ, जग में मेरा महान् यशस्वी अस्तित्व हो। 'स्वाहा'—मेरे इन सुवचनों को पूर्ण करो।

१४०. हमने ज्ञान-कर्म-भक्ति की त्रिवेणी बहायी है

ऋषिः विदर्भिः । देवता अश्विसरस्वतीन्द्राः । छन्दः आर्षी अनुष्टुप् ।

समिद्धोऽअग्निरश्विना तप्तो घर्मो विराट् सुतः ।
दुहे धेनुः सरस्वती सोमꣳशुक्रमिहेन्द्रियम् ॥

—यजु० २०।५५

(**अश्विना**) हे व्यापक गुणोंवाले वानप्रस्थी-संन्यासी! हमने (**समिद्धः अग्निः**) प्रदीप्त कर लिया है ज्ञानाग्नि को, (**तप्तः घर्मः**) तपा लिया है कर्मयोगरूप यज्ञकुण्ड को, (**विराट् सुतः**) विशाल रूप में भक्तिरस प्रवाहित कर लिया है। (**दुहे**[1]) दुह रही है (**इह**) इस जीवन में (**सरस्वती धेनुः**) वेदमातारूप गाय (**सोमम्**) शान्ति को, (**शुक्रम्**[2]) पवित्र यश को, और (**इन्द्रियम्**[3]) आत्मबल को।

क्या तुम हमें पहचान रहे हो कि हम कौन हैं? नहीं पहचान सकोगे। किसी समय तुमने हमें महा अज्ञानी, अकर्मण्य और नास्तिक देखा था। आज हम प्रभुकृपा से और सन्तों के संग से कुछ और ही हो गये हैं। हमने अपने जीवन में ज्ञान की अग्नि प्रदीप्त कर ली है। विद्वानों के पास बैठकर वेद-वेदाङ्गों का अध्ययन किया है, उपवेद पढ़े हैं, षड्दर्शनों का रहस्य पता लगाया है, चौंसठ कलाओं में से भी कुछ कलाएँ सीखी हैं, आधुनिक ज्ञान-विज्ञान के ग्रन्थों का भी अवलोकन किया है। फिर भी हम जानते हैं कि हमारा यह ज्ञान समुद्र में बूंद के समान है। अतः अपने ज्ञान का हमें अभिमान नहीं है। हम अब भी विद्यार्थी बने हुए हैं। ज्ञानाग्नि के संग्रह के साथ-साथ हमने कर्मयोगरूप यज्ञ का चूल्हा भी तपाया है,

कर्मकाण्ड की शिक्षा भी प्राप्त की है। मनुष्य के जो कर्तव्य कर्म हैं, उनका भी पालन किया है। धर्म के धृति क्षमा आदि दसों अङ्गों को अपने जीवन में क्रियान्वित किया है। फिर ज्ञान और कर्म के साथ भक्तिरस भी प्रवाहित किया है। यम, नियम, आसन, प्राणायाम आदि योगाङ्गों का अभ्यास करके प्रभुभक्ति में लीन होकर प्रभु का प्रसाद प्राप्त किया है। ब्रह्मानन्द की सरिता अपने अन्तरात्मा में बहायी है। प्रभु के सखा बनकर उनके साथ अध्यात्म-झूले में झूलने का प्रयास किया है। प्रभु के साथ आनन्द-तरंगिणी में तैरने का सौभाग्य अधिगत किया है। इस प्रकार हमारे जीवन में अब ज्ञान, कर्म और भक्ति की त्रिवेणी बह रही है।

हमें सरस्वतीरूपा कामधेनु का दुग्धामृत भी प्राप्त हो रहा है। वेदमाता सरस्वती ने हमें जीवन में सोमरस दिया है, शान्ति दी है, 'शुक्र' अर्थात् पवित्र यश प्रदान किया है। 'इन्द्रिय' अर्थात् आत्मबल दिया है। इस शान्ति, पावन यश और आत्मबलरूप दूध के आस्वादन से हम कृतकृत्य हो गये हैं, धन्य हो गये हैं।

हे व्यापक गुणोंवाले वानप्रस्थ और संन्यासीरूप अश्विनी-कुमारो! हमारी इस उपलब्धि में तुम्हारा उपदेश और तुम्हारी कृपा भी कारण है। अतः हम तुम्हें नमन करते हैं।

पाद-टिप्पणियाँ

१. दुह प्रपूरणे। दुहे=दुग्धे। 'लोपस्त आत्मनेपदेषु' पा० ७.१.४१ से त का लोप।
२. शुक्रम्, शुचिर पूतीभावे, औणादिक रन् प्रत्यय।
३. इन्द्रेण आत्मना जुष्टम् इन्द्रियम् आत्मबलम्।

१४१. जीवन में मधु, विद्या, यश श्री हो

ऋषिः विदर्भिः। देवता अश्विसरस्वतीन्द्राः। छन्दः आर्षी अनुष्टुप्।

अश्विना भेषजं मधु भेषजं नः सरस्वती।
इन्द्रे त्वष्टा यशः श्रियं रूपंरूपमधुः सुते॥

—यजु० २०।६४

(**अश्विना**) प्राणापानों ने (**भेषजं मधु**) मधुरूप औषध प्रदान की है, (**भेषजं नः सरस्वती**) वेदमाता सरस्वती ने वेदार्थरूप औषध प्रदान की है। (**त्वष्टा**) जगत्स्रष्टा प्रभु ने (**इन्द्रे**) जीवात्मा में (**यशः श्रियम्**) यश और श्री दी है। इस प्रकार उक्त सब देवों ने (**सुते**) जीवन-यज्ञ में (**रूपम्-रूपम्**) तरह-तरह का रूप (**अधुः**[१]) रख दिया है।

हमारे जीवन में जो सरलता, सरसता, समस्वरता, यश, श्री आदि है, वह हमने विभिन्न देवों से प्राप्त की है। अश्वियुगल के पास 'मधु' औषध है। वे मधुविद्या के आविष्कारक हैं। 'अश्विनौ' से यहाँ प्राण-अपान अभिप्रेत हैं। प्राण-अपान शरीर, मन और आत्मा में समस्वरता, सामञ्जस्य, मधुरता, सहृदयता, शान्ति आदि लाते हैं। इन्हीं युगल देव 'अश्विनौ' का मधु रूप भेषज है। सरस्वती देवी 'रसमयी वेदमाता' है। उससे प्राप्त होनेवाले भेषज का वर्णन अथर्ववेद काण्ड १९ के ७१वें सूक्त 'स्तुता मया वरदा वेदमाता' आदि में किया गया है। वेदमाता हमें उत्कृष्ट आयु, उत्कृष्ट प्राण, उत्कृष्ट सर्जनशक्ति (प्रजा), उत्कृष्ट दूर दृष्टि (पशु), उत्कृष्ट कीर्ति, उत्कृष्ट धन व बल (द्रविण) और उत्कृष्ट ब्रह्मवर्चस प्रदान करती है। वेद के मन्त्रों में इनकी प्रेरणा भरी पड़ी है। 'त्वष्टा' अर्थात् जगत् के कारीगर परमेश्वर ने हमारे अन्दर यश और श्री उत्पन्न की

है। मनुष्य में अन्य जीवों की अपेक्षा मन, मस्तिष्क, वाणी आदि की शक्ति विशेष है। वह चिन्तन कर सकता है, उचित निर्णय ले सकता है, अपनी बात को वाणी से प्रकट कर सकता है। यही उसका यश है। इसके अतिरिक्त वह ऐसे-ऐसे विज्ञान के ग्रन्थ लिख सकता है, ऐसे-ऐसे महान् कार्य कर सकता है, जिनसे उसकी कीर्ति अमर हो जाती है। यह विशेषता त्वष्टा प्रभु ने ही उसे दी है। त्वष्टा देव ने उसे 'श्री' अर्थात् शोभा या सौन्दर्य भी प्रदान किया है। सब शरीरों में मानव-शरीर ही त्वष्टा देव की अमर कृति है। इसी को देख कर अथर्ववेद का कवि आश्चर्यचकित होता हुआ कहता है—
"किसने इस शरीर में रूप भरा है, किसने महिमा भरी है, किसने यश भरा है, किसने इसे गति दी है, किसने ज्ञान दिया है, किसने इसे चरित्र दिया है।[२]"

मन्त्र में यद्यपि अश्विनौ, सरस्वती तथा त्वष्टा की कृतियों का ही वर्णन है, तथापि अन्य वैदिक देवों ने भी हमारे अन्दर अपने-अपने रूप भरे हैं। यथा वरुण ने पापनिवारण का, इन्द्र ने वीरता का, मित्र ने मित्रता का अग्नि ने तेजस्विता तथा अग्रगामिता का और वायु ने वेग का रूप भरा है।

आओ, देवों द्वारा सजाये-संवारे गये मन, बुद्धि, आत्मा, प्राण आदि सहित इस देह का हम और भी अधिक शृङ्गार करें, इसे और भी अधिक गुणवान् बनायें।

पाद-टिप्पणियाँ

१. डुधाञ् धारणपोषणयोः, लुङ्।
२. अथर्व० १०.२.१२

१४२. मातृभूमि का आह्वान

ऋषिः वामदेवः । देवता अदितिः । छन्दः आर्षी त्रिष्टुप् ।

महीमू षु मातरꣳसुव्रतानामृतस्य पत्नीमवसे हुवेम।
तुविक्षत्रामजरन्तीमुरूचीꣳ सुशर्माणमदितिꣳसुप्रणीतिम्॥

—यजु० २१.५

आओ, (**महीं**) महिमान्विता, (**सुव्रतानां मातरम्**) शुभ व्रतों की माता, (**ऋतस्य पत्नीं**) सत्य की पालयित्री, (**तुविक्षत्रां**[१]) बहुत क्षात्रबलवाली, (**अजरन्तीं**) जीर्ण न होनेवाली, (**उरूचीं**[२]) बहुत प्रगतिशील, (**सुशर्माणं**[३]) सुन्दर भवनोंवाली, बहुत सुख देनेवाली, (**सुप्रणीतिम्**) शुभ प्रकृष्ट नीतिवाली (**अदितिं**[४]) खण्डित न होनेवाली मातृभूमि को (**अवसे**[५]) रक्षा के लिए (**हुवेम**) पुकारें।

मैं अपनी मातृभूमि को पुकारता हूँ, राष्ट्रभूमि का आह्वान करता हूँ। कैसा प्यारा शब्द है 'मातृभूमि'! आनन्दमग्न हो जाता हूँ इसे याद करके। जब कभी विदेश से स्वदेश को आता हूँ, तब विमान से मातृभूमि पर उतरते ही एक गुदगुदी मचती है हृदय में, जैसे बच्चे को माँ की गोद में आने पर होती है। बलिहारी होता हूँ अपनी मातृभूमि पर। इसकी धूल मस्तक पर लगा कर तृप्त हो जाता हूँ। मेरी मातृभूमि 'मही' है, महती है, महिमामयी है। यह सुव्रतों की माता है, जननी है। इससे राष्ट्रवासी राष्ट्रियता, बलिदान की भावना आदि सुव्रतों को ग्रहण करते हैं। यह 'ऋत की पत्नी' है, सत्य का लालन-पालन करनेवाली है, सत्यव्रती लोगों का सम्मान करनेवाली है। यह 'तुविक्षत्रा' है, बहुत क्षात्रशक्तिवाली है। शत्रु इसकी ओर आँख उठाये, तो इसकी भुजाएँ फड़कने लगती हैं,

शस्त्रधारिणी हो जाती है यह। यह 'अजरन्ती' है, जरा से ज़ीर्ण न होनेवाली है, कभी बूढ़ी नहीं होती। प्रजा बूढ़ी होकर इससे वियुक्त हो जाती है, किन्तु यह नवोत्पन्न प्रजा को युवति, सप्राण, जागरूक और सलोनी ही दीखती है। यह 'उरूची' है, बहुत प्रगतिशील है। आज उसका जो स्वरूप है, एक वर्ष बाद वह उसकी अपेक्षा बहुत प्रगति कर जाती है। आज यदि इसकी प्रजा में ६० प्रतिशत्त लोग शिक्षित हैं, तो एक वर्ष बाद ७० प्रतिशत शिक्षित हो जाते हैं। आज यदि २० प्रतिशत गाँवों में चिकित्सालय हैं, तो एक वर्ष बाद ६० प्रतिशत ग्रामों में हो जाते हैं। इस प्रकार निरन्तर इसमें प्रगति होती रहती है। यह 'सुशर्मा' है, सुन्दर भवनोंवाली और बहुत सुख देनेवाली है। इसकी अधिकांश प्रजा उच्चकोटि के घरों में निवास करती है और वह सुखी रहती है। यह 'सुप्रणीति' है, शुभ और प्रकृष्ट नीति पर चलनेवाली है। प्रत्येक कार्य के लिए राज्यपरिषद् में नीति निर्धारित होती है, उसी के अनुसार कार्य होता है। सामान्य नीति यह रहती है कि ऐसा कार्य हो, जिससे अधिकाधिक लोगों का कल्याण होता हो। यह 'अदिति' है, खण्डित न होनेवाली है, अपनी भूमि को टुकड़े करके दो राष्ट्र बनानेवाली या अपनी भूमि में से कुछ भूमि पड़ोसी राष्ट्र को देनेवाली नहीं है। अपनी मातृभूमि को हम पुकारते हैं कि वह हम प्रजाजनों की रक्षा करे और हमें प्रगति की ओर ले चले।

पाद-टिप्पणियाँ

१. तुवि=बहु, निघं० ३.१। तुवि वहु क्षत्रं क्षात्रबलं यस्याः सा।
२. उरु बहु अञ्चति गच्छति या सा उरूची।
३. शर्मन्=गृह, सुख। निघं० ३.४, ३.६।
४. दो अवखण्डने। दितिः अवखण्डनं न विद्यते यस्याः सा अदितिः। अदितिः पृथिवीनाम, निघं० १.१।
५. अव रक्षणादिषु। तुमर्थे असे प्रत्ययः।

१४३. आओ, दैवी नौका पर चढ़ें

ऋषिः गयप्लातः। देवता अदितिः (दैवी नौः)।
छन्दः भुरिक् आर्षी त्रिष्टुप्।

सुत्रामाणं पृथिवीं द्यामनेहसंꣳसुशर्माणमदितिꣳसुप्रणीतिम्। दैवीं नावꣳस्वरित्रामनागसमस्रवन्तीमारुहेमा स्वस्तये॥

—यजु० २१.६

आओ, **(सुत्रामाणं)** उत्कृष्ट त्राण करनेवाली, **(पृथिवीं)** विस्तीर्ण, **(द्यां)** प्रकाशपूर्ण, **(अनेहसं)** पापरहित, **(सुशर्माणं)** उत्तम सुख दनेवाली **(अदितिं)** खण्डित न होनेवाली, **(सु-प्रणीतिं)** शुभ उत्कृष्ट नीतिवाली, **(सु-अरित्रां)** उत्कृष्ट चप्पुओंवाली, **(अनागसं)** अपराध-रहित, निर्दोष, **(अस्रवन्तीं)** न चूनेवाली, छिद्ररहित **(दैवीं नावं)** दैवी नाव पर **(आ रुहेम)** आ चढ़ें **(स्वस्तये)** कल्याण के लिए।

सांसारिक यातनाओं का विकराल समुद्र धाड़ें मार रहा है। ज्वार बढ़ता ही जा रहा है। लगता है यह सारी धरती को ही निगल लेगा। ईर्ष्या-राग-द्वेष की भयङ्कर लहरों का आघात-प्रतिघात हो रहा है। हिंसा-उपद्रवों के मगरमच्छ मुँह फाड़ रहे हैं। दम्भ-छल-प्रपञ्च की दीर्घकाय ह्वेल मछलियाँ निगलने को तैयार हैं। काम-क्रोध, आधि-व्याधि की नोकीली चट्टानें छलनी करने को खड़ी हैं। लोभ-मोह के विषैले जलजन्तु ग्रसने की ताक लगाये हैं। कौन कह सकता है क्या होनेवाला है? लगता है सर्वनाश उपस्थित है। यदि अपने को सुरक्षित करना चाहते हो तो नौका पर सवार हो जाओ। पर यह लकड़ी के तख्तों की या लोहे की चादर की नौका क्या लहरों के थपेड़ों को सह सकेगी? और यह छोटी-सी नौका भला

कितनों को अपने अन्दर बैठा पायेगी! इन सांसारिक नौकाओं और जलपोतों से काम नहीं चलेगा। दैवी नौका तुम्हारी प्रतीक्षा कर रही है। यह है प्रभुदेव की शरण-रूप नौका। यह नाव बहुत विस्तीर्ण है, धरती के सब लोग इसमें समा सकते हैं। आओ, इस अभयदायिनी नाव पर सवार हो जाएँ। आओ, समय रहते इस नौका को पकड़ लो, फिर पछताने के सिवा कुछ हाथ न लगेगा।

यह प्रभु-शरण की नाव 'सुत्रामा' है, सब विपदाओं से बचा सकनेवाली है। यह 'पृथिवी' है, सुविशाल है। यह 'द्यौ' है, करोड़ों विद्युत्-प्रदीपों-जैसे दिव्य प्रकाशवाली है। यह दुनियाबी पाप-वासनाओं से शून्य है। इसमें सुख ही सुख है, दुःख का लव-लेश तक नहीं है। यह मत सोचो कि यह टूट जाएगी, तब हमारा क्या होगा? यह 'अदिति' है, अखण्डनीय है। यह 'सु-प्रणीति' है, सुन्दर उत्तम राह पर चलनेवाली है। यह 'सु-अरित्रा' है, इसमें सत्य, अहिंसा, त्याग, तपस्या, शान्ति, धृति, क्षमा, निर्भयता आदि के सुन्दर चप्पू लगे हुए हैं, जिनसे यह बीच में ही न डुबा कर निश्चित रूप से पार पहुँचानेवाली है। यह 'अनागाः' हैं, इसमें आकर जो बैठ जाते हैं, उनकी अपराधवृत्ति समाप्त हो जाती है। यह 'अस्रवन्ती' है, छेदोंवाली नहीं है, जिससे यह आशङ्का हो कि इसमें विपदाओं का पानी भर जाने पर कहीं यह डूब न जाए। इस दैवी नाव पर चढ़ जाने में स्वस्ति ही स्वस्ति है, कल्याण ही कल्याण है। आओ, इस दैवी नौका पर चढ़कर अपनी हितसाधना कर लें।

१४४. जीवनदायक तत्त्व

ऋषिः स्वस्त्यात्रेयः । देवता अग्न्यादयः । छन्दः विराड् आर्षी अनुष्टुप् ।

समिद्धोऽअग्निः समिधा सुसमिद्धो वरेण्यः ।
गायत्री छन्दऽइन्द्रियं त्र्यविर्गौर्वयो दधुः ॥

—यजु० २१.१२

(**समिधा समिद्धः अग्निः**) ईंधन से संदीप्त अग्नि, (**सुसमिद्धः[१] वरेण्यः[१]**) अत्यन्त संदीप्त वरणीय सूर्य, (**गायत्री छन्दः**) गायत्री छन्द, (**इन्द्रियं**) अन्तरिन्द्रिय मन, (**त्र्यविः गौः[२]**) शरीर, मन, आत्मा तीनों का रक्षक वेदगायक परमेश्वर, ये सब (**वयः दधुः**) जीवन को धारते हैं।

मानव माता के गर्भ से उत्पन्न होने के पश्चात् यथासमय माता-पिता से, गुरुजनों से, मित्रों से, सन्तों से, महात्माओं से शिक्षासूत्र, जीवन, जागृति, सन्देश प्राप्त करता हुआ सुयोग्य बनता है। यदि उसे अकेला छोड़ दिया जाए तो वह भेड़िये से पाले गये मानव-शिशु के समान पशुतुल्य ही रहता है। शिक्षा, जीवन, जागृति देने वाले तत्त्व संसार में बिखरे पड़े हैं। मनुष्य चाहे तो उनसे सन्देश ले सकता है। भूमि से क्षमा की, सागर से गम्भीरता की, फूलों से सुगन्ध फैलाने की, वृक्षों से परोपकार की, सूर्य से तमस् को विच्छिन्न कर प्रकाश प्रदान की शिक्षा ली जा सकती है। प्रस्तुत मन्त्र में भी कुछ जीवनदायक तत्त्व परिगणित किये गये हैं।

प्रथम तत्त्व है 'अग्नि'। राख से ढके अङ्गारों या कोयलों पर समिधाएँ रख दी जाएँ, तो थोड़ा धुआँ छोड़कर अग्नि प्रज्वलित हो जाती है। अधिक ईंधन रखे जाने पर ऊँची-ऊँची ज्वालाएँ उठने लगती हैं। वे लाल-पीली-नीली ज्वालाएँ मानो

उत्थान का सन्देश देती हैं, ऊर्ध्वारोहण का पाठ पढ़ाती हैं। इसके लिए भी सचेत करती हैं कि उत्थान तभी हो सकता है, जब मन-आत्मा में ज्वाला जले। उदासीन व्यक्ति, जिसके अन्दर कोई महत्त्वाकांक्षा नहीं, कभी शिखर पर नहीं पहुँच सकता। दूसरा तत्त्व है 'सूर्य', जो सुसमिद्ध है, अग्नि की अपेक्षा भी अधिक प्रकाशमय और प्रकाशक है। सूर्य न केवल हमारी भूमि को, अपितु मंगल, बुध, बृहस्पति, चन्द्र आदि अन्य ग्रहों तथा उपग्रहों को भी प्रकाशित करता है, उन्हें जीवन-दान देता है, उन पर अपनी रश्मियों से प्राण बरसाता है। पार्थिव अग्नि भी सूर्य से ही जीवन पाती है, ज्वलन-शक्ति के लिए उसी पर निर्भर रहती है। वह सूर्य 'वरेण्य' है, सबके द्वारा वरणीय है। उसके प्रकाश की सबको अभीप्सा रहती है, 'तमस्' में पड़े रहना कोई नहीं चाहता। सूर्य अध्यात्म की तामसिकता को मिटा कर अन्तःप्रकाश पाने का भी संकेत करता है।

तीसरा जीवनदायक तत्त्व मन्त्र में 'गायत्री' कहा गया है। गायत्री छन्द त्रिपाद् है, तीनों चरण आठ-आठ अक्षर के होते हैं। ये तीन चरण पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्यौ की सीढ़ी की सूचना देते हैं। हमें अष्टांग योग करते हुए पृथिवी से ऊपर उठकर अन्तरिक्ष के स्तर पर पहुँचना है, फिर अन्तरिक्ष के स्तर से भी ऊपर उठकर द्युलोक में पहुँचना है। गायत्री छन्द भौतिक और आध्यात्मिक दोनों प्रकार के उत्थान के जीवन का सन्देश देता है। चौथा तत्त्व है 'अन्तः इन्द्रिय' अर्थात् मन। मन के बिना कोई भी ज्ञानेन्द्रिय ज्ञान का प्याला नहीं पिला सकती। मन सजग न हो, तो मनुष्य आँख से देखते हुए भी वस्तुतः नहीं देखता, कान से सुनते हुए भी नहीं सुनता। मन से ही मनुष्य सङ्कल्प-विकल्प करता है। मन के बिना ज्ञान-विज्ञान की प्राप्ति आकाश-कुसुम होती है। पाँचवाँ तत्त्व है 'गौ', पुंलिङ्ग गौ का एक अर्थ निघण्टु कोष में 'स्तोता' भी है। अतः यह 'गौ' है, वेदगायक परमेश्वर, जो 'त्र्यवि' अर्थात्

शरीर, मन और आत्मा तीनों का रक्षक है। उसकी रक्षा की डोर कट जाने पर तीनों निष्कर्म हो जाते हैं। शरीर को लकवा लग जाता है, मन कुण्ठित हो जाता है, अशिव सङ्कल्प करने लगता है, आत्मा म्लान हो जाता है। यह 'गौ' परमेश्वर समस्त उन्नतियों का, समस्त जीवनों का, समस्त जागृतियों का स्रोत है।

आओ, मन्त्रोक्त जीवनदायक सब तत्त्वों से हम जीवन और जागृति पाकर भौतिक और आध्यात्मिक ऊर्ध्वारोहण करते हुए अपने लक्ष्य पर पहुँचें।

पाद-टिप्पणियाँ

१. सुसमिद्धः सुष्ठु प्रकाशितः सूर्यः—द०।

२. त्र्यविः त्रयाणां शरीरेन्द्रियात्मनाम् अविः रक्षणं यस्मात् सः गौः स्तोता—द०। गौः=स्तोता, निघं० ३.१६।

१४५. यज्ञ-सामग्री

ऋषिः स्वस्त्यात्रेयः। देवता अग्न्यश्वीन्द्रसरस्वत्याद्या लिङ्गोक्ताः।
छन्दः निचृद् अष्टिः।

होता यक्षत्समिधाग्निमिडस्पदेऽश्विनेन्द्रꣳसरस्वतीमजो धूम्रो न गोधूमैः कुवलैर्भेषजं मधु शष्पैर्न तेजऽइन्द्रियं पयः सोमः परिस्रुता घृतं मधु व्यन्त्वाज्यस्य होतर्यज॥

—यजु० २१.२९

(होता) हवनकर्ता **(इडस्पदे)** यज्ञवेदि में **(समिधा)** समिधा द्वारा **(अग्निं)** अग्नि को, **(अश्विना)** अश्वियुगल को **(इन्द्रं)** इन्द्र को **(सरस्वतीं)** सरस्वती को **(यक्षत्)** हविर्दान करे। **(अजः)** अजशृङ्गी ओषधि, **(धूम्रः न)** और धुमैला गूगल **(गोधूमैः)** गेहुओं के साथ और **(कुवलैः)** बेरों के साथ मिलकर **(भेषजं)** औषध होती है। **(शष्पैः न)** अंकुरित धानों के साथ **(मधु)** मधुयष्टि, **(तेजः)** तेजपत्र, **(इन्द्रियं)** इन्द्रायण ओषधि, **(पयः)** दूध, **(परिस्रुता सोमः)** परिस्रुत रस के साथ सोम ओषधि, **(घृतं)** घीक्वारी, **(मधु)** शहद, ये सब पदार्थ **(व्यन्तु)** मिलें। **(होतः)** हे हवनकर्ता! तू इनका और **(आज्यस्य)** घृत का **(यज)** यज्ञ कर।

'होतृ' शब्द 'हु' धातु से निष्पन्न होता है, जिसका प्रचलित अर्थ 'आहुति देना' है। धातुपाठ में यह धातु दान, भक्षण और आदान अर्थों में पठित है। यज्ञनिष्पादक को 'होता' इस कारण कहते हैं कि वह अग्नि में हवि का दान करता है, और हविर्दान से उत्पन्न प्राणदायक और रोगनिवारक सुगन्ध का भक्षण और ग्रहण करता है। इडा शब्द पृथिवीवाचक है, अतः इडस्पद का अर्थ होता है, भूमि पर बनी हुई यज्ञवेदि। होमकर्ता यज्ञवेदि में यज्ञाग्नि का आधान करता है और घृत में डूबी हुई समिधाओं के आधान से अग्निप्रदीपन करता है। समिधाएँ पलाश, शमी, पीपल, बड़, गूलर, आम, बिल्व, चन्दन आदि

वृक्षों की ली जाती हैं। होमद्रव्य संस्कारविधि में चार प्रकार के लिखे हैं—प्रथम सुगन्धित कस्तूरी, केसर, अगर, तगर, श्वेत चन्दन, इलायची, जायफल, जावित्री आदि; द्वितीय पुष्टिकारक घृत, दूध, फल, कन्द, अन्न, चावल, गेहूँ, उड़द आदि; तीसरे मिष्ट शक्कर, सहत, छुहारे, दाख आदि; चौथे रोगनाशक गिलोय आदि। मोहनभोग, मीठा भात, मीठी खिचड़ी, मोदक आदि के होम का भी विधान किया है। मोहनभोग बनाने की विधि लिखी है कि सेरभर मिश्री के मोहनभोग में रत्ती भर कस्तूरी, माशेभर केसर, दो माशे जायफल और जावित्री डाले। प्रस्तुत मन्त्र में कहा गया है कि अजशृङ्गी, धुमैला गूगल, गेहूँ और बेर मिलाकर जो आहुति दी जाती है, वह उत्तम औषध होती है। अजशृङ्गी ओषधि के लिए अथर्ववेद में कथन है कि वह रोगकृमि रूप राक्षसों को अपनी गन्ध से नष्ट करती है[1]। गूगल के विषय में अथर्ववेद में ही यह विशेषता बतायी गयी है कि इसकी धूनी जो लेता है, उसके पास से रोग भाग जाते हैं।[2] उक्त हवियों के अतिरिक्त मन्त्र में अंकुरित धान, मधुयष्टि (मलहठी), तेजपत्र, इन्द्रायण, गोदुग्ध, अन्य ओषधियों के रस के साथ सोमलता, घीक्वारी और शहद की हवि भी उत्तम बतायी गयी हैं। इन सब हवियों से होता को घृताहुति के साथ यज्ञ करने की प्रेरणा दी गयी है। महीधर ने यहाँ 'अज' से बकरे और 'धूम्र' से मेष (मेंढा) पशुओं की आहुति का ग्रहण किया है, जो भ्रष्ट लीला है।

मन्त्रपठित जिन देवों का यजन करना है वे हैं अश्वियुगल, इन्द्र और सरस्वती। प्रकृति में अश्वियुगल हैं पृथ्वी-आकाश, इन्द्र है वायु और सरस्वती है जलधारा। यज्ञ द्वारा इन सबको सुगन्धित करके पर्यावरण को शुद्ध करना है। सामाजिक दृष्टि से अश्वियुगल हैं गुरु-शिष्य, अध्यापक-उपदेशक, वैद्य-शल्यचिकित्सक आदि युगल। इन्द्र राजशक्ति है, सरस्वती मातृशक्ति है। इनके लिए हवि देने का तात्पर्य है, इन्हें परिपुष्ट करना, इनकी स्थिति अच्छी करना।

पाद-टिप्पमियाँ

१. अजशृङ्गि अज रक्षः सर्वान् गन्धेन नाशय। अ० ४.३७.२

२. न तं यक्ष्मा अरुन्धते नैनं शपथो अश्नुते।
यं भेषजस्य गुल्गुलोः सुरभिर्गन्धो अश्नुते॥ अ० १९.३८.१

१४६- अश्वमेध का घोड़ा

ऋषिः प्रजापतिः । देवता अश्वः । छन्दः भुरिग् विकृतिः ।

वि॒भूर्मा॒त्रा प्र॒भूः पि॒त्राश्वो॑ऽसि॒ हयो॒ऽस्यत्यो॑ऽसि॒ मयो॒ऽस्यर्वा॑सि॒ सप्ति॑रसि वा॒ज्य॒सि॒ वृषा॑सि नृ॒मणा॑ऽअसि। ययु॒र्नामा॑ऽसि॒ शिशु॒र्नामा॑स्यादि॒त्याना॒ं पत्वान्वि॑हि॒ देवा॑ऽआशापालाऽएतं दे॒वेभ्यो॒ऽश्वं मेधा॑य॒ प्रोक्षि॑तꣳरक्षते॒ह रन्ति॑रि॒ह रमतामि॒ह धृति॑रि॒ह स्वधृ॑ति॒ः स्वाहा॑॥

—यजु० २२.१९

हे अश्वमेध के घोड़े! तू (**विभूः**) व्यापक बलवाला है (**मात्रा**) माता पृथिवी से, (**प्रभूः**) सामर्थ्यवान् है (**पित्रा**) पिता सूर्य से। (**अश्वः असि**) तू अश्व है, (**हयः असि**) हय है, (**अत्यः असि**) अत्य है, (**मयः असि**) मय है, (**अर्वा असि**) अर्वा है, (**सप्तिः असि**) सप्ति है, (**वाजी असि**) वाजी है, (**वृषा असि**) वृषा है, (**नृमणाः असि**) नृमणाः है, (**ययुः नाम असि**) ययु नामवाला है, (**शिशुः नाम असि**) शिशु नामवाला है। (**आदित्यानां पत्वा**) सूर्यकिरणों के मार्ग से (**अन्विहि**) चल। (**आशापालाः देवाः**) हे दिशापालक विद्वानो! (**देवेभ्यः मेधाय प्रोक्षितं**) विद्वानों के लिए यज्ञार्थ प्रोक्षण किये हुए (**एनम् अश्वं रक्षत**) इस घोड़े की रक्षा करो। इसकी (**इह रन्तिः**) यहाँ क्रीड़ा हो, यह (**इह रमताम्**) यहाँ रमे। इसकी (**इह धृतिः**) यहाँ स्थिरता हो, (**इह स्वधृतिः**) यहाँ स्वेच्छानुरूप रुकना हो। (**स्वाहा**) यह कैसा सुवचन है।[1]

जो सम्राट् दिग्विजयी होना चाहता है, वह अश्वमेध करता है। अश्वमेध में घोड़ा छोड़ा जाता है। ऐसा घोड़ा लाया जाता है, जिसका अगला भाग काला और पिछला भाग सफेद हो, ललाट पर शकटाकार तिलक बना हो। वह बहुत

मूल्यवान्, अतिवेगवान् ऐसा अद्वितीय होता है जिसकी जोट का दूसरा मिलना दुष्कर होता है। उसमें बल-पराक्रम शतपथ ब्राह्मण के अनुसार माता पृथिवी और पिता सूर्य से आता है।[१] इसीलिए मन्त्र के आरम्भ में कहा है कि हे अश्वमेध के घोड़े! तुझे अपनी माता से व्यापक शक्ति मिली है और पिता से विपुल सामर्थ्य मिला है। आगे अश्वमेध के अश्व के गुण-कर्म-स्वभाव बताने के लिए उसके पर्यायवाची शब्दों का उल्लेख किया गया है कि तू ऐसे-ऐसे गुण-कर्मोंवाला और इन-इन नामोंवाला है।[२] तेरा नाम 'अश्व' है, क्योंकि तू विशाल मार्ग को तय करता है। तू 'हय' है, क्योंकि तू विशिष्ट चाल से चलता है। तू 'अत्य' है, क्योंकि तू सतत गति से चलता रहता है, थकता नहीं। तू सुखगामी होने से और सवार को सुख देने के कारण 'मय' है। तू सर्वत्र गति और लक्ष्य पर पहुँचाने के कारण 'अर्वा' है। तू संग्रामों में समवेत या संलग्न होने के कारण 'सप्ति' है। बलवान् और वेगवान् होने से तू 'वाजी' कहलाता है। तू वीर्यवान् और वीर्यसेचक होने से 'वृषा' तथा नेताओं में मन के समान वेगगामी होने से 'नृमणाः' कहलाता है। दुलकी चाल से चलने के कारण तू 'ययु' नाम से प्रसिद्ध है। मार्ग की धूलि को अपनी टाप के आघातों से सूक्ष्म करने के कारण तेरा नाम 'शिशु' है। जैसे सूर्यकिरणें आकाशमार्ग में चलती हैं, वैसे तू मार्ग पर चल। हे दिक्पालो! आप लोग अश्वमेध के लिए प्रोक्षित इस अश्व की रक्षा करो। यह स्वतन्त्र रमण करे, इसे कोई पकड़ने का साहस न करे। यह स्वेच्छापूर्वक जहाँ चाहे विहार करे, जहाँ चाहे स्थिर हो। 'स्वाहा', हम इस अश्व की रक्षार्थ यज्ञाग्नि में आहुति देते हैं। यह दिग्विजय करके आयेगा, तब हमारे सम्राट् विश्वविजयी चक्रवर्ती राजा के रूप में विख्यात होंगे।

पाद-टिप्पणियाँ

१. विभूर्मात्रा प्रभूः पित्रेति। इयं वै माताऽसौ पिता, आभ्यामेवैनं परिददाति। श० १३.१.६.१

२. (अश्वः) योऽश्नुते व्याप्नोति मार्गान् सः—द०। (हयः) हय गतौ, शीघ्रगामी। (अत्यः) यः अतति सततं गच्छति सः—द०। अत सातत्यगमने। (मयः) सुखगामी सुखकारी च। 'मयः=सुख' निघं० ३.६। (अर्वा) ऋ गतिप्रापणयोः भ्वादिः। ऋच्छति सवेगं गच्छति लक्ष्यं प्रापयति वा सोऽर्वा। (सप्तिः) यः सपति संग्रामैः समवैति सः, सप संबन्धे। (वाजी) वाजः बलं वेगो वा अस्यास्तीति वाजी। (वृषा) वृषु सेचने, यो वर्षति सिञ्चति सः। (नृमणाः) नृषु नेतृषु पदार्थेषु मन इव सद्योगामी—द०। नृणां मनुष्याणां यत्र मनः सः—उवट। (ययुः) यो याति सः—द०। (शिशुः) यः श्यति तनूकरोति सः—द०, शो तनूकरणे। (पत्वा) पतन्ति गच्छन्ति यत्र स पत्वा मार्गः।

१४७. स्वर्ग की साधना

ऋषिः प्रजापतिः। देवता यज्ञः। छन्दः भुरिग् आर्षी उष्णिक्।

एकस्मै स्वाहा द्वाभ्याᳪस्वाहा शताय स्वाहैकशताय स्वाहा व्युष्ट्यै स्वाहा स्वर्गाय स्वाहा ॥ —यजु० २२.३४

(एकस्मै) एक परमेश्वर की प्राप्ति के लिए **(स्वाहा)** स्तुति, प्रार्थना, उपासना और पुरुषार्थ करो। **(द्वाभ्यां)** मन और जीवात्मा दोनों की शुद्धि के लिए **(स्वाहा)** स्तुति, प्रार्थना, उपासना और पुरुषार्थ करो। **(शताय)** शतवर्ष की आयु प्राप्त करने के लिए **(स्वाहा)** पुरुषार्थ करो। **(एकशताय)** एक सौ एक प्रणवजप और गायत्रीजप के लिए **(स्वाहा)** तत्पर हो। **(व्युष्ट्यै)** अन्धकार दूर करके प्रकाश की प्राप्ति के लिए **(स्वाहा)** प्रयास करो। **(स्वर्गाय)** स्वर्गप्राप्ति के लिए **(स्वाहा)** प्रयास करो।

बच्चा रोये जा रहा था, किसी तरह शान्त नहीं हो रहा था। उसके आगे फूल, फल, मिष्टान्न, खिलौने आदि अनेक लुभावने पदार्थ रखे गये, किन्तु उसने उन्हें फेंक दिया। तीन दिन से उसकी माता उसे छोड़कर बाहर गयी हुई थी। माता आयी, तो वह उससे चिपट गया। माता उसे कोई वस्तु देने के लिए अपने से अलग करना चाहती थी, तो वह और भी अधिक चिपट जाता था, यह सोचकर कि कहीं माता फिर न चली जाए। शौनक ने अङ्गिरस् ऋषि से पूछा कि वह वस्तु कौन-सी है, जिसके विदित होने पर सब कुछ विदित हो जाता है। ऋषि ने जो व्याख्यान दिया, उसका सार यह है कि परमात्मा ही वह वस्तु है, उसका 'ओ३म्' नाम से ध्यान करो[1]। अतः आओ, हम बच्चों के लिए जो माँ के समान है और जिस एक के जान लेने से सब कुछ जाना जाता है, उस एक परमेश्वर को प्राप्त करने के लिए 'स्वाहा' करें, स्तुति-

प्रार्थना-उपासना और पुरुषार्थ करें।

किन्तु परमेश्वर की प्राप्ति शुद्ध मन और शुद्ध आत्मा से ही हो सकती है। अतः आओ, पहले मन और आत्मा इन दो को शुद्ध कर लें। वैदिक भावना है कि हमारा मन शिव सङ्कल्पोंवाला हो।[2] आत्मा चित्तवृत्तियों का निरोध करने से ही स्वच्छ, शुद्ध और योगयुक्त हो सकता है। अतः मन और आत्मा दोनों को शुद्ध करने के लिए हम 'स्वाहा' करें, ईशस्तुति, ईशप्रार्थना, ईश्वरोपासना और योगाभ्यास करें। मन-आत्मा की शुद्धि तथा ईश्वरप्राप्ति एक क्षण में नहीं हो सकती, इसके लिए लम्बी अवधि चाहिए। अतः आओ, हम शत वर्ष की आयु प्राप्त करने का प्रयास करें। यह सब साधना प्रणव-जप और गायत्री-जप से सफल होती है। अतः, आओ, प्रतिदिन हम एक-सौ-एक प्रणव-जप और गायत्री-जप किया करें। हमें अपने मानस के अन्धकार और आत्मा की तामस वृत्ति दूर करने के लिए भी प्रयत्न करना होगा। अध्यात्मप्रकाश की उषा उदित करने पर ही यह तमस् दूर हो सकेगा। इन सब साधनों को करने के पश्चात् हमें 'स्वर्ग' की प्राप्ति हो सकेगी। स्वर्ग उस अवस्था का नाम है, जिसमें 'स्वः' अर्थात् ईश्वरीय प्रकाश साक्षात् अनुभव होता है।

अतः आओ, मन्त्रोक्त सफलताओं को पाने के लिए सर्वात्मना प्रयासरत हो जाओ, अपने अन्नमय, प्राणमय, मनोमय और विज्ञानमय कोषों को इस साधना में लीन कर दो।

पाद-टिप्पणियाँ

१. ओमित्येवं ध्यायथ आत्मानम्। मु० उप० २.२.६

२. तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु। य० ३४.१-६

१४८. तेरी महिमा अपार

ऋषिः प्रजापतिः। देवता परमेश्वरः। छन्दः निचृद् आकृतिः।

उपयामगृहीतोऽसि प्रजापतये त्वा जुष्टं गृह्णाम्येष ते योनिः सूर्यस्ते महिमा। यस्तेऽहन्त्संवत्सरे महिमा सम्बभूव यस्ते वायावन्तरिक्षे महिमा सम्बभूव यस्ते दिवि सूर्ये महिमा सम्बभूव तस्मै ते महिम्ने प्रजापतये स्वाहा देवेभ्यः॥

—यजु० २३.२

हे परमेश्वर! आप **(उपयामगृहीतः असि)** यम, नियम आदि योगाङ्गों से ग्रहण किये जानेवाले हो। **(जुष्टं त्वा)** प्रिय आपको **(प्रजापतये)** प्राण, इन्द्रिय आदि प्रजा के स्वामी अपने जीवात्मा के लिए **(गृह्णामि)** ग्रहण करता हूँ। **(एषः)** यह जीवात्मा **(ते योनिः)** आपका घर है, निवासस्थान है। **(सूर्यः ते महिमा)** सूर्य आपकी महिमा है। **(यः ते)** जो आपकी **(अहन् संवत्सरे)** दिन और वर्ष में **(महिमा सम्बभूव)** महिमा विद्यमान है, **(यः ते)** जो आपकी **(वायौ अन्तरिक्षे)** वायु और अन्तरिक्ष में **(महिमा सम्बभूव)** महिमा है, **(यः ते)** जो आपकी **(दिवि सूर्ये)** द्युलोक और सूर्य में **(महिमा सम्बभूव)** महिमा है **(तस्मै ते महिम्ने)** उस तेरी महिमा के लिए, **(प्रजापतये)** प्रजापति जीवात्मा के लिए और **(देवेभ्यः)** शरीरस्थ सब प्राणों, इन्द्रियों आदि के लिए **(स्वाहा)** सुप्रशंसा के वचन हम कहते हैं।

जब हम इस विशाल सृष्टि की ओर निहारते हैं, तब सहसा यह विचार मन में आता है कि इसकी रचना करनेवाला कोई होना चाहिए। तब हम परमेश्वर को मानने के लिए बाध्य हो जाते हैं और हमारा प्रयत्न होता है कि हम उस महामहिम

के दर्शन करें। चर्म चक्षुओं से उसके दर्शन नहीं हो सकते, क्योंकि वह अकाय है, उसका कोई भौतिक शरीर नहीं है। वह 'उपयाम' से गृहीत होता है। उपयाम का अर्थ है समीप-गमन। उसके समीप जाने के लिए रेलगाड़ी, मोटरकार, जलपोत या विमान की आवश्यकता नहीं पड़ती। उसके सामीप्य के लिए यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि इन अष्टाङ्गों की साधना करनी पड़ती है। जब उसकी झाँकी मिलती है, तब वह बड़ा प्रियदर्शन प्रतीत होता है। उसके साक्षात्कार से जीवात्मा को बड़ा बल मिलता है। साधक को ऐसा लगता है कि मैं इसे अपने आत्मा में बसा लूँ, मेरा आत्मा उसका घर हो जाए, उसका निवासस्थान बन जाए। फिर उसे प्रकृति में सर्वत्र उसकी महिमा दीखने लगती है। वह कहता है कि दिन में और बारह महीनों वाले वर्ष में जो महिमा दृष्टिगोचर होती है, वह आपकी ही है। दिन और रात्रि क्रमशः एक-दूसरे के बाद आते हैं। रात्रि का अन्धकार छाया हुआ है, सब प्राणी विश्राम कर रहे हैं। उषा खिलती है, सूर्योदय होता है, अंधेरा मानो गिरि-कन्दराओं में शरण लेने भाग जाता है। प्रभातवेला में सब विश्राम से उठकर अपने-अपने कार्यों में संलग्न हो जाते हैं। सूर्य गगन के मध्य में जा पहुँचता है। मध्याह्न होता है, सायंकाल होता है, फिर रात्रि आती है, फिर सूर्योदय होता है। दिनों से पखवाड़ा बनता है, महीने बनते हैं, ऋतुएँ बनती हैं, वर्ष बनता है। ऋतुओं का क्रम से आना-जाना, ग्रीष्म-वर्षा-शरद्-हेमन्त-शिशिर-वसन्त का क्रीडा करना कैसा सुहावना प्रतीत होता है। यह सब महिमा आपकी ही है। फिर वायु और अन्तरिक्ष की महिमा भी दर्शनीय है। कभी वायु शीतल, मन्द, सुगन्ध पवन के रूप में और कभी साँय-साँय, झाँय-झाँय करता हुआ झंझावात के रूप में प्रकट होता है। उसके साथ-साथ वृक्ष-वनस्पति-लताएँ झूमती हैं। अन्तरिक्ष में बादल बनना, बिजली चमकना-गरजना, कभी बूंदा-बांदी, कभी रिमझिम, कभी

मूसलाधार वृष्टि होना यह सब कैसा महिमामय है! यह महिमा भी आपकी ही है। फिर सूर्य और द्युलोक की महिमा भी निराली है। यह छोटे गोल थाल जैसा प्रतीत होनेवाला सूर्य आकार में और भार में कितना बड़ा है, इसकी कल्पना करना भी कठिन है। उसमें कोसों लम्बी ज्वालाएँ निकल रही हैं। यह अपने सब ग्रहों को उनके उपग्रहों सहित अपनी आकर्षण-शक्ति से अपने चारों ओर घुमा रहा है। इन सबके प्राणों का और ऊर्जा का यह केन्द्र है। द्युलोक में जो छोटे-छोटे असंख्यों नक्षत्र दीख रहे हैं, ये सूर्य से भी बड़े प्रकाशमय लोक हैं, जिनके अपने-अपने ग्रह और उपग्रह हैं। यह सूर्य और द्युलोक की दिव्य महिमा भी आपकी ही है। इन और इन-जैसी अन्य अनेकों महिमाओं के लिए हम 'स्वाहा' करते हैं, आपका जयजयकार बोलते हैं। शरीरस्थ प्रजापति जीवात्मा और उसके आश्रित ज्ञानेन्द्रियों, कर्मेन्द्रियों, मन-बुद्धि-प्राणों के लिए भी हम 'स्वाहा' करते हैं, क्योंकि यह भी आपकी एक अद्भुत सृष्टि है।

१४९. कार्य में तीव्रता लायें

ऋषिः प्रजापतिः। देवता ब्रह्मा। छन्दः निचृद् आर्षी अनुष्टुप्।

सꣳशितो रश्मिना रथः सꣳशितो रश्मिना हयः।
सꣳशितो अप्स्वप्सुजा ब्रह्मा सोमपुरोगवः॥

—यजु० २३.१४

(**संशितः**[१]) तीव्र हो जाता है (**रश्मिना**) सूर्यकिरण से (**रथः**) सौर रथ। (**संशितः**) तीव्र हो जाता है (**रश्मिना**) लगाम से (**हयः**) घोड़ा। (**संशितः**) तीव्र हो जाता है (**रश्मिना**) ज्ञानरश्मि से (**अप्सुजाः**) वाक्प्रवाहों में प्रसिद्ध, (**सोम-पुरोगवः**[२]) यज्ञ का पुरोधा (**ब्रह्मा**) ब्रह्मा (**अप्सु**) कर्मकाण्डों में।

बड़े सौभाग्य से हमें उत्तम कार्य करने के लिए मानव-शरीर मिला है। समय न्यून है, कार्य बहुत है। अतः गति में तीव्रता लाने से ही कार्य पूर्ण हो सकता है। देखो, सौर विद्युत् से चलनेवाला भूयान, जलयान या विमान रूप रथ सूर्यरश्मि के प्रयोग से तीव्र हो जाता है। अश्वयान में जुता हुआ घोड़ा लगाम रूप रश्मि के खींचने और ढीला करने के संकेत से तीव्र गति से चलने लगता है। वेदपाठरूप वाक्प्रवाहों में प्रसिद्ध, यज्ञ का पुरोधा ब्रह्मा ज्ञानरश्मि से कर्मकाण्डों में तीव्र हो जाता है। तुम भी यदि अपने कार्य तीव्र गति से करना चाहते हो, तो रश्मि का प्रयोग करो। रश्मि और ज्योति पर्यायवाची हैं। राजर्षि जनक ने महर्षि याज्ञवल्क्य से पूछा था कि मनुष्य के पास ज्योति कौन सी है—**किंज्योतिरयं पुरुषः?** उनका संवाद इस प्रकार चला था—"आदित्य ही मनुष्य के लिए ज्योति का काम करता है। आदित्य न हो तब? उस

समय चन्द्रमा ज्योति होता है। चन्द्रमा भी न हो तब? तब अग्नि ज्योति होगी, दीपक या मशाल के प्रकाश में मनुष्य अपना कार्य कर सकेगा। अग्नि भी सुलभ न हो तब? तब वाणी ज्योति का काम करेगी। गुरुजनों की वाणी, महात्माओं की वाणी ही राह दिखाती है। वाणी भी सुलभ न हो तब? तब मनुष्य का अपना आत्मा ही ज्योति का काम करता है। आत्मा भी ज्योति देने में विफल रहे, तब परमात्मा ज्योति बनता है। अतः यदि तुम अपने कार्यों में सही दिशा में तीव्रता लाना चाहते हो, तो परमात्म-सूर्य की रश्मि को पकड़ो। उससे जो उजाला या अन्तःप्रकाश प्राप्त होगा, वह ज्योतियों की ज्योति का काम करेगा।'' उस रश्मि को पकड़कर तुम राह नहीं भटकोगे, तुम्हारी गति में तीव्रता आयेगी और शीघ्र लक्ष्य पर पहुँच सकोगे।

याद रखो रश्मि से रथ में तीव्रता आती है, रश्मि से अश्व में तीव्रता आती है, रश्मि से ब्रह्मा के कर्मकाण्ड में तीव्रता आती है। तुम भी अपने सत्कायों में तीव्रता लाने के लिए 'रश्मि' प्राप्त करो।

<u>पाद-टिप्पणियाँ</u>

१. संशितः—सं शो तनूकरणे।
२. सोमस्य यज्ञस्य पुरोगवः पुरोधाः। 'यज्ञः सोमो राजा'-जै० ब्रा० १.२५९।

१५०. स्वयं उन्नति के सोपान पर चढ़

ऋषिः प्रजापतिः। देवता आत्मा। छन्दः विराड् आर्षी अनुष्टुप्।

स्वयं वाजिँस्तन्वं कल्पयस्व स्वयं यजस्व स्वयं जुषस्व।
महिमा तेऽन्येन न सन्नशे ॥

—यजु० २३.१५

(**स्वयं**) स्वयं (**वाजिन्**) हे बली आत्मन्! तू (**तन्वं**[१] **कल्पयस्व**) शरीर को समर्थ बना, (**स्वयं यजस्व**[२]) स्वयं यज्ञ कर, (**स्वयं जुषस्व**[३]) स्वयं फल प्राप्त कर। (**ते महिमा**) तेरी महिमा (**अन्येन न सन्नशे**[४]) दूसरे के द्वारा प्राप्त नहीं की जा सकती।

हे मेरे आत्मन्! क्या तू इस बात की प्रतीक्षा कर रहा है कि कोई तुझे सोते से जगाने आयेगा, उठाने आयेगा, कर्मतत्पर करने आयेगा, सफलता दिलाने आयेगा। यदि ऐसा है, तो तू भूल में पड़ा है। तू अपनी शक्ति को पहचान। तू तो 'वाजी' है, बलवान् और वेगवान् है। 'वाज'[१] का अर्थ संग्राम भी होता है। तू संग्रामवान् भी है। रण उपस्थित होने पर तू उसमें वीरता दिखानेवाला है, आन्तरिक और बाह्य दोनों शत्रुओं से जूझनेवाला है। तुझे स्वयं जागना होगा। क्या शेर को कोई जगाने जाता है। जाग, उठ, शत्रु से लोहा ले, विजयी हो। स्वयं तू अपने शरीर को समर्थ बना, परिपुष्ट बना। यदि तू शरीर से निर्बल है, तो दूसरा कोई तेरे शरीर को बलवान् बनाने नहीं आयेगा, तुझमें प्राण फूँकने नहीं आयेगा। स्वयं उत्साह दिखा, स्वयं पुरुषार्थ कर, स्वयं उद्यमी हो, स्वयं शरीर में बल का सञ्चय कर। "बल से ही पृथिवी टिकी है, बल से ही अन्तरिक्ष टिका है, बल से ही द्युलोक टिका है। बल से ही पर्वत टिके हैं।

बल से ही देव, मनुष्य, पशु, पक्षी, तृण, वनस्पति स्थित हैं। बल के सहारे ही हिंस्र जन्तु स्थित हैं। बड़े से लेकर कीट-पतङ्ग-चींटी तक सब बल की दुहाई दे रहे हैं। बल से ही सारा लोक स्थित है।''[५]

शरीर को सामर्थ्यवान् बनाकर निकम्मा मत बैठा रह, न ही दूसरों को सताने में या सुधरी बात को बिगाड़ने में सामर्थ्य का उपयोग कर। शरीर को समर्थ बनाकर यज्ञ में जुट जा, लोकहित के कार्यों में रुचि ले, परोपकार को अपना आदर्श बना। देवपूजा का यज्ञ रचा, सङ्गतिकरण का यज्ञ रचा, शुभ कार्य के लिए लोगों को सङ्गठित कर। यह विभिन्न प्रकार का यज्ञ भी तुझे स्वयं ही करना होगा। स्वयं ही प्रारम्भ किये यज्ञ को सफल कर।

याद रख, तू महान् है, महिमावान् है, शक्तिमान् है, सब कुछ कर सकने में समर्थ है। तेरी महिमा को कोई दूसरा प्राप्त नहीं कर सकता।

पाद-टिप्पणियाँ

१. तनू, द्वितीया एकवचन=तनूम्। तनू-अम्, छान्दस यणादेश।
२. यज देवपूजा-सङ्गतिकरण-दानेषु।
३. जुषी प्रीतिसेवनयोः, तुदादिः, लोट्।
४. सं-नशतिः आप्नोतिकर्मा। तुमुन् के अर्थ में शे=ए प्रत्यय।
५. छा० उ०, प्रपाठक ७, खण्ड ८।

१५१. आत्मा की अमरता और मुक्ति का मार्ग

ऋषिः प्रजापतिः। देवता सविता। छन्दः विराड् आर्षी जगती।

न वाऽउऽएतन्म्रियसे न रिष्यसि देवाँ२ ॥ऽइदेषि पथिभिः सुगेभिः।
यत्रासते सुकृतो यत्र ते ययुस्तत्र त्वा देवः सविता दधातु॥

—यजु० २३.१६

हे आत्मन्! **(न वै उ एतत्)** न ही निश्चय से यह तू **(म्रियसे)** मरता है, **(न रिष्यसि[१])** न तेरी हिंसा होती है। **(सुगेभिः पथिभिः)** सुगम योगमार्गों से **(देवान् इत् एषि)** दिव्यताओं को ही प्राप्त करता है। **(यत्र आसते)** जहाँ स्थित हैं **(सुकृतः)** सुकर्मा जन, **(यत्र ते ययुः)** जहाँ वे गये हैं **(तत्र)** उस मुक्तिलोक में **(त्वा)** तुझे **(देवः सविता[२])** प्रकाशक जगदुत्पादक परमेश्वर **(दधातु)** रखे।

हे मेरे आत्मा! तू अमर है। न तुझे शस्त्र काट सकते हैं, न तुझे आग जला सकती है, न तुझे जल गला सकते हैं, न तुझे आँधी सुखा सकती है। तेरा शरीर मृत्यु को प्राप्त होता है, तू नहीं। तू कर्मानुसार मनुष्य, पशु, पक्षी आदि की योनि में जन्म ग्रहण करता है। "जब पाप बढ़ जाता, पुण्य न्यून होता है, तब मनुष्य का जीव पश्वादि नीच शरीर में जाता है और जब धर्म अधिक तथा अधर्म न्यून होता है, तब देव अर्थात् विद्वानों का शरीर मिलता है। और जब पुण्य-पाप बराबर होता है, तब साधारण मनुष्यजन्म होता है। इसमें भी पुण्य-पाप के उत्तम, मध्यम और निकृष्ट होने से मनुष्यादि में भी उत्तम, मध्यम, निकृष्ट शरीरादि होते हैं। नाना प्रकार जन्म-मरण में तब तक जीव पड़ा रहता है, जब तक उत्तम कर्मोपासना-ज्ञान को करके मुक्ति को नहीं पाता।[३]"

"परमेश्वर की आज्ञा पालने, अधर्म-अविद्या-कुसङ्ग-

कुसंस्कार, बुरे व्यक्तियों से अलग रहने और सत्यभाषण, परोपकार, विद्या, पक्षंपातरहित न्याय-धर्म की वृद्धि करने, परमेश्वर की स्तुति, प्रार्थना, उपासना अर्थात् योगाभ्यास करने, विद्या पढ़ने-पढ़ाने और धर्म से पुरुषार्थ कर ज्ञान की उन्नति करने, सबसे उत्तम साधनों को करने इत्यादि साधनों से मुक्ति और इनसे विपरीत ईश्वराज्ञा भङ्ग करने आदि काम से बन्ध होता है।[४]''

मुक्ति के विशेष साधन हैं विवेक, वैराग्य, षट्क सम्पत्ति (शम, दम, उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा, समाधान) और मुमुक्षत्व। ''जैसे सांसारिक सुख शरीर के आधार से भोगता है, वैसे परमेश्वर के आधार से मुक्ति के आनन्द को जीवात्मा भोगता है। वह मुक्त जीव अनन्त व्यापक ब्रह्म में स्वच्छन्द घूमता, शुद्ध ज्ञान से सब सृष्टि को देखता, मुक्तों के साथ मिलता, सृष्टिविद्या को क्रम से देखता हुआ सब लोकलोकान्तरों में अर्थात् जितने ये लोक दीखते हैं और नहीं दीखते उन सब में घूमता है। जितना ज्ञान अधिक होता है, उसको उतना ही आनन्द अधिक होता है। मुक्ति में जीवात्मा निर्मल होने से पूर्ण ज्ञानी होकर उसको सब सन्निहित पदार्थों का भान यथावत् होता है। यही सुखविशेष 'स्वर्ग' और विषय-तृष्णा में फँसकर दुःखविशेष भोग करना 'नरक' कहाता है।''[५]

हे मेरे आत्मन्! तू सुगम योगमार्गों पर चल, योगाभ्यास से तुझे दिव्य शक्तियाँ प्राप्त होंगी और तू मुक्त होकर उस ब्रह्म में स्थित हो सकेगा, जिसमें पूर्व सुकर्मा मुक्तात्माएँ स्थित हैं। जहाँ पूर्व सुकर्मा जन जा चुके हैं, उस मुक्तिलोक में तुझे प्रकाशमान सविता प्रभु ले जाये। तेरा प्रयास और प्रभुकृपा दोनों मिलकर तुझे अवश्य सफलता प्राप्त करायेंगे।

पाद-टिप्पणियाँ

१. रिष हिंसार्थः, दिवादिः।

२. (देवः) स्वप्रकाशः (सविता) सकलजगदुत्पादकः परमेश्वरः—द०।

३-५. स० प्र०, समु० ९

१५२. ब्रह्मचारी गणपति के गर्भ में

ऋषिः प्रजापतिः । देवता गणपतिः । छन्दः शक्वरी ।

गणानां त्वा गणपतिꣳहवामहे प्रियाणां त्वा प्रियपतिꣳहवामहे निधीनां त्वा निधिपतिꣳ हवामहे वसो मम। आहमजानि गर्भधमा त्वमजासि गर्भधम्॥ —यजु० २३.१९

हे आचार्य! हम (**गणानां गणपतिं त्वा**) विद्यार्थी-गणों के गणपति आपको (**हवामहे**) पुकारते हैं। (**प्रियाणां प्रियपतिं त्वा**) प्रिय शिष्यों के प्रियपति आपको (**हवामहे**) पुकारते हैं। (**निधीनां निधिपतिं त्वा**) विद्यारूप निधियों के निधिपति आपको (**हवामहे**) पुकारते हैं। अब पिता ब्रह्मचारी को कहता है—(**मम वसो**) हे मेरे धन ब्रह्मचारी! (**अहं**) मैं (**गर्भधं**[1]) ब्रह्मचारी को गर्भ में धारण करनेवाले आचार्य के पास (**आ अजानि**[2]) तुझे लाता हूँ। (**त्वं**) तू (**आ अजासि**[3]) आ जा (**गर्भधं**) गर्भ में धारण करनेवाले आचार्य के पास।

जब विद्यार्थी गुरुकुल में प्रविष्ट होता है और ब्रह्मचारी होकर आचार्याधीन निवास करता है, तब आचार्य उसे अपने गर्भ में धारण करता है। अनेक विद्यार्थी उसके गर्भ में निवास करते हैं, अतः वह विद्यार्थी-गणों का गणपति होता है। उसके आचार्यत्व में सहस्र विद्यार्थी भी हो सकते हैं। वह अपने प्रिय शिष्यों का प्रियपति होता है। वह शिष्यों के प्रति प्रीति रखता है और शिष्य उसके प्रति प्रीति रखते हैं। प्रिय शैली से ही वह शिष्यों को पढ़ाता तथा सदाचार की शिक्षा देता है, जिससे उन्हें हस्तामलकवत् विषय का बोध हो सके। वह विद्यानिधियों का निधिपति होता है, अनेक विद्याओं के खजाने उसके अन्दर भरे होते हैं। चारों वेदों और उपवेदों की निधियाँ, शिक्षा-कल्प-व्याकरण-निरुक्त-छन्द-ज्योतिष रूप षड्वेदाङ्गों की

निधियाँ, दर्शन-शास्त्रों की निधियाँ, भौतिक विज्ञान की निधियाँ, अपरा और परा विद्या की निधियाँ लबालब भरी हुई उसके पास होती हैं। आचार्य के सहायक गुरुजन किन्हीं विशेष विद्या-निधियों के निधिपति होते हैं। कोई अग्नि, विद्युत्, सूर्य और नक्षत्रों के विज्ञान का अधिपति है, कोई राजनीति और युद्धनीति का अधिपति है, कोई कृषि-व्यापार-पशुपालन विद्या का निधिपति है। ब्रह्मचारीगण इन आचार्यों और गुरुजनों को आदर और प्रेम से पुकारते हैं। गुरुकुल में प्रवेश कराते समय विद्यार्थी का पिता उसे कहता है—हे मेरे धन! हे मेरे पुत्र! मैं विद्यार्थी को गर्भ में धारण करनेवाले, उसके साथ अत्यन्त निकट सम्पर्क रखनेवाले आचार्य के पास तुझे लाया हूँ। तू इस आचार्य के गर्भ में वास कर। यह तेरे अज्ञान को मार कर तुझे विद्वान् बनायेगा, तुझे नया जन्म देगा, तुझे द्विज बनायेगा और तदनन्तर तेरा समावर्तन संस्कार करके तुझे राष्ट्र की सेवा के लिए गुरुकुल से विदा करेगा। तू इसकी शरण में निवास कर, तू इससे विद्या की निधि ग्रहण कर। तू भी निधिपति बनकर बाहर निकल और अपनी निधियों को बाँट।

पाद-टिप्पणियाँ

१. गर्भे दधातीति गर्भधः तम्।
२. आ-अज गतिक्षेपणयोः, लोट्।
३. आ-अज गतिक्षेपणयोः, लेट्। 'लेटोऽडाटौ' पा० ३.४.९४ से आट् का आगम।

१५३. चार पैर फैलायें

ऋषिः प्रजापतिः । देवता आचार्यब्रह्मचारिणौ ।
छन्दः स्वराड् आर्षी अनुष्टुप् ।

ताऽउभौ चतुरः पदः सम्प्रसारयाव स्वर्गे लोके
प्रोर्णुवाथां वृषा वाजी रेतोधा रेतो दधातु ॥

—यजु० २३.२०

(तौ उभौ) वे हम दोनों आचार्य और ब्रह्मचारी **(चतुरः पदः)** धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष रूप चार पैरों को **(सम्प्रसारयाव)** फैलायें। हे आचार्य और ब्रह्मचारी! तुम दोनों **(स्वर्गे लोके)** ब्रह्मचर्याश्रम रूप स्वर्ग लोक में **(प्रोर्णुवाथां)** एक-दूसरे को आच्छादित करो। हे ब्रह्मचारिन्! **(वृषा)** विद्या का वर्षक **(वाजी)** विद्या-बल से युक्त **(रेतोधाः)** विद्या एवं ब्रह्मचर्य रूप वीर्य का आधानकर्ता आचार्य **(रेतः दधातु)** तुझमें विद्या एवं ब्रह्मचर्यरूप वीर्य का आधान करे।[१]

हे ब्रह्मचारिन्! तू मुझ आचार्य के आचार्यत्व में गुरुकुल में प्रविष्ट हुआ है। आ, तेरे इस ब्रह्मचर्याश्रम में हम दोनों मिल कर चार पैर फैलायें। वे चार पैर हैं—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। सर्वप्रथम तुझे धर्मशास्त्र पढ़ना है। चारों वर्णों, चारों आश्रमों तथा राजा-प्रजा के कर्तव्यों का सैद्धान्तिक ज्ञान प्राप्त करना है। साथ ही अपने ब्रह्मचर्याश्रम के व्रतों का क्रियात्मक रूप से पालन करना है। अभी तुझे यह विदित नहीं है, न ही मुझे इसका ज्ञान है कि तू ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य में से किस वर्ण को ग्रहण करेगा। जब तू कुछ वर्ष मेरे पास रह कर व्रतपालन और अध्ययन कर लेगा, तब तू भी अपनी रुचि देखेगा और मैं भी तुझे परख लूँगा कि तुझमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य में से किस वर्ण का बनने की योग्यता है। परख लेने के बाद उसी दिशा में तेरा अध्ययन चलेगा। धर्मशास्त्र के साथ

तुझे अर्थशास्त्र भी पढ़ना है, क्योंकि विद्या जब तक अर्थकरी नहीं होती, तब तक जीवन में सफलता नहीं मिलती। तू समावर्तन संस्कार के बाद जिस अर्थकरी विद्या से धन अर्जन करने में प्रवृत्त होगा वह विद्या तुझे यहाँ ब्रह्मचर्याश्रम में ही पढ़ लेनी है। ब्रह्मचर्याश्रम में काम और मोक्ष का भी अपना स्थान है। यद्यपि गृहस्थाश्रमवाला 'काम' यहाँ नहीं है, तथापि श्रेष्ठ सङ्कल्पोंवाला 'काम' यहाँ भी है। 'काम' का महत्त्व वर्णन करते हुए अथर्ववेद (९.२.२०,२४) का कथन है कि "विस्तार में जितने बड़े द्यावापृथिवी हैं, जितनी बड़ी जलराशि और अग्नि है, उससे भी 'काम' अधिक बड़ा है। न वायु 'काम' की महत्ता को प्राप्त करता है, न अग्नि, न सूर्य, न चन्द्रमा। उनसे भी अधिक बड़ा काम है।" ब्रह्मचर्याश्रम में भी दृढ़ सङ्कल्प एवं इच्छाशक्ति का उपयोग करना अभीष्ट है। मोक्ष की भी नींव ब्रह्मचर्याश्रम में ही पड़ जाती है। मोक्ष के सम्बन्ध में सैद्धान्तिक ज्ञान ब्रह्मचारी सब प्राप्त कर लेता है, योगाङ्गों का कुछ क्रियात्मक ज्ञान भी पा लेता है। आगामी आश्रमों में मोक्ष की नींव और अधिक पक्की हो जाती है।

मन्त्र की इसके बाद की भाषा ब्रह्मचारी के माता-पिता तथा गुरुकुल से बाहर के विद्वानों की ओर से कही गयी है। ब्रह्मचर्याश्रम-रूप स्वर्ग में रहते हुए तुम दोनों आचार्य और ब्रह्मचारी स्वयं को आच्छादित-रक्षित करते रहो, जिससे पापरूप राक्षस तुम्हें व्यथित न करे। सावधान न रहने पर आचार्य और ब्रह्मचारी दोनों ही ऐसे कर्मों में लिप्त हो सकते हैं, जो उनके लिए अभीष्ट नहीं हैं। उनसे बचने के लिए आच्छादन करना, अर्थात् स्वयं को ढकना आवश्यक है। इसके पश्चात् मन्त्र कहता है कि हे ब्रह्मचारी! विद्या एवं ब्रह्मचर्यरूप वीर्य का आधानकर्ता आचार्य तुझमें विद्या एवं ब्रह्मचर्य के वीर्य का आधान करे, जिससे तू सच्चे अर्थों में विद्वान्, ब्रह्मचारी और व्रतपालक होकर गुरुकुल से बाहर आये और अपनी विद्वत्ता, ब्रह्मचर्य तथा व्रतनिष्ठा का लाभ जनता को पहुँचा सके।

पाद-टिप्पणी

१. इस मन्त्र का अर्थ उवट एवं महीधर ने अश्वमेध के अश्व एवं महिषी (राजरानी) परक अत्यन्त भ्रष्ट किया है।

१५४. वह हमारे मुख सुवचनों से सुरभित करे

ऋषिः प्रजापतिः । देवता परमात्मा आचार्यश्च । छन्दः आर्षी अनुष्टुप् ।

द॒धि॒क्राव्णो॑ऽअकारिषं जि॒ष्णोरश्व॑स्य वा॒जिनः॑ ।
सु॒र॒भि नो॒ मुखा॑ कर॒त्प्र ण॒ऽआयू॑ꣳषि तारिषत् ॥

—यजु० २३.३२

हमने **(दधिक्राव्णः)** धारण करनेवाले तथा आगे बढ़ानेवाले, **(जिष्णोः)** विजयशील, **(अश्वस्य)** व्यापक ज्ञानवाले, **(वाजिनः)** बलवान् परमेश्वर तथा आचार्य की **(अकारिषम्)** स्तुति की है। वह **(नः मुखा)** हमारे मुखों को **(सुरभि)** सुगन्धित **(करत्)** करे, और **(नः आयूंषि)** हमारी आयुओं को **(प्रतारिषत्)** बढ़ाये।[1]

आओ, दधिक्रावा वाजी 'अश्व' की स्तुति करें। वह हमारे मुखों को सुरभित करेगा और हमारी आयुओं को बढ़ायेगा। क्या कहा? दधिक्रावन्, वाजिन् और अश्व ये तीनों तो घोड़े के पर्यायवाची नाम हैं[2]। घोड़ा कैसे हमारे मुख सुरभित करेगा और कैसे हमारी आयु बढ़ायेगा? रहस्यार्थ कुछ और ही प्रतीत होता है। ये तीनों नाम आचार्य और परमेश्वर के भी हैं। आचार्य 'दधिक्रावा' है, क्योंकि वह ब्रह्मचारी को गर्भ में धारण करने के कारण 'दधि' और उसे उद्यमी और क्रियाशील बनाने के कारण 'क्रावा' है।[3] परमेश्वर जगत् को धारण करने के कारण 'दधि' और मनुष्य को सक्रिय करने के कारण 'क्रावा' है।[4] आचार्य और परमेश्वर दोनों को 'वाजी' इस हेतु से कहते हैं कि दोनों ज्ञान के बल से बली हैं। आचार्य को 'अश्व' कहने में यह कारण है कि वह गुरुकुल-रूप रथ का सञ्चालक तथा व्यापक ज्ञानवाला होता है और परमेश्वर सर्वव्यापक होने से 'अश्व' कहलाता है।

आचार्य और परमेश्वर दोनों के लिए मन्त्र में 'जिष्णु' विशेषण भी प्रयुक्त हुआ है, क्योंकि दोनों विजयशील हैं। आचार्य ब्रह्मचारी के अज्ञान पर विजय पाता है और परमेश्वर सब दुर्गुणी राक्षसों और दुर्गुणों पर विजयी होता है।

स्तोता कह रहा है कि मैं आचार्य और परमेश्वर रूप अश्व की स्तुति करता हूँ, उनके गुणों का कीर्तन करता हूँ तथा उनमें से जो गुण मेरे धारण करने योग्य हैं, उन्हें मैं भी धारण करता हूँ। ब्रह्मचारी का कर्त्तव्य है कि वह अपने आचार्य का यथायोग्य सम्मान करे, उसके पढ़ाये हुए पाठ को स्मरण करे, उसके उपदेशों का पालन करे। ब्रह्मचारी आचार्य से सीख कर जब वेदमन्त्र, शिक्षाप्रद श्लोक, सूक्तियों आदि का उच्चारण करते हैं और ज्ञान की बातें बोलते हैं, तब उनसे उनके मुख सुरभित होते हैं। आचार्य उनसे यथायोग्य व्यायाम तथा प्राणायाम आदि योगक्रियाएँ करा कर उनके शरीरों को बलवान् बनाता है, जिससे उनकी आयु बढ़ती है। परमेश्वर अपने स्तोताओं को 'श्रेष्ठ ज्ञान तथा सदाचार' में प्रवृत्त करता है तथा उन्हें सद्वचन बोलने की प्रेरणा करता है, दूसरों की निन्दा आदि से बचाता है। इस प्रकार वह उनके मुखों को सुगन्धित करता है। वह उन्हें सत्कर्मों में प्रवृत्त कर तथा दुर्व्यसनों से हटा कर उनकी आयु को भी बढ़ाता है।

आइये, हम भी आचार्य और परमेश्वर रूप 'अश्व' की स्तुति-उपासना करके अपने मुखों को सुरभित करें और दीर्घायुष्य प्राप्त करें।

पाद-टिप्पणियाँ

१. मुखा=मुखानि। सुरभि=सुरभीणि। 'शेश्छन्दसि बहुलम्' पा० ६.१.७०। करत्—कृ धातु लेट् लकार, करोतु। प्रतारिषत्—प्र पूर्वक तृ धातु वर्धनार्थक होती है, लेट् लकार।
२. निघं० १.१४
३. गर्भे दधातीति दधिः, क्रमयति क्रियाशीलं करोतीति क्रावा। दधिश्चासौ क्रावा चेति दधिक्रावा।
४. दधाति जगद् यः स दधिः, क्रमयति सक्रियं करोतीति क्रावा। दधिश्चासौ क्रावा चेति दधिक्रावा।

१५५. वेदमन्त्र हमारे फटे हृदयों को सीकर स्नेहाबद्ध कर दें

ऋषिः प्रजापतिः । देवता छन्दांसि । छन्दः आर्षी उष्णिक् ।

गायत्री त्रिष्टुब्जगत्यनुष्टुप्पङ्क्त्या सह ।
बृहत्युष्णिहा ककुप्सूचीभिः शम्यन्तु त्वा ॥

—यजु० २३.३३

हे मानव ! (**गायत्री**) गायत्री छन्द, (**त्रिष्टुप्**) त्रिष्टुप् छन्द, (**जगती**) जगती छन्द, (**पङ्क्त्या सह अनुष्टुप्**) पङ्क्ति छन्द के साथ अनुष्टुप् छन्द, (**उष्णिहा बृहती**) उष्णिक् छन्द के साथ बृहती छन्द तथा (**ककुप्**) ककुप् छन्द (**सूचीभिः**) सुइयों से जैसे वस्त्र सिला जाता है वैसे (**त्वा शम्यन्तु**) तेरे फटे हृदय को सिल कर शान्त कर दें।

अपने देश के तथा दूसरे देशों के वासी हम सब एक जगदीश्वर के पुत्र होने के कारण परस्पर भाई-भाई हैं। इसी प्रकार सब देशों की नारियाँ परस्पर बहिनें हैं। नर और नारियाँ भी आपस में भाई-बहन हैं। इस कारण एक-दूसरे के प्रति प्रगाढ़ प्रेम होना चाहिए। परन्तु देखा यह जाता है कि प्रेम तो विरलों में ही है, अधिकतर एक-दूसरे के वैरी हो रहे हैं। ईर्ष्या, द्वेष और वैरभाव देखने में आते हैं। कलह, मार-काट, हत्या, आतङ्कवाद का संत्रास ही सर्वत्र व्याप रहा है। एक देश दूसरे देश के विमानों को नष्ट कर रहा है, विषैली गैस से नर-संहार कर रहा है, संहारक शस्त्रास्त्रों से भीषण युद्ध हो रहे हैं। अणुबम छोड़े जा रहे हैं। किन्तु विभिन्न छन्दों में आबद्ध वेदमन्त्र तो परस्पर मैत्री और सौहार्द का पाठ पढ़ाते हैं, एक-दिल दो-तन होने का सन्देश देते हैं। वेद के छन्द सात हैं—

गायत्री, उष्णिक्, अनुष्टुप्, बृहती, पङ्क्ति, त्रिष्टुप्, जगती। ये आर्षी, दैवी, आसुरी, प्राजापत्या, याजुषी, साम्नी, आर्ची, ब्राह्मी के भेद से आठ प्रकार के होते हैं। नियत अक्षरसंख्या से एक अक्षर कम या अधिक होने पर वह छन्द क्रमशः निचृद् और भुरिक् कहलाता है। दो अक्षर कम या अधिक होने पर वह छन्द क्रमशः विराट् और स्वराट् माना जाता है। ककुप् इन्हीं छन्दों का वह भेद होता है, जिसमें मध्य का पाद अधिक अक्षरोंवाला हो, जैसे क्रमशः ८, १२, ८ अक्षरों के तीन पाद होने पर ककुप् उष्णिक् छन्द होता है। मन्त्र का आशय है कि इन सब छन्दों में आबद्ध वेदमन्त्र अपने मैत्री-सन्देश के द्वारा हमारे फटे हृदयों को ऐसे ही सिल दें, जैसे सुइयों से वस्त्र सिला जाता है। ऋग्वेद का जगती छन्द का एक मन्त्र कहता है कि—"युद्ध में कुछ भी प्रिय नहीं होता है"[१]। यजुर्वेद में अनुष्टुप् छन्द की वाणी है कि—"तेरे हाथ में जो बाण या शस्त्रास्त्र हैं, उन्हें दूर फेंक दे"[२]। अथर्ववेद का अनुष्टुप् छन्द का एक मन्त्र कहता है कि —"आप सब लोगों को मैं सहृदयता, सांमनस्य और अविद्वेष का पाठ पढ़ाता हूँ। एक-दूसरे से ऐसे ही प्यार करो, जैसे गाय नवजात बछड़े से प्यार करती है।[३]" इस प्रकार विविध छन्दों के वेद-मन्त्र हमारे हृदयों में पारस्परिक प्रेम की भावना उत्पन्न करें।

महीधर के वेदभाष्य के अनुसार इस मन्त्र द्वारा राजपत्नियाँ अश्वमेध के मारे हुए घोड़े के अङ्गों को लोहे, चाँदी और सोने की सुइयों से छेद-छेद कर इस हेतु जर्जर करती हैं कि उसके अङ्गों को काटने के लिए तलवार उनमें आसानी से घुस सके। बाद में कटे हुए अङ्गों का होम होगा। हमारे अर्थ की दिशा स्वामी दयानन्द सरस्वती के भाष्य से ली गयी है।

पाद-टिप्पणियाँ

१. ऋग्० ७.८३.२

२. यजु० १६.९

३. अथर्व० ३.३०.१

१५६. बकरा घोड़े के साथ

ऋषिः गोतमः । देवता यज्ञः । छन्दः निचृद् जगती ।

एष छाग॑ः पुरोऽअश्वे॑न वा॒जिना॑ पू॒ष्णो भा॒गो नी॑यते वि॒श्वदे॑व्यः ।
अ॒भि॒प्रि॒यं॒ यत्पु॑रो॒डाश॒मर्व॑ता॒ त्वष्टेदे॑न॑ꣳसौश्रव॒साय॑ जिन्वति ॥

—यजु० २५.२६

(एषः) यह **(विश्वदेव्यः[१])** सब इन्द्रियों का हितकर्ता **(छागः[२])** विवेचक मन **(वाजिना अश्वेन)** बलवान् कर्म-फलभोक्ता जीवात्मा[३] के साथ **(पूष्णः भागः)** पोषक परमेश्वर का भक्त बनकर उसके प्रति **(नीयते)** ले जाया जा रहा है। **(अर्वता)** पुरुषार्थी[४] जीवात्मा के साथ **(अभिप्रियं)** परमेश्वर को प्रसन्न करनेवाले **(पुरोडाशं[५])** हविरूप **(यत्)** जिस मन को और **(एनं)** इस जीवात्मा को **(त्वष्टा)** सृष्टिकर्ता परमेश्वर **(इत्)** निश्चय ही **(सौश्रवसाय[६])** उत्तम यश के लिए **(जिन्वति[७])** तृप्त करता है।

आओ, बकरे को घोड़े के सिर में बाँध कर 'पूषा' के पास ले चलें। ये बकरा और घोड़ा पशुपति पूषा के पास जाकर उसकी भक्ति करेंगे। किन्तु कहीं आप इन्हें सचमुच का बकरा और घोड़ा पशु मत समझ लेना। बकरे का वाचक शब्द मन्त्र में 'छाग' है। छाग शब्द छेदनार्थक 'छो' धातु से बनता है। मनुष्य के मन को भी 'छाग' कहते हैं, क्योंकि मन किसी गूढ़ सन्दर्भ की काट-छाँट या विवेचना करके विवक्षित भाव को निकालता है। 'अश्व' शब्द भोजनार्थक क्र्यादिगणी अश धातु से बना है, जिसका अर्थ यहाँ कर्मफलभोक्ता जीवात्मा है। अति बलिष्ठ होने के कारण वह 'वाजी' कहलाता है। 'पूषा' पोषक परमेश्वर का नाम है। मनुष्य अपने मन और आत्मा को पूषा परमेश्वर के सान्निध्य में ले जाकर उसकी उपासना

करते हैं, तो वे भी पूषा परमेश्वर के पोषण गुण से युक्त हो जाते हैं। वे स्वयं परिपुष्ट और शक्तिशाली होकर अन्यों को भी पोषण प्रदान करते हैं। इस प्रकार पुष्टि का साम्राज्य सर्वत्र छा जाता है। 'पूषा' परमेश्वर के साथ-साथ मनुष्य के मन और आत्मा 'त्वष्टा' परमेश्वर की भी उपासना करते हैं, जो सृष्टि का रचयिता अद्भुत शिल्पकार है। त्वष्टा की उपासना से मनुष्य के मन और आत्मा भी शिल्पकार और अद्भुत कारीगर हो जाते हैं। मन और आत्मा मिलकर स्वान्तःसुख तथा परसुख के लिए सत्साहित्य की सृष्टि करते हैं, जनहित के लिए तरह-तरह के उपयोगी यन्त्र, यान, ओषधि, चिकित्सा के उपकरण, ज्ञानवर्धन तथा मनोरञ्जन के साधन आदि का आविष्कार करते हैं। मन और आत्मा त्वष्टा प्रभु के पुरोडाश (समर्पणीय हवि) बन जाते हैं, त्वष्टा प्रभु को आत्मसमर्पण कर देते हैं। इनके आत्मसमर्पण से सन्तुष्ट होकर 'त्वष्टा' इन्हें सौश्रवस अर्थात् सुकीर्ति से संतृप्त कर देता है।

आओ, हम भी अपने बकरे और अश्व अर्थात् मन और आत्मा को पूषा और त्वष्टा देव के प्रति ले जायें तथा उन दोनों के गुण-कर्मों से संतृप्त होकर स्वयं को कृतार्थ करें।

पाद-टिप्पणियाँ

१. विश्वेभ्यो देवेभ्यः इन्द्रियेभ्यो हितः विश्वदेव्यः।
२. छ्यति छिनत्ति विविनक्ति विषयान् यः स छागः मनः। छो छेदने, दिवादिः।
३. अश्नाति कर्मफलानि भुङ्क्ते यः सोऽश्वः जीवात्मा। (अश्वः कस्मात्? अश्नुते ऽध्वानं महाशनो भवतीति वा, निरु० २.२८)।
४. ऋच्छति गच्छति पुरुषार्थी भवतीति अर्वा।
ऋ गतौ, वनिप् प्रत्यय उ० ४.११४।
५. पुरः अग्रे दाश्यते दीपते इति पुरोडाशः हविः।
पुरस्-दाशृ दाने।
६. श्रूयते इति श्रवः यशः, शोभनं श्रवः सुश्रवः, सुश्रवसो भावः सौश्रवसम्।
७. जिवि प्रीणने, भ्वादिः।

१५७. परिपक्व वाजी की सुगन्ध

ऋषिः गोतमः। देवता विश्वेदेवाः। छन्दः स्वराड् आर्षी त्रिष्टुप्।

ये वा॒जिनं॑ परि॒पश्य॑न्ति प॒क्वं यऽईं॑मा॒हुः सु॑र॒भिर्निर्हृ॒रेति॑।
ये चार्व॑तो मा॒ꣳसभि॒क्षामु॒पास॑तऽउ॒तो तेषा॑म॒भिगू॑र्त्तिर्नऽइन्वतु॥

—यजु० २५.३५

(ये) जो विद्वान् लोग **(वाजिनं)** बलवान् ब्रह्मचारी को **(पक्वं)** विद्या और सदाचार से परिपक्व **(परिपश्यन्ति)** देखते हैं, और **(ये)** जो **(ईम्)** इसके विषय में **(आहुः)** कहते हैं कि यह **(सुरभिः)** पाण्डित्य और सदाचार से सुरभित हो गया है, हे आचार्यवर! **(निर्हर इति)** अब इसका समावर्तन संस्कार करके समाजसेवा के लिए इसे गुरुकुल से बाहर निकालिये, **(ये च)** और जो **(अर्वतः[1])** क्रियाशील उस ब्रह्मचारी के **(मांसभिक्षाम् उपासते)** मांसल शरीर की भिक्षा माँगते हैं, **(उतो)** अरे! **(तेषाम् अभिगूर्तिः[2])** उनका उद्योग **(नः इन्वतु[3])** हमें भी प्राप्त हो, अर्थात् हम भी वैसा ही करें।[4]

माता-पिता अपने बालक को ज्ञानी और सदाचारी बनाने के लिए गुरुकुल में आचार्य को सौंप देते हैं। वह आचार्य तथा अन्य गुरुजनों के सान्निध्य में रहता हुआ विद्वान् और आचारवान् बन जाता है। जब वह आचार्य के पास आता है, तब कुम्हार के कच्चे घड़े के समान ज्ञान और आचार में कच्चा होता है, गुरुजनों की शिक्षारूप अग्नि से आबे की अग्नि से घड़े के समान परिपक्व हो जाता है। तब उससे पाण्डित्य और सदाचार की सुगन्ध उठने लगती है।

जब ब्रह्मचारी के माता-पिता आदि सम्बन्धी जन तथा

समाज के विद्वद्वर्ग यह देखते हैं ब्रह्मचारी गुरुकुल में पढ़कर तथा व्रतपालन करके विद्वान्, व्रतनिष्ठ तथा सदाचारी हो गया है, कच्चे से परिपक्व हो गया है और इसके अन्दर से ज्ञान-विज्ञान तथा सत्यनिष्ठा का सौरभ उठ रहा है, तब वे आचार्य से प्रार्थना करते हैं कि अब आप इसका समावर्तन संस्कार करके इसे समाजसेवा के लिए गुरकुल से बाहर भेजिए। वे यह भी देखते हैं कि जो बालक गुरुकुल-प्रवेश के समय गुम-सुम और उदासीन लगता था, वह अब चुस्त और क्रियाशील हो गया है, तब उनकी और भी अधिक इच्छा होती है कि इसका मांसल शरीर जनता की सेवा में लगना चाहिए। वे आचार्य से इसके मांसल शरीर की समाज के लिए भिक्षा माँगते हैं।

अन्तिम चरण में कहा गया है कि जो लोग आचार्य से वाजी तथा ज्ञान एवं सद्वृत्त में परिपक्व ब्रह्मचारी को गुरुकुल से बाहर भेजने की प्रार्थना करते हैं, उनका यह उद्यम हमें भी प्राप्त हों, अर्थात् हम भी उद्यमी होकर आचार्य से वैसी प्रार्थना करें। इस प्रकार आचार्य हम सबकी इच्छा का आदर करके ब्रह्मचारी को समाज के अर्पण करेंगे, जिससे सारा समाज कृतार्थ होगा, समाज से कुरीतियों का उन्मूलन होगा, ज्ञानसलिल की धारा बहेगी, सदाचार चिरंजीवी होगा, कदाचार तिरस्कृत होगा। ऐसे अनेक ब्रह्मचारी गुरुकुल से बाहर आयेंगे और विभिन्न प्रदेशों को अपना कार्यक्षेत्र बना कर ज्ञान प्रसार करेंगे, तो राष्ट्र उन्नति के शिखर पर आसीन होकर गौरवान्वित होगा।

पाद-टिप्पणियाँ

१. ऋ गतिप्रापणयोः। ऋच्छति क्रियाशीलो भवतीति अर्वान्, तस्य अर्वतः।
२. अभि-गुरी उद्यमने, क्तिन्।
३. इन्वतु प्राप्नोतु। इन्वति गत्यर्थक, निघं० २.१४
४. प्रस्तुत मन्त्र का अर्थ उवट एवं महीधर ने अश्वमेध के अश्व को काट कर पकाने के पक्ष में किया है।

१५८. भौतिक और दिव्य सम्पदा की याचना

ऋषिः गोतमः। देवता प्रजा। छन्दः स्वराड् आर्षी पङ्क्तिः।

सुगव्यं नो वाजी स्वश्व्यं पुंसः पुत्राँ२ ॥ऽउत विश्वापुषं रयिम्।
अनागास्त्वं नोऽअदितिः कृणोतु क्षत्रं नोऽअश्वो वनताᳬहविष्मान्॥

—यजु० २५.४५

(वाजी) बलवान् धनी परमेश्वर **(नः)** हमारे लिए **(सुगव्यं)** श्रेष्ठ गौओं का समूह, **(स्वश्व्यं)** श्रेष्ठ घोड़ों का समूह, **(पुंसः पुत्रान्)** पुरुषार्थी पुत्र-पुत्रियाँ **(उत)** और **(विश्वापुषं रयिम्)** सबका पोषण करनेवाली सम्पत्ति **(कृणोतु)** करे, देवे। **(अनागास्त्वं)** निरपराधता एवं निष्पापता **(नः)** हमारे लिए **(अदितिः)** वेदवाणी[1] **(कृणोतु)** करे। **(हविष्मान्)** प्रजा से कर लेनेवाला **(अश्वः)** राष्ट्ररथ को चलानेवाला राजा **(नः)** हमें **(क्षत्रं)** क्षात्रबल और क्षत से त्राण **(वनतां[2])** प्रदान करे।

परमेश्वर 'वाजी' अर्थात् बहुत बलवान् है। शरीरधारी न होते हुए भी वह शारीरिक बल के और अध्यात्म बल के भी सभी कार्य करता है। लोकलोकान्तरों को उसने बिना डोर के ही आकाश में लटकाया हुआ है, जैसे कोई बली पुरुष अपनी भुजा से पकड़कर भारी से भारी वस्तु को आकाश में स्थिर रखे। अध्यात्म बल के कार्य भी वह करता है, जैसे निर्बुद्धि को परम बुद्धिमान् बना देता है और आत्मा में इतना बल दे देता है कि वह अणु होता हुआ भी बड़े से बड़े कार्य कर सके। 'वाजी' का अर्थ धनी भी होती है[3]। परमेश्वर धनवान् भी इतना है कि समस्त सांसारिक और आध्यात्मिक धन उसके पास हैं। हम चाहते हैं कि वह हमें 'सुगव्य' अर्थात् श्रेष्ठ गौओं का समूह और 'स्वश्व्य' अर्थात् श्रेष्ठ अश्वों का समूह प्रदान करे। पशुरूप गौओं और घोड़ों के समूह की प्रत्येक को

आवश्यकता नहीं होती, व्यापारी को ही हो सकती है। 'गौ' किरण या प्रकाश का वाचक भी है। 'सुगव्य' का अर्थ है अध्यात्मप्रकाश की किरणों का समूह और 'स्वश्व्य' से श्रेष्ठ प्राणबल का समूह भी अभिप्रेत है, जिसकी प्रत्येक को आवश्यकता और चाह होती है। हम चाहते हैं कि 'वाजी' परमेश्वर हमें पुरुषार्थी पुत्र-पुत्रियाँ भी प्रदान करे। पुत्र और पुत्रियों का समास होने पर संस्कृत-व्याकरण में एकशेष के नियम से 'पुत्र' ही शेष रहता है। अतः 'पुंसः पुत्रान्' में पुत्रों के साथ पौरुषवती पुत्रियाँ भी सम्मिलित हैं। धनी परमेश्वर से हम 'विश्वापुष रयि' अर्थात् सबका पोषण करनेवाली सम्पत्ति की भी याचना करते हैं। वह समाज और राष्ट्र में प्रत्येक के निर्वाह के लिए आवश्यक सम्पदा प्रदान करे। संसार में कुछ का ही पोषण न होकर सबका पोषण होना चाहिए, यही वैदिक मर्यादा है।

इसके अतिरिक्त 'अनागास्त्व' अर्थात् निष्पापत्व भी हम पाना चाहते हैं। 'अदिति' हमें निष्पापता प्रदान करे। अदिति का एक अर्थ 'वेदवाणी' भी है। वेद में निष्पाप होने की प्रार्थना प्रचुरता के साथ मिलती है। अथर्ववेद पाप में चेतनत्व का आरोप करके उसे फटकारते हुए दूर भाग जाने का आदेश देता है।[४] पाप धुएँ में घुट कर, पानी में गल कर नष्ट हो जाए,[५] यह कहा गया है। संसार की वस्तुओं का नाम ले-ले कर कहा गया है कि वे हमें पाप से मुक्त करें।[६] वेद से प्रेरणा लेकर हम मानसिक और क्रियात्मक दोनों प्रकार के पापों से मुक्त रहें, तभी हम उन्नतिपथ पर अग्रसर हो सकते हैं।

प्रजा से 'हवि' अर्थात् कर लेनेवाला और राष्ट्ररथ को अश्व के समान चलानेवाला राजा हमें सैनिक शिक्षा देकर क्षात्रबल से युक्त करे। वेद सैनिक शिक्षा को सबके लिए अनिवार्य बताता है।

पाद-टिप्पणियाँ

१. अदितिः=वाक्, निघं० १.११
२. वन सम्भक्तौ।
३. (वाजं) धनम् ऋ० ६.५४.५, द० भा०।
४. अ० ६.४५.१। ५. अ० ६.११३.२। ६. अ० ११.६

१५९. वेदाध्ययन का अधिकार सबको

ऋषिः लौगाक्षिः। देवता ईश्वरः। छन्दः स्वराड् अत्यष्टिः।

यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः। ब्रह्मराजन्याभ्याᳪ शूद्राय चार्य्याय च स्वाय चारणाय च। प्रियो देवानां दक्षिणायै दातुरिह भूयासमयं मे कामः समृध्यतामुप मादो नमतु॥

—यजु० २६.२

वेदों का वक्ता ईश्वर कहता है—(**यथा**) क्योंकि (**इमां कल्याणीं वाचं**) इस कल्याणकारिणी वेदवाणी को (**जनेभ्यः**) सभी जनों के लिए (**आवदानि**) मैं उपदेश कर रहा हूँ, (**ब्रह्मराजन्याभ्यां**) ब्राह्मण और क्षत्रिय के लिए भी (**शूद्राय च**) जन्म से शूद्र के लिए भी (**अर्याय च**) और वैश्य के लिए भी, (**स्वाय च**) अपनों के लिए भी (**अरणाय च**) और परायों के लिए भी, अतः मैं (**इह**) इस संसार में (**देवानां**) विद्वानों का और (**दक्षिणायै दातुः**) वेदों का दान अन्यों को देनेवाले का (**प्रियः भूयासम्**) प्यारा होऊँ। अब विद्यार्थी कहता है कि—(**अयं मे कामः**) यह मेरी इच्छा (**समृद्ध्यतां**) पूर्ण हो कि (**अदः**) यह वेदज्ञान (**मा उप नमतु**) मुझे समीपता से प्राप्त रहे।

वेद परमेश्वर का दिया हुआ ज्ञान है। परमेश्वर कहता है कि यह कल्याणी वेदवाणी मैंने सभी जनों के लिए बोली है, ब्राह्मण के लिए भी, क्षत्रिय के लिए भी, वैश्य के लिए भी और शूद्र के लिए भी। सभी के कर्त्तव्य कर्मों का इसमें वर्णन है, सभी के लिए उपयुक्त ज्ञान इसमें भरा है। ब्राह्मण के लिए विहित अध्ययन-अध्यापन, शिक्षारीति, यज्ञ-याग, दान देना-लेना भी इसमें वर्णित है, क्षत्रियोचित राजनीति, युद्धनीति आदि

भी है, वैश्य के कर्म कृषि, व्यापार, पशुपालन भी हैं और शूद्रोचित सेवा भी है। इसके अतिरिक्त वे सन्देश भी इसमें प्रतिपादित हैं जो निरपवाद सबके लिए समान हैं, सार्वभौम धर्म हैं। कोई मेरा भक्त हो या मेरी सत्ता को न माननेवाला नास्तिक हो, उसके लिए भी यह वेदविद्या मैंने दी है, क्योंकि इसे पढ़कर भक्त को यह शिक्षा मिलेगी कि केवल भक्ति ही नहीं, कर्म भीं करना है और नास्तिक को भी मुझमें श्रद्धा होने लगेगी। इस वेदवाणी का श्रवण करके जो विद्वान् बनेंगे और विद्वान् बनकर वे भी मेरी तरह इसका दान या अध्यापन औरों को करेंगे, उन सबका मैं प्रिय हो जाऊँगा। वे वेदों पर रीझ-रीझ कर कहेंगे कि कैसा विद्या का भण्डार परमेश्वर ने हमारे कल्याण के लिए दिया है और वे मुझसे प्रेम करने लगेंगे। अन्तिम वाक्य विद्यार्थी की ओर से कहा गया है। वह कहता है कि मेरी यह कामना पूर्ण हो मैं कि वेद पढ़ूँ और मेरे मानस में वेदविद्याएँ छायी रहें।

मन्त्र इस ओर भी घटता है कि वेदाध्यापक आचार्य कह रहा है कि मेरी वेद की कक्षा में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, आस्तिक, नास्तिक सभी बैठकर पढ़ सकते हैं, कोई ऐसा नहीं है, जो वेद पढ़ने के अधिकार से वञ्चित हो। महिलाएँ भी अपनी अध्यापिका से वेद पढ़ सकती हैं। इस योजना में भी अन्तिम वाक्य विद्यार्थी की ओर से ही है कि मेरी इच्छा हैं कि वेद का ज्ञान मेरे मन और आत्मा में छा जाए।

दयानन्दभाष्य में इस मन्त्र का भावार्थ यह लिखा है—"परमात्मा सब मनुष्यों के प्रति उपदेश दे रहा है कि वह चारों वेदों की वाणी सब मनुष्यों के हित के लिए मैंने उपदिष्ठ की है, इसमें किसी का अनधिकार नहीं है। जैसे मैं पक्षपात छोड़कर सब मनुष्यों में वर्तमान होता हुआ सबका प्यारा हूँ, वैसे ही आप लोग भी हों। ऐसा करने पर तुम्हारी सब कामनाएँ सिद्ध होंगी।"

१६०. महेन्द्र जगदीश्वर

ऋषिः वसिष्ठः । देवता इन्द्रः । छन्दः निचृद् आर्षी जगती ।

महाँ२ ।।ऽइन्द्रो वज्रहस्तः षोडुशी शर्म यच्छतु ।
हन्तु पाप्मानं योऽस्मान्द्वेष्टि ।
उपयामगृहीतोऽसि महेन्द्राय त्वैष ते योनिर्महेन्द्राय त्वा ।।

—यजु० २६.१०

(**महान्**) महान् है (**इन्द्रः**) परमैश्वर्यशाली जगदीश्वर[1], (**वज्रहस्तः**) वज्र अर्थात् दण्डशक्ति उसके हाथ में है, (**षोडशी**) सोलहों कलाओंवाला अर्थात् पूर्ण है। वह हमें (**शर्म यच्छतु**) सुख देवे। (**हन्तु**) विनष्ट करे (**पाप्मानं**) पाप को, (**यः अस्मान् द्वेष्टि**) जो पाप हमसे द्वेष करता है। हे मेरे आत्मन्! (**उपयामगृहीतः असि**) तूने यम, नियम आदि व्रत ग्रहण किये हुए हैं, (**महेन्द्राय त्वा**) मैं तुझे महेन्द्र के अर्पित करता हूँ। (**एष ते योनिः**) यह महेन्द्र तेरा शरणगृह[2] है। (**महेन्द्राय त्वा**) महेन्द्र की स्तुति, प्रार्थना, उपासना के लिए तुझे प्रेरित करता हूँ।

इन्द्र परमेश्वर का नाम है, क्योंकि वह परमैश्वर्यवान् है। वह महान् सम्राट् है, उसकी महिमा महान् है। वह 'वज्रहस्त' है, अधार्मिक दुराचारियों को दण्ड देने के लिए उसके हाथ में वज्र रहता है। वज्रपात करता है वह दुष्टों पर, उनकी सब सम्पदा वज्र के आघात से चूर-चूर हो जाती है। थोड़ी देर पहले जो फूल-फल रहे थे, क्षण भर में धूल में लोटने लगते हैं। वह षोडशी है, पूर्णिमा के चाँद के समान सोलहों कलाओं से परिपूर्ण है, उसमें कोई न्यूनता नहीं है। न उसके ज्ञान में कोई कमी है, न कर्म में कोई कमी है, न उसके ईश्वरत्व में

कोई कमी है। हम चाहते हैं कि वह हमें सुख प्राप्त कराये, आनन्द-सागर में गोते लगवाये, आनन्द की लहरों में झुलाये, हमारा कल्याण ही कल्याण करे। पाप विचार और पाप कर्म, जो हमसे द्वेष करते हैं और हमें घेरे रहते हैं, उन्हें वह विनष्ट कर दे। चोरी, हिंसा, गुरुद्रोह, कन्याभ्रूणहत्या, आतङ्कवाद, बलात्कार आदि पातक हमारे समाज से लुप्त हो जाएँ।

हे मेरे आत्मन्! तू 'उपयामगृहीत' है, तूने यम-नियमों, उपनियमों के पालन का व्रत ग्रहण किया है, दीक्षा ली है। व्रतपालन की शक्ति प्राप्त करने के लिए मैं तुझे 'महेन्द्र' के अर्पित करता हूँ, महामहिम जगदीश के सुपुर्द करता हूँ। वह शक्ति का भण्डार है, तुझे भी शक्ति देगा। वह व्रतपति है, तुझे भी व्रतपति बनायेगा। वह महेन्द्र तेरा शरणगृह है, शरणागतत्राता है। उस महेन्द्र की स्तुति, प्रार्थना, उपासना के लिए तुझे प्रेरित करता हूँ, तत्पर करता हूँ, उस महेन्द्र का प्रेमी तुझे बनाता हूँ, उसके ध्यान में मग्न तुझे करता हूँ। तू महेन्द्र का हो जा, महेन्द्र तेरे पीछे-पीछे दौड़ेगा।

आओ, वज्रहस्त, षोडशी महान् इन्द्र के गीत गायें। वह हमें सुख-सरोवर में स्नान करायेगा, महापापों से हमारा त्राण करेगा, हमारे समर्पण को स्वीकार करेगा।

पाद-टिप्पणियाँ

१. 'इदि परमैश्वर्ये' इस धातु से रन् प्रत्यय करने पर इन्द्र शब्द सिद्ध होता है। य इन्दति परमैश्वर्यवान् भवति स इन्द्रः परमेश्वरः—स० प्र०, समु० १।

२. योनि=गृह। निघं० ३.४

१६१. धन कमायें, दान करें

ऋषिः महीयवः । देवता ईश्वरः । छन्दः विराड् आर्षी गायत्री ।

एना विश्वान्यर्यऽआ द्युम्नानि मानुषाणाम् ।
सिषासन्तो वनामहे ॥

—यजु० २६.१८

(**अर्यः**) ईश्वर ने (**मानुषाणां**) मनुष्यों के (**एना विश्वानि द्युम्नानि**) इन सब धनों को (**आ**) प्राप्त कराया है। हम उन्हें (**सिषासन्तः**[1]) दान करना चाहते हुए (**वनामहे**[2]) सेवन करें।

'अर्य' शब्द के दो अर्थ होते हैं, ईश्वर (स्वामी) और वैश्य। ईश्वर अर्थ में यह अन्तोदात्त होता है और वैश्य अर्थ में आद्युदात्त।[3] यहाँ अन्तोदात्त होने से ईश्वर अर्थ है। 'द्युम्न' शब्द निघण्टु में धनवाचक शब्दों में पठित है।[4] दीप्त्यर्थक द्युत धातु से इसकी निष्पत्ति होती है।[5] जगत् में धन भरे पड़े हैं। सोना, चाँदी, हीरे, गन्धक, कोयले, नमक आदि की खाने हैं, मिट्टी के तेल के कूप हैं, समुद्र में मोती बिखरे हुए हैं। धरती अन्न उपजाती है। बाग-बगीचे फल देते हैं। रेशम के कीट रेशम देते हैं, जिनसे रेशमी वस्त्र बनते हैं। कपास के पौधे कपास देते हैं, जिनकी रुई से वस्त्र बनते हैं। जङ्गल में जङ्गली फल-फूल-कन्द निःशुल्क मिल जाते हैं। ईश्वर द्वारा बिना मूल्य के दिये हुए इन सब धनों पर मनुष्य ने अधिकार कर लिया है। अधिकारी मनुष्य इन्हें मोल बेचते हैं। किन्तु हैं वे सब धन परमात्मप्रदत्त ही। कुछ मूल्य चुकाना पड़ जाता है, तो भी मनुष्य को ये सब धन स्वयं बनाने नहीं पड़ते हैं। हैं ईश्वर के बनाये हुए ही। ईश्वर द्वारा दिये हुए इन धनों का हम उपभोग करते हैं, सेवन करते हैं। मन्त्र हमारा ध्यान इस

ओर आकृष्ट कर रहा है कि हम इनका सेवन तो करें, किन्तु जिनके पास ये धन नहीं हैं, उन्हें हम इनका दान भी करें। हम पूंजीवादी प्रवृत्ति के होकर इनका अपने ही पास संग्रह न करते चलें, हम अपरिग्रही बनें। अपने पास उतना ही रखें, जितने की हमें आवश्यकता है, उससे अधिक धन, जो हमारे पास है, उसे हम उन्हें दान कर दें, जिन्हें उसकी आवश्यकता है। समाज में कुछ लोग अत्यधिक धनी हों और कुछ अत्यधिक निर्धन हों, यह वैदिक विभाजन नहीं है। वैदिक विभाजन यह है कि सबके पास धन पहुँचना चाहिए। सबको खाने-पीने-पहनने का अधिकार है। उस अधिकार को जहाँ छीना जाता है, वहाँ सीमा से अधिक वैषम्य होता है। कुछ लोगों के कोठे भरे रहते हैं और कुछ लोग अन्न के दाने और वस्त्र के टुकड़े के लिए तरसते हैं, तड़पते हैं। दान की भावना इस वैषम्य का सुन्दर इलाज है। ईश्वर का दिया हुआ धन सब भाई-बहिनों में बाँटकर भोगें, यही वैदिक सन्देश है।

•

पाद-टिप्पणियाँ

१. सिषासन्तः, षणु दाने, सनितुं दातुमिच्छन्तः। सन्, शतृ।
२. वनामहे संभुज्महे, वन संभक्तिशब्दयोः भ्वादिः।
३. अर्यः स्वामिवैश्ययोः पा० ३.१.१०३। ऋ गतौ अस्माद् ण्यति प्राप्ते स्वामिवैश्ययोः अभिधेययोः यत् प्रत्ययो निपात्यते। अर्यः स्वामी, अर्यो वैश्यः। 'यतो ऽ नावः' पा० ६.१.२१३ इत्याद्युदात्तत्वे प्राप्ते 'स्वामिन्यन्तोदात्तं च वक्तव्यम्।' स्वामिवैश्ययोरिति किम्? आर्यो ब्राह्मणः—काशिकावृत्ति।
४. निघं० २.१०
५. द्युम्नं द्योततेः, निरु० ५.३३

१६२. यज्ञाग्नि यजमान को प्रबुद्ध करे

ऋषिः अग्निः। देवता अग्निः। छन्दः आर्षी त्रिष्टुप्।

सं चेध्यस्वाग्ने प्र च बोधयैनमुच्च तिष्ठ महते सौभगाय।
मा च रिषदुपसत्ता तेअग्ने ब्रह्माणस्ते यशसः सन्तु माऽन्ये॥

—यजु० २७.२

(**अग्ने**) हे यज्ञाग्नि! (**सम् इध्यस्व च**) तू समिद्ध भी हो (**प्रबोधय च एनम्**) और इस यजमान को प्रबुद्ध भी कर। (**उत् तिष्ठ च**) ऊँचा स्थित हो (**महते सौभगाय**) हमारे महान् सौभाग्य के लिए। (**अग्ने**) हे यज्ञाग्नि! (**मा च रिषत्**[१]) हिंसा न करे (**ते उपसत्ता**[२]) तेरे समीप बैठनेवाला यजमान। (**ते ब्रह्माणः**) तेरे ब्राह्मण पुरोहित, यजमान आदि (**यशसः सन्तु**) यशस्वी हों, (**मा अन्ये**) अन्य अयाज्ञिक जन यशस्वी न हों।

वायुमण्डल को सुगन्धित और रोगकीटाणुरहित करने के लिए सुगन्धित, मीठे, पुष्टिप्रद और रोगहर द्रव्यों एवं ओषधियों का अग्नि में होम करना सर्वश्रेष्ठ उपाय है। ये द्रव्य अग्नि में जल कर सूक्ष्म होकर वायु में मिलकर पंचभूतों को शुद्ध करते हैं। हे यज्ञाग्नि! तू यज्ञकुण्ड में समिद्ध हो, प्रदीप्त हो, ऊँची-ऊँची ज्वालाओं से प्रकाशित हो और यजमान को प्रबोध भी प्रदान कर। यजमान तुझसे ऊर्ध्वगामिता का सन्देश ग्रहण करे, तेरे समान स्वयं को ज्योतिष्मान् करे, स्वयं प्रबुद्ध और अन्यों को ज्ञानप्रकाश से प्रकाशित करे। तुझमें जो आहुति दी जाती है, उसे तू अपने पास न रख कर जनकल्याण के लिए वायुमण्डल में प्रसारित कर देता है, वैसे ही यजमान जो सम्पदा प्राप्त करे उसमें से पर्याप्त अंश वह सर्वोपयोगी बनाने के लिए दान द्वारा अन्यत्र प्रसारित कर दे। इस प्रकार के बोध

यदि यजमान तुझसे ग्रहण करता है, तो यज्ञ से दोहरा लाभ उसे प्राप्त हो जाता है, वायु-जल आदि की शुद्धि और आत्मप्रबोध। हे यज्ञाग्नि! तू हम यजमानों के महान् सौभाग्य के लिए आकाश में ऊँचा होकर स्थित हो। तेरी उच्चता से हम भी उच्च होने का व्रत ग्रहण करेंगे। हे यज्ञाग्नि! तेरे सामीप्य को प्राप्त करनेवाले यजमान यज्ञ में कोई पशुबलि आदि की हिंसा न करें। यज्ञ का नाम ही 'अध्वर' है, अतः उसमें किसी प्रकार की हिंसा न होनी चाहिए। जैसे हमें अपना जीवन प्यारा है, वैसे ही पशु भी अपने जीवन से प्यार करते हैं। यदि हम यज्ञ में पशुहिंसा करते हैं, तो किसी दिन यज्ञ में मनुष्य की भी बलि दी जाने लगेगी। हे यज्ञाग्नि! तुझसे सम्बन्ध स्थापित करनेवाले पुरोहित, यजमान, वेदपाठी, दर्शक आदि सब ब्राह्मण यशस्वी हों। जो भी परोपकार का कार्य करता है, उसे उपकृत लोगों का आशीर्वाद प्राप्त होता है और वह यशस्वी होता है। यज्ञ भी परोपकार का कार्य है, यज्ञकर्ता ब्रह्मज्ञ लोग भी निश्चय ही यशस्वी होते हैं। अन्त में मन्त्र कहता है—'मा अन्ये' अर्थात् जो यज्ञकर्ता नहीं हैं, वे यशस्वी न हों। यदि यज्ञ न करनेवाले लोग भी यशस्वी होने लगेंगे, तो फिर यज्ञ कोई क्यों करेगा? यज्ञ करने से देव परमेश्वर की पूजा होती है, सबके मिल-बैठकर मन्त्रोच्चारण आदि करने से सङ्गतिकरण या सङ्गठन होता है और आहुति-दान, दक्षिणा-दान, उपदेश-प्रदान, प्रसाद-वितरण आदि का दान भी होता है। इस श्रेष्ठतम कर्म को सभी करें और यशस्वी हों। जो न करेंगे वे अभागे लोग यशस्वी नहीं होंगे, तो वे भी यशस्वी होने के लिए यज्ञ करने लगेंगे और यज्ञ करके वे भी यशस्वी हो सकेंगे। अतः आओ, सब यज्ञ करें और सब यशस्वी हों।

पाद-टिप्पणियाँ

१. रिषत्, रिष हिंस्तर्थः, लेट्।

२. उपसत्ता, उप-षद्लृ विशरणगत्यवसादनेषु, तृच्।

१६३- सम्राट् को उद्‌बोधन

ऋषिः अग्निः । देवता अग्निः । छन्दः स्वराड् आर्षी पङ्क्तिः ।

क्षत्रेणाग्ने स्वायुः सꣳरभस्व मित्रेणाग्ने मित्रधेये यतस्व।
सजातानां मध्यमस्थाऽएधि राज्ञामग्ने विहव्यो दीदिहीह॥

—यजु० २७.५

(अग्ने) हे तेजस्वी सम्राट्! **(क्षत्रेण)** क्षात्रबल से **(स्वायुः)** अपनी राजकीय आयु **(संरभस्व)** प्रारम्भ कर। **(अग्ने)** हे अग्रनायक! **(मित्रेण)** मैत्रीसचिव की सहायता से **(मित्रधेये)** अन्य राजाओं को मित्र बनाने में **(यतस्व)** यत्न कर। **(सजातानां राज्ञां)** सहजात राजाओं में **(मध्यमस्थाः)** केन्द्रस्थ **(एधि)** हो। **(अग्ने)** हे प्रगतिशील! **(विहव्यः)** विशेष प्रशंसनीय होकर **(इह)** यहाँ राजसंघ में **(दीदिहि[१])** देदीप्यमान हो।

हे अग्नितुल्य नवनिर्वाचित तेजस्वी सम्राट्! आज से आप सम्राट् का कार्यभार संभाल रहे हो। क्षात्रबल के प्रदर्शन से अपनी राजकीय आयु प्रारम्भ करो। शस्त्रास्त्रों का प्रदर्शन करो, सैनिक व्यूहरचना का प्रदर्शन करो, सैनिक अभियान का प्रदर्शन करो, स्थल-सेना, जल-सेना और अन्तरिक्ष-सेना के साहसों का प्रदर्शन करो। अपना क्षात्रबल बढ़ाओ, सेना का क्षात्रबल बढ़ाओ, प्रजा का क्षात्रबल बढ़ाओ। राष्ट्र में सैनिक शिक्षा अनिवार्य करो। क्षात्रबल के प्रदर्शन से आप अजातशत्रु हो सकोगे और यदि कोई राष्ट्र शत्रुता का दम भरेगा भी, तो उससे आत्मरक्षा भी कर सकोगे और उसे पराजित करने का सामर्थ्य भी जुटा सकोगे। आप अपने मन्त्रिमण्डल में 'मित्र' नामक मैत्री-सचिव भी रखोगे। उसकी सहायता से राष्ट्रों को

अपने मित्र बनाना, मैत्री की सन्धि करना। अपने शत्रु उत्पन्न करना स्वस्थ राजनीति नहीं है। शत्रु यदि कोई राष्ट्र हो भी, तो उससे मैत्री कर लेना ही उचित है। आपके समान कोटि के जो सम्राट् हैं, उनमें शीर्षस्थ या केन्द्रस्थ बनने का यत्न करना। प्रगतिशील बनना, उदासीन नहीं। तब आप अन्य सम्राटों में प्रशंसनीय कहलाओगे। तब राष्ट्रसंघ की सदस्यता ग्रहण करने पर आपको अध्यक्ष का पद प्राप्त होगा, आप देदीप्यमान होंगे। आप अन्य सम्राटों का मार्गदर्शन कर सकोगे और शान्तिस्थापना में आपका विशेष योगदान माना जायेगा।

पाद-टिप्पणी

१. दीदयति=ज्वलति। निघं० १.१६

१६४. तीन देवियाँ राष्ट्र-यज्ञ में आसीन

ऋषिः अग्निः । देवता इडा सरस्वती भारती । छन्दः आर्षी गायत्री ।

तिस्रो देवीर्बर्हिरेदꣳसदन्त्विडा सरस्वती भारती । मही गृणाना ॥

—यजु० २७.१९

(मही) महती **(गृणाना[१])** उपदेश देती हुई **(इडा)** इडा, **(सरस्वती)** सरस्वती और **(भारती)** भारती **(तिस्रः देवीः)** ये तीन देवियाँ **(इदं बर्हिः)** इस राष्ट्रयज्ञ के आसन पर **(आ सदन्तु)** आकर स्थित हों।

जिस राष्ट्र में वेदोक्त तीन देवियाँ निवास करती हैं, वह राष्ट्र गौरवशाली और भाग्यशाली होता है। वे तीन देवियाँ हैं इडा, सरस्वती और भारती। 'इडा' शब्द वैदिक कोष निघण्टु में अन्नवाची[२] पठित है। अन्न भौतिक सम्पदा का सूचक है, क्योंकि रुपया-पैसा असली सम्पदा नहीं है। असली सम्पदा तो अन्न ही है, जिसके बिना हम जीवित नहीं रह सकते। अतः 'इडा' सम्पदा की देवी है। जिस राष्ट्र में निर्धनता व्याप रही होती है, जहाँ की प्रजा अन्न के दानों के लिए मुंहताज रहती है, जहाँ पचास या उससे भी अधिक प्रतिशत लोग भूखे पेट रहते हैं, वह राष्ट्र कभी उन्नत नहीं हो सकता। इसके विपरीत जिस राष्ट्र की शतप्रतिशत प्रजा ऐश्वर्यशालिनी होती है, सुख के सब साधन जहाँ विद्यमान रहते हैं, जहाँ विमानों द्वारा यात्रा होती है, जहाँ का उपजा सामान अन्य देशों को निर्यात होता है, ऐसा समृद्धिशाली देश उन्नत राष्ट्रों की पंक्ति में आसीन होता है। दूसरी देवी है 'सरस्वती', जो विद्या की देवी है। जिस देश में सब लोग शिक्षित हैं, विविध विद्याएँ जहाँ नृत्य करती हैं, जहाँ का कलाकौशल खूब समुन्नत है, वह राष्ट्र भी उन्नतिशील कहलाता है। जहाँ की बहुत कम प्रतिशत जनता

साक्षर है, वैदुष्य जहाँ आकाशकुसुमवत् है, जिस देश की सरस्वती रूठी हुई है, वह देश स्वराज्य चलाने में भी विफल होता है, वहाँ पराधीनता व्यापती है और राष्ट्र की श्रेणी में भी नहीं आता। तीसरी देवी है 'भारती'। निरुक्त के अनुसार 'भारती' का अर्थ है 'आदित्यप्रभा'।[3] अतः भारती तेजस्विता, वीरता और क्षात्रधर्म की देवी है। जिस राष्ट्र की सैन्यशक्ति विकसित नहीं है, वह आत्मरक्षा करने में भी असफल रहता है। जहाँ की प्रजा उदासीन, तेजस्विताहीन, शत्रु से भयभीत रहती है वह राष्ट्र पंगु कहलाता है। जिस राष्ट्र की प्रजा सूर्य की प्रभा के समान तेजस्विनी होती है, जहाँ ब्रह्मबल के साथ क्षात्रबल भी हिलोरें लेता है, जहाँ की स्थलसेना, जलसेना और अन्तरिक्षसेना समृद्ध होती है, वह राष्ट्र अग्रणी राष्ट्रों में परिगणित होता है।

उक्त तीनों देवियों के लिए मन्त्र में दो विशेषण दिये गये हैं—'मही' और 'गृणाना'। मही का अर्थ है महती, पूजास्पद, गगनचुम्बिनी और 'गृणाना' का अर्थ है बोलती हुई। ये तीनों देवियाँ राष्ट्र में अपने समृद्ध रूप में रहनी चाहिए, नग्न रूप में नहीं, यह 'मही' विशेषण से सूचित होता है। 'गृणाना' शब्द यह सूचित करता है कि तीनों देवियाँ बोलती हुई तस्वीर के समान होनी चाहिएँ, मूक और शोभाहीन रूप में नहीं।

आओ, हम भी अपने राष्ट्र में इडा, सरस्वती और भारती तीनों देवियों की प्रतिष्ठा करें, तीनों देवियों को उच्चासन पर बैठायें, जिससे हमारा राष्ट्र परम लक्ष्मीवान्, विद्यावान् और प्रतापवान् होकर सबसे आगे की पंक्ति में बैठने योग्य हो सके।

पाद-टिप्पणियाँ

१. गृ शब्दे, क्र्यादिः, शानच्।

२. इडा=अन्न। निघं० २.७

३. भारती, भरतः आदित्यः तस्य भाः। निरु० ८.१३

१६५. विजेता सेनाध्यक्ष का अभिनन्दन

ऋषिः बृहदुक्थो वामदेवः। देवता इन्द्रः। छन्दः निचृद् आर्षी जगती।

होता यक्षत्तनूनपातमूतिभिर्जेतारमपराजितम्। इन्द्रं देवथ्ंस्वर्विदं पथिभिर्मधुमत्तमैर्नराशꣳसेन तेजसा वेत्साज्यस्य होतर्यज॥

—यजु० २८.२

(**होता**) अभिनन्दन-यज्ञ का निष्पादक (**यक्षत्**[१]) पूजन-अभिनन्दन करे। किसका? (**ऊतिभिः**) रक्षण-शक्तियों द्वारा (**तनू-नपातम्**) शरीर को न गिरने देनेवाले, (**जेतारम्**) विजेता, (**अपराजितम्**) अपराजित (**देवं**) दीप्तिमान् (**मधुमत्तमैः पथिभिः**) अधिकाधिक मधुर मार्गों से तथा (**नराशंसने तेजसा**) वीर नरों द्वारा प्रशंसनीय तेज से (**स्वर्विदं**[२]) सुख पहुँचाने वाले (**इन्द्रं**) सेनाध्यक्ष का। वह सेनाध्यक्ष अपने अभिनन्दन में (**आज्यस्य वेतु**[३]) घृत का भक्षण करे। (**होतः**) हे अभिनन्दन-यज्ञ के होता! तू (**यज**) अभिनन्दन-यज्ञ कर।

हमारे राष्ट्र ने शत्रु-राष्ट्र पर विजय प्राप्त की है। उसका श्रेय है हमारे वीर सेनानायक को और बहादुर सैनिकों के क्षात्रबल को। विजयी राष्ट्र विजयोत्सव मना रहा है, अपने सेनानायक का अभिनन्दन कर रहा है, सैनिकों को वधाई दे रहा है, सम्मानित कर रहा है। हे होता! हे अभिनन्दन-यज्ञ के निष्पादक! आरती उतारो अपने वीर सेनाध्यक्ष की, तिलक करो सब वीरों के मस्तकों पर। हमारा सेनाध्यक्ष 'तनू-नपात्' है, इसने अपने शरीर को युद्ध में गिरने नहीं दिया है, धराशायी नहीं होने दिया है, हताहत नहीं होने दिया है। इसके विपरीत इसने शत्रुओं के सिरों को धूल चटाई है, शत्रु योद्धाओं को संत्रस्त किया

है, शत्रु वीरों की चौकड़ी भुलायी है, शत्रु-दलों के युद्धोन्माद को लज्जित किया है। हमारा नायक विजेता है, अपराजित है, इसका मुखमण्डल तेज से दमक रहा है। यह अधिकाधिक मधुर मार्गों से और वीर नरों के प्रशंसनीय तेज से विजयी होकर राष्ट्र को सुख पहुँचानेवाला है। इसे घृत और मोदक खिलाकर घृतास्वादनविधि से इसका सत्कार करो। नगाड़े बजाओ, 'वन्दे मातरम्' का गीत गाओ, जयकारे लगाओ, राष्ट्रध्वज फहराओ, विजयपदक देकर विजेता वीरों का उत्साह बढ़ाओ।

हे होता! तुम विजय-यज्ञ करो, यज्ञाग्नि में विजय की आहुतियाँ दो, यज्ञ की सुगन्ध से दिशाओं को सुवासित करो, "आ राष्ट्रे राजन्यः शूर इषव्योऽतिव्याधी महारथो जायताम्" की राष्ट्रिय प्रार्थना का स्वर गुँजाओ। पूर्णाहुतियाँ दो—"ओ३म् सर्वं वै पूर्णꣳ स्वाहा, ओ३म् सर्वं वै पूर्णꣳ स्वाहा, ओ३म् सर्वं वै पूर्णꣳ स्वाहा।"

पाद-टिप्पणियाँ

१. यक्षत्—यज देवपूजासङ्गतिकरणदानेषु, लेट् लकार, 'सिब्बहुलं लेटि' सिप् का आगम, 'लेटोऽडाटौ' अडागम।

२. स्वः सुखं वेदयति लम्भयति यः स स्वर्वित् तम्।

३. वी गतिव्याप्तिप्रजनकान्त्यसनखादनेषु, लोट् लकार।

१६६. जीवात्मा का वैभव

ऋषिः भार्गवो जामदग्निः। देवता अर्वा (आत्मा)।
छन्दः विराट् त्रिष्टुप्।

तव शरीरं पतयिष्ण्वर्वन्तव चित्तं वातऽइव ध्रजीमान्।
तव शृङ्गाणि विष्ठिता पुरुत्रारण्येषु जर्भुराणा चरन्ति॥

—यजु० २९.२२

(तव शरीरं) तेरा शरीर **(पतयिष्णु[१])** विनाशशील है **(अर्वन्)** हे ज्ञानी जीवात्मन्! **(तव चित्तं)** तेरा चित्त **(वातः इव)** वायु के समान **(ध्रजीमान्[२])** वेगवान् है। **(तव शृङ्गाणि)** तेरे रक्षाबल रूप सींग **(पुरुत्रा[३])** चारों ओर **(विष्ठिता[४])** विविध रूप में स्थित हैं, जो **(अरण्येषु)** जङ्गलों में भी **(जर्भुराणा[५])** देदीप्यमान होते हुए **(चरन्ति)** तेरे साथ विचरते हैं।

जीवात्मा को वेदों में घोड़े-वाची अश्व, अर्वन्, वाजिन् आदि शब्दों से भी उद्‌बोधन दिया गया है। घोड़े की गति विशिष्ट होती है। चलना आरम्भ करता है, तो लक्ष्य पर पहुँच कर ही दम लेता है। मनुष्य का जीवात्मा भी एक यात्री है। उसे ऊर्ध्वप्रयाण की यात्रा करके मोक्ष के सर्वोन्नत पद पर पहुँचना है। प्रस्तुत मन्त्र में जीवात्मा को अश्ववाचक 'अर्वन्' नाम से स्मरण किया गया है। 'अर्वन्' शब्द 'ऋ गतिप्रापणयोः' धातु से औणादिक वनिप् प्रत्यय करके निष्पन्न होता है।

हे अर्वन्! हे जीवात्मन्! जो शरीररूप साधन तुझे कार्य करने के लिए मिला है, वह 'पतयिष्णु' है, पतनशील है, गिर जानेवाला है, मरणधर्मा है। इसलिए उससे जल्दी से जल्दी जितना कार्य ले सके ले ले, उसके बल पर जितना उत्थान

कर सके कर ले। न जाने यह कब तुझसे छिन जाए। तेरा चित्त वायु के समान गतिमान् है। वह अद्‌भुत ज्ञान-साधन है। चित्त और शरीर की सहायता से तू जितना भी ज्ञान और कर्म का सम्पादन कर सके कर ले।

हे जीवात्मन्! तेरे पास सींग भी हैं। 'शृङ्गाणि' में बहुवचन का प्रयोग यह बता रहा है कि तुझे दो से अधिक सींग मिले हुए हैं। पशुओं के सींग रक्षा के साधन होते हैं। अतः तेरे अन्दर जो आत्मरक्षा और पररक्षा की शक्तियाँ हैं वे ही तेरे सींग हैं। निघण्टु में 'शृङ्गाणि' को ज्वलद्‌वाची शब्दों में पठित किया गया है। अतः तेरे अन्दर रक्षा करनेवाली जो तेजस्विताएँ हैं, वे ही तेरे सींग हैं। ये सींग सर्वत्र तेरे साथ रहते हैं। सर्वत्र इनसे तू अपनी तथा अन्यों की रक्षा कर सकता है। इनके द्वारा तू काम, क्रोध आदि आन्तरिक शत्रुओं से भी तथा अन्यायी, अत्याचारी, धूर्त, कपटी, दुर्व्यसनी, पापी मनुष्यों से भी आत्मरक्षा तथा पररक्षा कर सकता है। यहाँ तक कि ये तेरे सींग निर्जन जङ्गलों में भी देदीप्यमान और तीक्ष्ण रहते हैं। जहाँ कोई अन्य रक्षक दृष्टिगोचर नहीं होता, उन बीहड़ वनों में भी तेरे ये सींग रक्षा का बीड़ा उठाते हैं।

हे अर्वन्! हे घोड़े के समान वेग से आगे बढ़नेवाले जीवात्मन्! तू अपनी शक्ति को पहचान, अपनी स्थिति को पहचान, अपने साधनों को पहचान और उनका उपयोग करके शीघ्रता से लक्ष्य पर पहुँच जा। तुझे साधुवाद मिलेंगे, तेरा अभिनन्दन होगा, तेरा जयजयकार होगा।

पाद-टिप्पणियाँ

१. पतयिष्णु पतनशीलं, ताच्छील्ये इष्णुच्।
२. ध्रजीमान् गतिमत्। ध्रज गतौ, भ्वादिः।
३. पुरुत्रा, पुरु=बहु, सप्तम्यर्थ में त्रा प्रत्यय।
४. विष्ठिता=विष्ठितानि। शि का लोप।
५. जर्भुराणा=जुर्भराणानि, शि-लोप। 'जर्भुराणा देदीप्यमानानि—उवट'

१६७. पहन लो कवच, विजय पाओ

ऋषिः भारद्वाजः। देवता वर्मी। छन्दः निचृद् आर्षी त्रिष्टुप्।

जी॒मूत॑स्येव भवति॒ प्रती॑कं॒ यद्व॒र्मी याति॑ स॒मदा॑मु॒पस्थे॑।
अना॑विद्धया त॒न्वा॒ जय॒ त्वꣳस त्वा॒ वर्म॑णो महि॒मा पि॑पर्त्तु॥

—यजु० २९.३८

(जीमूतस्य[१] इव) बादल के समान **(भवति)** हो जाता है **(प्रतीकं)** रूप, **(यद्)** जब **(वर्मी)** कवचधारी योद्धा **(याति)** जाता है **(समदाम्[२] उपस्थे)** युद्धों के मध्य। हे कवचधारी योद्धा! **(अनाविद्धया तन्वा)** न बिंधे हुए शरीर के साथ **(जय)** विजय प्राप्त कर **(त्वम्)** तू। **(सः वर्मणः महिमा)** वह कवच की महिमा **(त्वा पिपर्तु)** तेरा रक्षण करती रहे।

क्या तुमने किसी योद्धा को लोहे की काली चादर का कवच पहन कर समराङ्गण में जाते देखा है? उस समय उसका रूप ऐसा लगता है, जैसे बरसात का काला बादल हो। कवचधारी योद्धा काले बादल की तरह वर्षा भी करते हैं, किन्तु उनकी वर्षा पानी की नहीं, अपितु संहारक अस्त्रों की होती है। कवच पहनकर योद्धा का शरीर सुरक्षित हो जाता है। शत्रु द्वारा छोड़े हुए तीर या अन्य अस्त्र उसे घायल नहीं कर पाते। कवच लोहे की चादर के स्थान पर चमड़े का भी पहना जाता है। कवच धारण करके योद्धा निर्भय होकर संग्राम में शत्रु के छक्के छुड़ाने की यात्रा पर निकल पड़ता है। उसका शरीर कवच से आच्छादित होने के कारण अनाविद्ध तथा अक्षत रहता है। वेद उसे उद्बोधन दे रहा है कि अनाविद्ध शरीर से तू विजय प्राप्त कर। कवच की महिमा तेरा रक्षण-

पालन करतीं रहे।

युद्ध केवल बाह्य ही नहीं होते, आन्तरिक भी होते हैं। आन्तरिक संग्रामों में प्रतिपक्षी होते हैं काम, क्रोध, लोभ, मोह, ईर्ष्या, द्वेष, उदासीनता, अनुत्साह आदि। उनके तीर भौतिक शास्त्रास्त्रों से भी पैने होते हैं। उनके आघात से बचने के लिए भी कवच पहनना पड़ता है, किन्तु वह लोहे, चमड़े आदि का नहीं, अपितु 'ब्रह्म'[3] का कवच होता है। ब्रह्म शब्द से ईश्वर-विश्वास, ज्ञान, कर्म, उपासना, उत्साह, योग-समाधि आदि गृहीत होते हैं। 'ब्रह्म' का कवच पहन लेने पर आध्यात्मिक योद्धा सुरक्षित हो जाता है, उसका आत्मा अनाविद्ध हो जाता है और आन्तरिक संग्राम में निश्चित रूप से उसकी विजय होती है। ब्रह्म-कवच से ढके रहने के कारण वह चिरकाल तक सुरक्षित बना रहता है।

हम भी बाह्य और आन्तरिक शत्रु योद्धाओं से घिरे हुए हैं। उनके विषबुझे चमचमाते नोकीले बाण हमें घायल करने के लिए व्याकुल हो रहे हैं, हमें पापों के पङ्क में लिप्त करने के लिए संनद्ध हो रहे हैं। आओ, यदि बचना चाहते हो, बाह्य तथा आन्तरिक अस्त्रों की मार से अनाविद्ध रहना चाहते हो, तो बाह्य और आन्तरिक कवच पहन कर समराङ्गण में कूद पड़ो। विजयश्री निश्चितरूप से तुम्हें प्राप्त होगी। कवच-धारण की महिमा ऐसी ही निराली है।

पाद-टिप्पणियाँ

१. जीमूत=मेघ। अमर० १.३.७

२. समत्=युद्ध। निघं० २.१७

३. ब्रह्म वर्म ममान्तरम्। अथर्व० १.१९.४

१६८. राष्ट्र के वीर सेनानायक कैसे हों?

ऋषिः भारद्वाजः । देवता वीराः । छन्दः आर्षी त्रिष्टुप् ।

स्वादुषंसदः पितरो वयोधाः कृच्छ्रेश्रितः शक्तीवन्तो गभीराः ।
चित्रसेना इषुबला अमृध्राः सतोवीरा उरवो व्रातसाहाः ॥

—यजु० २९.४६

हमारे राष्ट्र के वीर सेनानायक (**स्वादुषंसदः**) उठने-बैठने में स्वादु व्यवहार वाले हों, (**पितरः**) देश के रक्षक हों, (**वयोधाः**) उत्कृष्ट और दीर्घ आयु को धारण करने-करानेवाले हों, (**कृच्छ्रेश्रितः**) आपत्काल में आश्रय बननेवाले हों, (**शक्तीवन्तः**) शक्तिशाली हों, (**गभीराः**) गम्भीर हों, (**चित्रसेनाः**) चित्र-विचित्र सेनावाले हों, (**इषुबलाः**) शस्त्रास्त्रों का बल उनके पास हो, (**अमृध्राः**) शत्रु द्वारा अहिंस्य हों, (**सतोवीराः**) उनके साथ अनेक वीर योद्धा हों; (**उरवः**) विशाल डील-डौलवाले हों, (**व्रातसाहाः**) शत्रुसमूह को परास्त करनेवाले हों।

आओ, मित्रो! वीर-पूजा करें। राष्ट्र की रक्षा का उत्तरदायित्व जिनके ऊपर है, उन वीरों को सम्मान दें। ये सेनानायक युद्ध में अपने योद्धाओं का नेतृत्व करते हुए प्राणों की भी आहुति देने को तैयार रहते हैं। कैसे हैं ये सेनानायक? यह वेद के शब्दों में सुनिये। एक ओर जहाँ वीरता की छवि इनके रोम-रोम में व्याप्त रहती है, वहाँ दूसरी ओर उठने-बैठने, वार्तालाप करने आदि सामान्य व्यवहार में भी ये बड़े मधुर होते हैं। इनके शिष्टाचार को देख कर कोई यह सोच भी नहीं सकता कि ये शत्रु की जान जोखिम में डालनेवाले बहादुर सेनापति हैं। ये 'पितरः' हैं, देशरक्षक है, राष्ट्र की रक्षा में ऐसे संनद्ध रहते हैं कि इनका नाम सुनकर भी शत्रुसेना की हवाइयाँ उड़ने लगती हैं। ये 'वयोधाः' हैं, अपनी तथा राष्ट्रवासियों की आयु

को सुरक्षित रखनेवाले हैं। इनके होते हुए किसी को यह भय नहीं रहता कि कहीं शत्रु हमारा प्राणघात करके हमारी आयु का अपहरण न कर ले। ये स्वयं भी अपने प्राणों को सुरक्षित रख कर उत्कृष्ट और दीर्घ आयु व्यतीत करनेवाले हैं। ये 'कृच्छ्रेश्रितः' हैं, कष्ट या आपत्तिकाल में दूसरों का आश्रय बननेवाले हैं। वे बड़ी से बड़ी कठिन या विपत्ति की परिस्थिति में भी अपनी सेना को खाई में कुदा कर और स्वयं कूद कर असहाय को सहायता देनेवाले हैं। ये शक्तिशाली ऐसे हैं कि सदा युद्ध का स्वागत करने के लिए उद्यत रहते हैं, जहाँ प्राणों का सङ्कट हो वहाँ जाने में इन्हें आनन्द आता है, इनके दिल में शत्रुसंहार के अरमान भरे होते हैं। अन्दर से इनकी बाहें फड़क रही होती हैं, किन्तु ऊपर से उदासीन दिखायी देते हैं। ये 'चित्रसेन' हैं। इनकी सेनाओं में अद्भुत वीरता है, राष्ट्ररक्षा की अद्भुत उमङ्ग है, अद्भुत रणचातुरी है, शत्रु को धराशायी करने की अद्भुत कला है। ये 'इषुबल' हैं, संहारक बाणों का, बड़े से बड़े मारक अस्त्र-शस्त्रों का बल इनके पास है। ये 'अमृध्र[१]' हैं, शत्रु से अहिंसनीय हैं, क्योंकि रणनीति के ज्ञाता है। शत्रु इन्हें किसी दिशा में विद्यमान समझ रहा होता है, किन्तु ये होते दूसरी दिशा में हैं। इनके साथ अनेक वीर योद्धा हैं। इनमें से कोई पाँच सौ वीरों का, कोई सहस्र वीरों का नेतृत्व कर रहा होता है। ये विशाल डील-डौलवाले हैं, विस्तीर्ण वक्षस्थलवाले, शाल वृक्ष के समान ऊँचे और महाबाहु हैं। ये 'व्रातसाह' हैं, रिपुदल को क्षणभर में परास्त कर देनेवाले हैं। इनकी रणकुशलता के आगे अपनी सेना पर कोई आँच नहीं आती और शत्रुसेना भयभीत होकर उलटे पैर भाग खड़ी होती है। उसमें घबराहट व्याप जाती है, वह घुटने टेक कर अपनी पराजय स्वीकार कर लेती है।

आओ, हम ऐसे राष्ट्ररक्षक सेनानायकों का जयजयकार करें, इनके प्रशस्तिगीत गायें, इनका अभिनन्दन करें।

पाद-टिप्पणी

१. मृधः=संग्राम, निघं० २.१७, मृधु मर्दने, का० कृ०।

१६९. हमारा सुव्यवस्थित शासन

ऋषिः भारद्वाजः । देवता मन्त्रोक्ताः । छन्दः विराड् आर्षी जगती।

ब्राह्मणासः पितरः सोम्यासः शिवे नो द्यावापृथिवीऽअनेहसा।
पूषा नः पातु दुरितादृतावृधो रक्षा माकिर्नोऽअघशंसऽईशत॥

—यजु० २९।४७

(**सोम्यासः**[1]) शान्ति के उपासक (**ब्राह्मणासः**[2]) ब्राह्मण-जन और (**पितरः**) रक्षक क्षत्रियजन (**नः शिवाः**) हमारे लिए सुखदायक हों। (**अनेहसा**[3]) निर्दोष निष्पाप (**द्यावापृथिवी**) पिता-माता (**नः शिवे**) हमारे लिए सुखदायक हों। (**ऋतावृधः**[4] **पूषा**) सत्य को बढ़ानेवाला पोषक राजा व न्यायाधीश (**दुरितात्**) अपराध एवं पाप से (**नः पातु**) हमारी रक्षा करे। हे परमात्मन्! (**रक्ष**) हमारी रक्षा कर। (**अघशंसः नः माकिः ईशत**) पापप्रशंसक दुष्टजन हम पर शासन न करे।

हम चाहते हैं कि हमारा राष्ट्र पूर्णतः सुव्यवस्थित हो। गुण-कर्मानुसार वर्णव्यवस्था और आश्रमव्यवस्था राजकीय आदेश से प्रचलित हो, जिससे सब अपने-अपने कर्तव्य के पालन में तत्पर रहें। सौम्य, वेदज्ञ, शास्त्रमर्यादा के वेत्ता ब्रह्मवर्चस्वी ब्राह्मण ज्ञान और सदाचार का प्रजा में प्रचार-प्रसार करते रहें, राज्य के शिक्षा-स्तर को उन्नत करते रहें, प्रजा के दुरितों का ध्वंस करते रहें। रक्षक क्षत्रियवर्ग चोरों, लुटेरों, आतंकवादियों, आततायियों तथा शत्रुओं से प्रजा की रक्षा करते रहें। इस प्रकार राष्ट्र का ब्रह्मबल और क्षात्रबल मिल कर सबको समुन्नत करता रहे। वेद में सामाजिक दृष्टि से द्यावापृथिवी का अर्थ पिता-माता होता है, द्यौ पिता है, पृथिवी

माता है। देश के पिता-माताओं का कर्तव्य है कि वे स्वयं निष्पाप हों तथा प्रजा को भी निष्पाप होने की प्रेरणा करते रहें। इस प्रकार प्रजा के लिए शिव और मंगलकारी हों। पूषा, अर्थात् प्रजापोषक राजा को भी चाहिए कि वह राज्य में न्यायालयों के विकास द्वारा पापों और अपराधों से प्रजा को बचाये। ऐसी व्यवस्था हो कि पापियों और अपराधियों को न्यायालय द्वारा समुचित दण्ड मिले तथा सत्कर्मियों को सम्मानित करके प्रोत्साहित किया जाए। ऐसा न हो कि राजा और न्यायाधीश ही पाप और अपराध के प्रशंसक होकर प्रजा में पापों तथा अपराधों को प्रोत्साहन देने लगें तथा शासन में रिश्वतखोरी आदि कदाचार व्याप्त होकर शासन कु-शासन हो जाए। पूषा को मन्त्र में 'ऋतावृध' कहा गया है, इससे सूचित होता है कि राजा और न्यायाधीश का कर्तव्य है कि वे सत्य को बढ़ावा दें और असत्य की निन्दा करें। प्रजा को भी सावधान रहना चाहिए कि जब राजा और राजमन्त्रियों का निर्वाचन होने लगे, तब ऐसे व्यक्तियों को ही मत प्रदान करे, जो न स्वयं किसी पाप या अपराधवृत्ति में फँसे हुए हों और न ही पाप और अपराध के प्रशंसक हों। सदाचारी, सत्यव्रती, पापविद्रोही 'पूषा' के द्वारा ही राष्ट्र में सत्कर्मों की वृद्धि और दुराचारों की विनष्टि हो सकती है। ऐसे ही पूषा के द्वारा राष्ट्र में सत्य, बृहत्त्व, ऋत, उग्रत्व, दीक्षा, तप, यज्ञ आदि पृथिवीधारक तत्त्वों का विकास और अपराधी तत्त्वों का विनाश हो सकता है।

पाद-टिप्पणियाँ

१-२. सोम्यासः=सोम्याः। ब्राह्मणासः=ब्राह्मणाः। 'आज्जसेरसुक्' पा० ७.१.२० से जस् को असुक् का आगम।

३. अनेहसा=अनेहसौ। सुपां सुलुक्—पा० ७.१.३९ से औ का आ।

४. ऋतं वर्धयतीति ऋतावृधः। ऋत के अ को छान्दस दीर्घ।

१७०. यज्ञ को प्रेरित करो, यज्ञपति को प्रेरित करो

ऋषिः नारायणः। देवता सविता। छन्दः आर्षी त्रिष्टुप्।

देव सवितः प्र सुव यज्ञं प्र सुव यज्ञपतिं भगाय ।
दिव्यो गन्धर्वः केतपूः केतं नः पुनातु वाचस्पतिर्वाचं नः स्वदतु ॥

—यजु० ३०.१

(**देव सवितः**) हे प्रकाशक प्रेरक जगदीश्वर! आप (**प्रसुव यज्ञं**) प्रेरणा दीजिए जीवन-यज्ञ को, (**प्रसुव यज्ञपतिम्**) प्रेरणा दीजिए यज्ञपति आत्मा को (**भगाय**) भग की प्राप्ति के लिए। (**दिव्यः**) दिव्य, (**गन्धर्वः**[1]) लोकों तथा इन्द्रियों को धारण करनेवाला, (**केतपूः**[2]) प्रज्ञा एवं विचारों को पवित्र करनेवाला वह सविता देव (**केतं नः पुनातु**) हमारी प्रज्ञा तथा विचारों को पवित्र करे। (**वाचस्पतिः**) वाणी का स्वामी एवं पालनकर्ता वह परमेश्वर (**नः वाचं**) हमारी वाणी को (**स्वदतु**) मीठा बनाये।

हे मेरे परम प्रभु! तुम दानी, द्युतिमान्, प्रकाशक, मोदमय, आनन्ददाता होने से 'देव' कहलाते हो। हृदयों में शुभ प्रेरणा करने के कारण तुम्हारा नाम 'सविता' है। हे सविता देव! मैं 'भग' प्राप्त करना चाहता हूँ। धर्म, धन, यश, श्री, ज्ञान, वैराग्य आदि जो भी भजनीय ऐश्वर्य है, वह भग कहलाता है।[3] तुम इस 'भग' की प्राप्ति के लिए मेरे जीवन-यज्ञ को प्रेरित करते रहो। जीवन-यज्ञ को चलानेवाला जो यज्ञपति मेरा आत्मा है, उसे भी तुम उक्त ऐश्वर्यों की प्राप्ति के लिए सदा उत्प्रेरित करते रहो।

हे मेरे सविता प्रभु! तुम दिव्य हो, अलौकिक हो, तुम्हारी

झाँकी तुम्हारे भक्त को भी दिव्य बना देनेवाली है। हे देव! तुम 'गन्धर्व' हो। जैसे तुम विश्ववर्ती गौओं को अर्थात् लोक-लोकान्तरों को धारण करनेवाले हो, वैसे ही देहवर्ती गौओं के अर्थात् इन्द्रियादि अङ्गोपाङ्गों के भी धारणकर्ता हो। केनोपनिषद् में शिष्य ने आचार्य से प्रश्न किया है कि यह मन किससे प्रेरित होकर गति करता है, यह वाणी किससे प्रेरित होकर पदार्थों के वर्णन में प्रवृत्त होती है, चक्षु-श्रोत्र आदि इन्द्रियों को कौन देव विषयों के ग्रहण में प्रवृत्त करता है? आचार्य ने उत्तर दिया है कि वह मन का भी मन है, प्राण का भी प्राण है, वाणी की भी वाणी है, चक्षु का भी चक्षु है, श्रोत्र का भी श्रोत्र है, उसी परम प्रभु से प्रेरित होकर ये सब धृत हैं तथा अपने-अपने ग्राह्य विषयों में प्रवृत्त हो रहे हैं। इसीलिए उस प्रभु को 'गन्धर्व' कहते हैं। वह सविता प्रभु 'केतपूः' भी है, मनुष्य के विचारों को, प्रज्ञाओं को, सङ्कल्पों को पवित्र करनेवाला है। वह मेरे भी विचारों को, प्रज्ञाओं को, सङ्कल्पों को पवित्र कर देवे। वही 'वाचस्पति' भी है, हमारी वाणी का स्वामी भी है। अतः वह हमारी वाणी को स्वादिष्ठ बनाये, मिठास से भर दे।

इस प्रकार सविता जगदीश्वर से संवल पाकर हमारा यज्ञपति आत्मा मानस एवं सामाजिक यज्ञ रचाये और आध्यात्मिक एवं भौतिक सर्वविध ऐश्वर्यों से धनी होकर लक्ष्य को प्राप्त करने में सफल हो।

पाद-टिप्पमियाँ

१. गन्धर्वः—यो गाः पृथिवीः इन्द्रियाणि वा धरतीति गन्धर्वः। गोशब्दस्य गंभावः।

२. केतं विज्ञानं पुनातीति केतपूः। कित ज्ञाने, जुहोत्यादिः।

३. ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः।
ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरणा॥

१७१. किस कार्य के लिए कौन योग्य है?

ऋषिः नारायणः। देवता राजा। छन्दः स्वराड् अतिशक्वरी।

ब्रह्मणे ब्राह्मणं क्षत्राय राजन्यं मरुद्भ्यो वैश्यं तपसे शूद्रं तमसे तस्करं नारकाय वीरहणं पाप्मने क्लीबमाक्रयायाऽ अयोगूं कामाय पुँश्चलूमतिक्रुष्टाय मागधम्॥ —यजु० ३०.५

हे राजन्! आप (**ब्रह्मणे**[१]) वेद, ईश्वर और विज्ञान के प्रचार के लिए (**ब्राह्मणं**) वेदेश्वरविज्ञानविद् ब्राह्मण को, (**क्षत्राय**) राज्यसञ्चालन के लिए तथा आपत्ति से रक्षा के लिए (**राजन्यं**) क्षत्रिय को, (**मरुद्भ्यः**[२]) वृष्टिजन्य कृषिकर्म और पशुपालन के लिए (**वैश्यं**) वैश्य को, (**तपसे**) सेवारूप तप के लिए (**शूद्रं**) शूद्र को, (**तमसे**) अन्धकार में काम करने के लिए (**तस्करं**) चोर को, (**नारकाय**[३]) नरक के कष्ट के लिए (**वीरहणं**) वीरों के हत्यारे को, (**पाप्मने**) पाप के लिए (**क्लीबं**) नपुंसक को, (**आक्रयायै**) आक्रमण क्रिया के लिये (**अयोगूं**[४]) लोहे के शस्त्रास्त्र चलानेवाले को, (**कामाय**) कामजन्य विषयभोग के लिए (**पुंश्चलूं**) व्यभिचारिणी वेश्या को और (**अतिक्रुष्टाय**) अति निन्दा या प्रशंसा के लिए (**मागधं**) भाट को [उपयुक्त जानिए तथा इनकी यथायोग्य कार्यों में नियुक्ति कीजिए या इनसे यथायोग्य व्यवहार कीजिए।]

सफलता प्राप्त करने की यह नीति है कि जिस कार्य के लिए जो योग्यतम मनुष्य हो उसे उस कार्य में नियुक्त किया जाना चाहिए। यदि हम वेद, ब्रह्मविद्या, ज्ञान-विज्ञान, योगविद्या आदि का प्रचार-प्रसार कराना चाहते हैं, तो उसके लिए योग्य व्यक्ति वह है जो गुणकर्मानुसार ब्राह्मण हो। मनु ने ब्राह्मण के

कर्म अध्ययन-अध्यापन, यजन-याजन और दान देना-लेना लिखे हैं। भगवद्गीता में शम, दम, तप, शौच, क्षान्ति, आर्जव, ज्ञान, विज्ञान और अस्तिक्य ब्राह्मण के कर्त्तव्य बताते गये हैं। स्वामी दयानन्द लिखते हैं कि ये १५ कर्म और गुण ब्राह्मणवर्णस्थ मनुष्यों में अवश्य होने चाहिएँ। इन कर्मों को करने-कराने के लिए ब्राह्मण ही उपयुक्त है। क्षात्रधर्म के लिए क्षत्रिय की नियुक्ति करनी चाहिए। क्षत्रिय का मुख्य कर्त्तव्य है प्रजा की रक्षा करना, युद्ध उपस्थित होने पर पलायन न करना। अतः सैनिक, सेनापति, राजपुरुष सम्राट् आदि पदों पर क्षत्रिय को रखना उचित है। मरुतों के लिए वैश्य को जानो। मरुतों के अनेक अर्थ होते हैं, जिनमें पशु तथा अन्न अर्थ भी हैं। अतः यहाँ मरुतों से पशुपालन, व्यापार तथा कृषि ग्राह्य है। इन कर्मों के लिए वैश्य को नियुक्त करना चाहिए। सेवारूप तप के लिए शूद्र योग्य है। अन्धेरे में किये जानेवाले चोरी आदि कार्य के लिए चोर उत्तरदायी होता है। अतः चोरी होने पर चोर की धर-पकड़ की जानी चाहिए। यह आशय भी लिया जा सकता है कि कहीं अन्धेरे में कार्य करवाने की आवश्यकता हो, तो चोर को चोरी के कर्म से हटा कर प्रशिक्षित करके उससे अन्धेरे में किये जानेवाले कार्य करवाये जाने चाहिएँ। नारकीय कष्ट के लिए वीरों का हत्यारा उपयुक्त है, अतः उसे नारकीय यातनाएँ देने के लिए कारागार में डाला जाना चाहिए। नङ्गे होकर नाचना आदि नपुंसक लोग सभ्य समाज में करते हैं, अतः उसके लिए उन्हें दण्डित किया जाना चाहिए अथवा सुधार कर ऐसे कार्य करने से रोकना चाहिए। आक्रमण-क्रिया के लिए वे लोग योग्य हैं, जो लोहे के बने शस्त्रास्त्र लेकर चलते हैं, अतः उस कार्य के लिए उन्हें नियुक्त करना चाहिए। कामजन्य विषयभोग व्यभिचारिणी वेश्याएँ करती हैं, अतः उन्हें आजीविका के लिए प्रशासन की ओर से अन्य कार्य दिया जाना चाहिए, फिर भी लुकाछिपी इस कार्य को करती रहें तो उन्हें तथा जो उनके पास जाते हों, उन्हें दण्डित किया

जाना चाहिए। किसी की अत्यन्त निन्दा या अत्यन्त प्रशंसा भाट लोग करते हैं, अतः उनके साथ यथोचित व्यवहार करके उन्हें इस कार्य से विरत करना चाहिए।

सम्राट् का कर्त्तव्य है कि कौन किस प्रशस्त कार्य के योग्य है, यह जानकर उसे उस कार्य में प्रवृत्त करे और कौन किस दुराचार के लिए उत्तरदायी है, यह जानकर उसका सुधार करे या उसे दण्डित करे।

पाद-टिप्पणियाँ

१. (ब्रह्मणे) वेदेश्वरविज्ञानप्रचाराय (ब्राह्मणम्) वेदेश्वरविदम्—द०।
२. (मरुद्भ्यः) पश्वादिभ्यः प्रजाभ्यः—द०। पशवो वै मरुतः मै० ३.३.१०, काठ० २१.१०, अन्नं वै मरुतः तै०सं० २.१.६.२
३. (नारकाय) नरके दुःखबन्धने भवाय कारागाराय—द०।
४. (अयोगूं) अयसा शस्त्रविशेषेण सह गन्तारम्—द०। अयांसि अयोमयानि शस्त्रास्त्राणि गमयति चालयति यस्तम्।

१७२. परम पुरुष का प्रच्छन्न और प्रत्यक्ष स्वरूप

ऋषिः नारायणः । देवता पुरुषः । छन्दः आर्षी अनुष्टुप् ।

त्रिपादूर्ध्व उदैत्पुरुषः पादोऽस्येहाभवत्पुनः ।
ततो विष्वङ् व्यक्रामत्साशनानशनेऽअभि ॥

—यजु० ३१.४

परम पुरुष परमेश्वर (**त्रिपाद्**) तीन पादों से, तीन चतुर्थांशों से (**ऊर्ध्वः उदैत्**[१]) संसार से ऊपर उठा हुआ है, लोकातिक्रान्त है, (**इह पुनः**) इस संसार में तो (**अस्य पादः अभवत्**) इसका, इसकी महिमा का एक पाद अर्थात् चतुर्थांश ही विद्यमान है। (**ततः**) उसी एक पाद से (**विष्वङ्**[२]) विविध लोकों में गया हुआ वह (**साशनानशने**[३] **अधि**) भोग भोगनेवाले चेतन प्राणी-जगत् में और भोग-रहित अचेतन जगत् में (**व्यक्रामत्**[४]) अभिव्याप्त है।

मैं भी पुरुष हूँ और मेरा भगवान् भी पुरुष है। अन्तर केवल इतना है कि मैं तो विशेषणरहित केवल 'पुरुष' हूँ, और मेरा भगवान् 'परम पुरुष' है। मैं पुरुष इस कारण हूँ कि मैं अपनी शक्ति से शरीररूप पुरी में परिपूर्ण हूँ और मेरा प्रभु पुरुष इस कारण है कि वह ब्रह्माण्डरूप पुरी में परिपूर्ण है। यास्काचार्य ने 'पुरुष' शब्द की निष्पत्ति तीन प्रकार से की है—'पुरि सीदति, पुरि शेते, पूरयति अन्तः'[५], परमेश्वर ब्रह्माण्ड-पुरी में स्थित है, ब्रह्माण्ड-पुरी में शयन करता है, अन्तर्यामी होकर सबको अपनी सत्ता से परिपूर्ण करता है। यह पुरुष परमेश्वर 'चतुष्पाद्' कहलाता है। किसी चौकी या पशु के चारों पैर विद्यमान रहें, तो वे चौकी या पशु पूर्ण कहलाते हैं, ऐसे ही परमेश्वर की पूर्णता को बताने के लिए उसे 'चतुष्पाद्' कह दिया जाता है। प्रस्तुत मन्त्र में कहा गया है कि परमेश्वर

के उन चार पादों में से तीन पाद तो इस ब्रह्माण्ड से ऊपर हैं, परिदृश्यमान सकल ब्रह्माण्ड की विभूति तो उसके केवल एक पाद से ही सम्पन्न हो रही है। उस एक पाद से ही वह 'साशन' और 'अनशन' जगत् में अपना विक्रम दिखा रहा है। साशन और अनशन का अर्थ है भोग करनेवाला और भोग न करनेवाला अर्थात् चेतन और जड़ जगत्। चेतन जगत् की महिमा पर दृष्टि डालो। यह आत्मा, प्राण, मन, बुद्धि, ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रियों का चेतन पुतला मानव-शरीर कैसे बड़े-बड़े आत्मोपयोगी और लोकोपयोगी कार्य कर लेता है! इस चेतन मानव ने प्रत्येक क्षेत्र में अद्भुत आविष्कार किये हैं। यातायात के लिए वायुयान और जलपोत बनाये हैं, आत्मरक्षा और शत्रु-विजय के लिए युद्धोपयोगी शास्त्रास्त्र बनाये हैं। रोगों से छुटकारा दिलाने के लिए ओषधियाँ आविष्कृत की हैं। मानव से अतिरिक्त चेतन गाय, घोड़े, हाथी आदि पशुओं, रंग-बिरंगी चिड़ियों तथा अन्य जन्तुओं में भी कैसी करामात भरी हुई है। यह तो है 'साशन' अर्थात् चेतन जगत् की कथा। 'अनशन' या जड़ जगत् में भी आश्चर्यजनक चित्रकला भरी पड़ी है। बादल, नदियाँ, सागर, स्रोत, झरने, वृक्ष, लताएँ, सूर्य, चाँद, सितारे सब आदर्श कलाकृति के नमूने हैं। इनमें प्राणियों के उपयोग की सामग्री भरी पड़ी है। यह सब चेतन और जड़ जगत् की महिमा उस परम पुरुष के चार पादों में से केवल एक पाद का माहात्म्य है। इससे उस पुरुष की महान् महिमा हम कुछ-कुछ अनुमान कर सकते हैं। आओ, श्रद्धापूर्ण नमन करते हैं हम उस 'परम पुरुष' को।

पाद-टिप्पमियाँ

१. उद्-इण् गतौ, लङ् लकार।
२. विषु विविधम् अञ्चति गच्छतीति विष्वङ्।
३. अशनेन भोगेन सहितं साशनम्, न अशनेन भोगेन सहितम् अनशनम्।
४. वि क्रमु पादविक्षेपे, लङ्।
५. पुरुषः पुरिषादः पुरिशयः पूरयतेर्वा। पूरयति अन्तः इत्यन्तरपुरुषमभिप्रेत्य। "यस्मात् परं नापरमस्ति किञ्चिद् यस्मान्नाणीयो न ज्यायोऽस्ति कश्चित्। वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकस्तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम्।" निरु० २.३

१७३. आदित्य पुरुष

ऋषिः उत्तरनारायणः। देवता आदित्यपुरुषः। छन्दः निचृद् आर्षी त्रिष्टुप्।

श्रीश्च॑ ते ल॒क्ष्मीश्च॒ पत्न्या॑वहोरा॒त्रे पा॒र्श्वे नक्ष॑त्राणि रू॒पम॒श्विनौ॒ व्यात्त॑म्। इ॒ष्णन्नि॑षाणा॒मुं म॑ऽइषाण सर्वलो॒कं म॑ऽइषाण॥

—यजु० ३१.२२

हे आदित्य परमेश्वर! (**श्रीः च लक्ष्मीः च**) श्री और लक्ष्मी (**ते पत्न्यौ**) मानो तेरी सहचरियाँ हैं, (**अहोरात्रे**) दिन-रात (**पार्श्वे**) मानो पार्श्ववर्ती अनुचर हैं, (**नक्षत्राणि रूपम्**) नक्षत्र मानो तेरे रूप को सूचित करते हैं। (**इष्णन्**[1]) मैं इच्छुक हूँ, अतः (**इषाण**[2]) तू मुझे दे। (**अमुं मे इषाण**) वह मुक्तिलोक मुझे दे, (**सर्वलोकं मे इषाण**) सकल लोक, सकल लोक का ऐश्वर्य मुझे प्रदान कर।

ध्यान से देखो, आदित्य तो जड़ वस्तु है, उसके अन्दर एक चेतन पुरुष बैठा दिखायी दे रहा है, जो उसका सञ्चालन करता है। जगदीश्वर ही वह पुरुष है। हे जगदीश्वर! आप ही आदित्य के अन्दर बैठे हुए सब ग्रह-उपग्रहों का सञ्चालन कर रहे हैं। आप तेजस्वी हैं, मनस्वी हैं, महान् सम्राट् हैं। सम्राट् के समान आपकी पूजा हो रही है। जैसे किसी मानव सम्राट् की सेवा करनेवाली सहचरियाँ होती हैं, ऐसे ही श्री और लक्ष्मी मानो आपकी सेविकाएँ हैं। श्री से शोभा, कान्ति, तेजस्विता, आभा सूचित होती है और लक्ष्मी से सम्पदा। आप सबसे बड़े श्रीमान् और लक्ष्मीवान् हैं। जैसे किसी मानव सम्राट् के पार्श्ववर्ती अनुचर होते हैं, ऐसे ही दिन-रात मानो आपके पार्श्ववर्ती अनुचर हैं। चमकीले नक्षत्र मानो आपके रूप को सूचित करते हैं। द्यावापृथिवी (अश्विनौ) मानो आपका

खुला हुआ मुख है। इस प्रकार सारी ही प्रकृति मानो आपके अङ्गोपाङ्ग बनी हुई है या आपकी अङ्गरक्षिका का कार्य कर रही है। पर्वत आपके पहरेदार हैं, नदियाँ मानो आपके पग धोती हैं, समुद्र मानो आपकी गम्भीरता का प्रतिनिधित्व करते हैं। वृक्ष-वल्लरी मानो आपको छाया प्रदान करते हैं। अन्तरिक्ष-वर्ती विद्युत् मानो आपका प्रकाशस्तम्भ है। सूर्य-चन्द्रमा मानो आपके नेत्र हैं। दिशाएँ मानो आपकी ज्ञानवाहिनी नाड़ियाँ हैं। वस्तुतः तो आप 'अकाय' हैं, भौतिक शरीर से रहित हैं। न आपकी सहचारियाँ हैं, न अनुचर हैं, न आपका मुख है, न आपके अङ्गरक्षक हैं, न पहरेदार हैं। यह सब आलङ्कारिक वर्णन है और यहाँ व्यङ्ग्योत्प्रेक्षा अलङ्कार का सौन्दर्य है

हे महान् सम्राट्! मैं आपके सम्मुख भिक्षुक के रूप में आया हूँ, आप मुझे भिक्षा दीजिए। मैं सकल लोकों का ऐश्वर्य पाना चाहता हूँ, मुझे सकल लोकों का ऐश्वर्य प्रदान कीजिए। सकल लोकों के ऐश्वर्य से तात्पर्य है विपुल ऐश्वर्य। साथ ही मैं मुक्तिलोक में भी जाना चाहता हूँ, आप मुझे मुक्ति प्रदान कीजिए। वेद सांसारिक सम्पदा और मोक्षसम्पदा दोनों में समन्वय करता है।

पाद-टिप्पणियाँ

१. इष्णन्=इच्छन् अहमस्मि। विकरणव्यत्यय, शप् के स्थान पर श्ना।
२. इषाण, इष आभीक्ष्ण्ये। आभीक्ष्ण्यं पुनः पुनर्दानम्, देहि।

१७४. एक के अनेक नाम

ऋषिः स्वयंभु ब्रह्म। देवता परमात्मा। छन्दः आर्षी अनुष्टुप्।

तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः ।
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ताऽआपः स प्रजापतिः ॥

—यजु० ३२.१

(तद् एव) वही परमात्मा **(अग्निः)** अग्नि कहाता है, **(तद् आदित्यः)** वही आदित्य कहाता है, **(तद् वायुः)** वही वायु कहाता है, **(तद् उ)** वही **(चन्द्रमाः)** चन्द्रमा कहाता है। **(तद् एव शुक्रं)** वही शुक्र, **(तद् ब्रह्म)** वही ब्रह्म, **(ताः आपः)** वही आपः, **(स प्रजापतिः)** और वही प्रजापति कहाता है।[१]

वेद में अनेक देवों का वर्णन देख कर बहुदेवतावाद की शङ्का होती है। अग्नि, इन्द्र, वरुण, मित्र, पूषा, त्वष्टा आदि नाना देवों की चर्चा तथा उनकी स्तुति-प्रार्थना-उपासना वेद करता है। उसका समाधान ऋग्वेद में किया गया है और प्रस्तुत मन्त्र में भी है। ऋग्वेद कहता है कि "इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि, सुपर्ण, गरुत्मान्, यम, मातरिश्वा सब एक ही सत्स्वरूप परमेश्वर के नाम हैं, ये पृथक्-पृथक् देव नहीं हैं।[२]" यजुर्वेद का प्रस्तुत मन्त्र कह रहा है कि "वही एक परमेश्वर अग्नि, आदित्य, वायु, चन्द्रमा नामों से वर्णित होता है, वही शुक्र है, वही ब्रह्म है, वही आपः है, वही प्रजापति है।" परमेश्वर के विभिन्न नाम उसके विभिन्न गुण-कर्म-स्वभावों को सूचित करते हैं। 'अग्नि' नाम गत्यर्थक अगि धातु से नि प्रत्यय करने पर बनता है। गति के ज्ञान, गमन और प्राप्ति अर्थ होते हैं। ज्ञानस्वरूप, सर्वगत और प्राप्तियोग्य होने से परमेश्वर

'अग्नि' कहलाता है। उसका नाम 'आदित्य' इस कारण है कि वह प्रलयकाल में ब्रह्माण्ड की सब वस्तुओं का आदान कर लेता है। वह 'वायु' इस कारण कहलाता है, क्योंकि वायु के समान अनन्तबलशाली और सर्वधर्ता है। आह्लादार्थक चदि धातु से 'चन्द्रमाः' नाम सिद्ध होता है। परब्रह्म आनन्दस्वरूप और आह्लाददायक होने से 'चन्द्रमाः' नाम से वर्णित होता है। उसे आशुकारी और शुद्ध होने से 'शुक्र' कहते हैं। सबसे अधिक महान् होने के कारण वह 'ब्रह्म' कहाता है। उसकी महिमा अपार है, प्रकृति में, मानव शरीर में, अध्यात्म में सर्वत्र वह महामहिम लोकाधिपति के रूप में प्रख्यात है। सर्वव्यापक होने से वह 'आपः' नाम से प्रसिद्ध है। (आप्लृ व्याप्तौ)। 'आपः' का अर्थ जल भी होता है। जलों के समान शान्तिदायक, रसमय और संतरण करानेवाला होने से भी वह 'आपः' है। समस्त प्रजाओं का अधिपति होने के कारण वह प्रजापति-पदवाच्य है। मानव सम्राट् की प्रजाएँ तो अपने राष्ट्र तक सीमित होती हैं, परब्रह्म ही प्रजाएँ सकल ब्रह्माण्ड में व्याप्त हैं, जिनका वह चक्रवर्ती सम्राट्, स्वराट् और विराट् कहलाता है।

वेदों में नाना देवों का वर्णन देख कर हम भ्रान्ति में न पड़ें। अनेक देव एक ही देवाधिदेव परब्रह्म के विभिन्न गुण-कर्म-स्वभावों को सूचित करनेवाले नाम हैं। आओ, नाना नामों से हम उस प्रभु की उपासना करें, उसके साम्राज्य और वैभव का वर्णन करें।

पाद-टिप्पणी

१. (तत्) सर्वज्ञं सर्वव्यापि सनातनमनादि सच्चिदानन्दस्वरूपं नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावं न्यायकारि दयालु जगत्स्रष्टृ जगद्धर्तृ सर्वान्तर्यामि, (अग्निः) ज्ञानस्वरूपत्वात् स्वप्रकाशत्वाच्च, (आदित्यः) प्रलये सर्वस्वादातृत्वात्, (वायुः) अनन्तबलत्वसर्वधर्तृभ्याम्, (चन्द्रमाः) आनन्दस्वरूपत्वाद् आह्लादकत्वाच्च, (शुक्रम्) आशुकारित्वात् शुद्धभावाच्च, (ब्रह्म) सर्वेभ्यो बृहत्त्वात्, (आपः) सर्वत्र व्यापकत्वात्, (प्रजापतिः) सर्वस्याः प्रजायाः स्वामित्वात्—द०।

१७५. प्रभु-दर्शन

ऋषिः स्वयम्भु ब्रह्म। देवता परमात्मा। छन्दः निचृद् आर्षी त्रिष्टुप्।

वेनस्तत्पश्यन्निहितं गुहा सद्यत्र विश्वं भवत्येकनीडम्।
तस्मिन्निदꣳ सं च वि चैति सर्वꣳ सऽओतः प्रोतश्च विभूः प्रजासु॥

—यजु० ३२.८

(**वेनः**) इच्छुक, पूजक, मेधावी मनुष्य ही (**तत् गुहा निहितं सत्**) उस गुहा में निहित अर्थात् गुह्य परब्रह्म परमेश्वर को (**वेद**) जानता है, (**यत्र**) जिसमें (**विश्वं**) ब्रह्माण्ड (**एकनीडं भवति**) एक घोंसले में निहित के समान होता है। (**तस्मिन्**) उस परमेश्वर के अन्दर (**इदं सर्वं**) यह सकल विश्व (**सम् एति**) प्रलयकाल में समा जाता है, और (**वि एति च**) सृष्टिकाल में उससे पृथक् हो जाता है। (**सः विभूः**) वह व्यापक परमेश्वर (**प्रजासु**) प्रजाओं के अन्दर (**ओतः प्रोतः च**) ओत-प्रोत है।

परब्रह्म परमेश्वर सर्वसाधारण के लिए ऐसा ब्रह्म है, जो मानो किसी गम्भीर गुफा में रहता हो, जहाँ किसी की पहुँच न हो। उसके दर्शन वही कर सकता है, जिसमें उसके दर्शन के अनुकूल विशिष्ट योग्यता हो। 'वेन' मनुष्य को ही उसके दर्शन हो सकते हैं। वेन धातु वैदिक निघण्टु कोष में इच्छा, गति और अर्चना अर्थों में पठित है[१]। ईश्वर-दर्शन के लिए सर्वप्रथम तो मनुष्य के अन्दर दर्शन की उत्कट इच्छा या अभीप्सा होनी चाहिए। उसके हृदय में प्रभु-दर्शन की लौ लगी होनी चाहिए। दूसरे उसकी गतिविधि बाह्य जगत् की ओर न होकर प्रभु की ओर होनी चाहिए। तीसरे उसमें प्रभु की अर्चना में आनन्द लेने की निपुणता होनी चाहिए। निघण्टु में ही 'वेन' शब्द मेधावी-वाचक शब्दों में भी पठित है।[२] अतः ईश्वर-दर्शक का ईश्वर-सम्बन्धी शास्त्रों में गहन चिन्तन

एवं पाण्डित्य भी होना चाहिए। ऐसा योगाभ्यासी साधक ही प्रभु का साक्षात्कार कर सकता है।

कैसा है वह परमेश्वर? उसके अन्दर सारा विश्व ऐसे ही निवास करता है, जैसे पंछी घोंसले में रहता है। सकल विश्व का वह घोंसले के समान आश्रयस्थान है। मन्त्र के अन्त में उसके विषय में यह कहा गया है कि प्रलयकाल में उसी के अन्दर सब कुछ समा जाता है, और सृष्टिकाल में उसके अन्दर से निकल आता है। परन्तु यह स्थापना तो वेदान्तदर्शन की है। यदि ऐसा मान लें, तो ईश्वर जगत् का उपादान कारण सिद्ध होता है, जबकि त्रैत दर्शन के अनुसार है वह जगत् का निमित्त कारण। मुण्डक उपनिषद्[3] कहती है कि यह जगत् परमेश्वर के अन्दर से ऐसे ही निकलता है, जैसे मकड़ी के अन्दर से जाला निकलता है, और फिर उसी में समा जाता है। मन्त्र का कथन भी इसी कथन से मिलता-जुलता है। जगत् यदि प्रलयकाल में परमेश्वर में समा जाता है और सृष्टिकाल में उसमें से बाहर निकल आता है, तो परमेश्वर जगत् का निमित्त कारण नहीं हो सकता, इस शङ्का का उत्तर मकड़ी के दृष्टान्त से ही मिल जाता है। मकड़ी तो आत्मा का नाम है, आत्मा में से जाला नहीं निकलता, अपितु मकड़ी के शरीर में से जाला निकलता है। इसी प्रकार जगत् परमेश्वर मे नहीं समाता, न उसमें से निकलता है, अपितु परमेश्वर का जो शरीर प्रकृति है उसमें प्रलयकाल में जगत् समाता है और सृष्टिकाल में प्रकृति में से बाहर आ जाता है। अतः जगत् का उपादान कारण प्रकृति है, न कि ब्रह्म।

पाद-टिप्पणियाँ

१. वेनति=इच्छति, गच्छति, अर्चति, निघं० २.६, २.१४, ३.१४।

२. वेनः=मेधावी, निघं० ३.१५।

३. यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च। मु० उप० १.२.७

१७६. गन्धर्व विद्वान् ही गुह्य ब्रह्म का प्रवचन कर सकता है

ऋषिः स्वयंभु ब्रह्म। देवता विद्वान्। छन्दः निचृद् आर्षी त्रिष्टुप्।

प्र तद्वोचेदमृतं नु विद्वान् गन्धर्वो धाम विभृतं गुहा सत्।
त्रीणि पदानि निहिता गुहास्य यस्तानि वेद स पितुः पितासत्॥

—यजु० ३२.९

(**गन्धर्वः**[1] **विद्वान्**) वेदवाणी को अपने अन्दर धारण करनेवाला विद्वान् ही (**गुहा**[2] **निहितं**) गुहा में रखे हुए अर्थात् गुह्य (**तत् अमृतं**) उस अमर (**धाम**) मुक्तिधाम परमेश्वर का (**नु**) निश्चयपूर्वक (**प्रवोचेत्**) प्रवचन कर सकता है। (**अस्य**) इस परमेश्वर के (**त्रीणि पदानि**) तीन पद (**गुहा निहितानि**) गुहा में निहित अर्थात् गुह्य हैं। (**यः तानि वेद**) जो उन्हें जान लेता है, अनुभव कर लेता है, (**सः**) वह (**पितुः पिता असत्**[3]) पिता का भी पिता हो जाता है।

क्या तुम अमृतस्वरूप परब्रह्म को जानना चाहते हो? उसका प्रवचन वही विद्वान् कर सकता है जो गन्धर्व हो अर्थात् जिसने वेदवाणी को, उपनिषद्वाणी को उन सन्तों की वाणी को जिन्होंने परब्रह्म की अनुभूति प्राप्त की हुई है, अपने अन्तरात्मा में धारण कर रखा हो। जिन्हें अपनी विद्वत्ता का गर्व है ऐसे शास्त्रज्ञ पण्डित भले ही दिन-रात उसकी चर्चा करते रहें, उसकी सत्ता के विषय में प्रमाण उपस्थित करते रहें, अनुमान और आगम प्रमाणों से उसकी सिद्धि करते रहें, किन्तु वे उसका साक्षात्कार या उसकी अनुभूति नहीं करा सकते, क्योंकि स्वयं उन्होंने उसका साक्षात्कार नहीं किया है। इसलिए चलो, 'गन्धर्व' के पास चलें। ये बैठे हैं जङ्गल में एक वृक्ष के नीचे अर्ध नग्न अवस्था में एक विद्वान् योगी, जो पूर्णतः अपरिग्रही हैं, भूमि ही जिनकी शय्या है, वृक्षों के वल्कल ही

जिनके वस्त्र हैं, कौपीन ही जिनकी सम्पत्ति है। नमस्ते भगवन्, यह ब्रह्मजिज्ञासु आपके चरणस्पर्श करता है। ओंकार का जप करो एक लक्ष बार निराहार रहकर, तब तुम्हारी सच्ची जिज्ञासा जागेगी। कर लिया भगवन्, अन्तःकरण शुद्ध हो गया है। नहीं, अभी नहीं, तपस्या करो एक वर्ष तक शीत ऋतु में जल में खड़े होकर और ग्रीष्म ऋतु में धूप में खड़े होकर प्रति दिन दो घण्टे, गायत्री-जप करो पञ्च लक्ष। वेद, उपनिषद् और योगियों के ग्रन्थ पढ़ो, योगाभ्यास करो। एक वर्ष आपके निर्देशानुसार तपस्या, गायत्री-जप और योगाभ्यास करके पुनः आपकी शरण में आये हैं भगवन्! प्राणायाम से इन्द्रियों के दोष दग्ध हो गये हैं। ठीक है, मेरे सान्निध्य में ध्यान करना होगा। पाँच साधक मेरे साथ बैठेंगे, उनमें पाँचवें तुम हो। हमें परब्रह्म की अनुभूति हो गयी है, गुरुवर! अब हम सत्पात्रों को ब्रह्म के दर्शन करायेंगे। भगभद्भक्तों की एक श्रेणी बनेगी, जो योगधारा प्रवाहित कर योग्य पात्रों को भगवान् के दर्शन करायेगी।

गन्धर्व विद्वान् ही अमर प्रभु का प्रवचन और दर्शन करा सकता है, जो प्रभु मुक्ति का धाम है, जिसके पास पहुँच कर मुक्तिप्राप्त भक्तजन आनन्दलाभ करते हैं। वह अमर प्रभु चतुष्पात् है। इस ब्रह्माण्ड में जो भी प्राकृतिक कलाकृति है, उसमें उसका एक ही पाद दिखायी देता है, शेष पाद तो गुहा में निहित हैं, गुह्य हैं। उन्हें अध्यात्मसाधक ही देख सकता है। जो उन गुह्य तीन पादों को जान लेता है, अनुभव का विषय बना लेता है, वह पिता का भी पिता हो जाता है, परम ज्ञानी हो जाता है।

पाद-टिप्पणियाँ

१. (गन्धर्वः) यो गां वेदवाचं धरति सः—द०।
गां वेदवाचं धारयति विचारयतीति गन्धर्वः वेदान्तवेत्ता विद्वान् पण्डितः—म०।

२. गुहा=गुहायाम्। सुपां सुलुक् पा० ७.१.३९ से विभक्ति का लुक्।

३. असत्, अस भुवि अदादिः, लेट्।

१७७. मेधा की याचना

ऋषिः मेधाकामः। देवता सदसस्पतिः परमेश्वरः।
छन्दः भुरिग् आर्षी गायत्री।

सदसस्पतिमद्भुतं प्रियमिन्द्रस्य काम्यम्।
सनिं मेधामयासिषꣳ स्वाहा ॥

—यजु० ३२.१३

(अद्भुतं) आश्चर्यजनक गुण-कर्म-स्वभाववाले, **(इन्द्रस्य प्रियं)** जीवात्मा के प्रिय, **(काम्यं)** चाहने योग्य **(सदसः पतिं)** ब्रह्माण्डरूप तथा शरीररूप सदन के अधिपति परमेश्वर से मैं **(सनिं)** सत्यासत्य का संविभाग करनेवाली **(मेधां)** मेधा **(अयासिषं)** माँगता हूँ। **(स्वाहा)** यह मेरी प्रार्थना पूर्ण हो।[1]

मेधा धारणवती बुद्धि को कहते हैं, जिससे एक बार सुन लेने पर या पढ़ लेने पर सुना-पढ़ा हुआ स्मरण रहता है। ऐसी बुद्धि मैं भी पाना चाहता हूँ। किन्तु, किस दुकान से खरीदूँ? नहीं, यह किसी दुकान पर मोल नहीं मिलती है। यह तपश्चर्या, ध्यान और योगाभ्यास द्वारा प्रभु से प्राप्त होती है। किस प्रभु से प्राप्त होती है? उस प्रभु से प्राप्त होती है, जो 'सदसस्पति' है, ब्रह्माण्डरूप तथा शरीर-रूप सदन का स्वामी है, अधीश्वर है। वह सकल विशाल ब्रह्माण्ड को भी सञ्चालित करता है और यह जो मनुष्यादि का शरीररूप सदन है, इसकी सब गतिविधि को भी क्रियान्वित करता है। देखो, आकाश के सूरज, चाँद, सितारे किसके इशारे पर चल रहे हैं? अन्तरिक्ष में ये घनघोर बादल बनते और बरसते हैं, यह किसका कौशल है? नदियाँ समुद्र को भरती रहती हैं, यह किसका कर्तृत्व है?

पेड़-पौधे, लताएँ फूल-फल पैदा करते हैं, भूमि पर हरियाली छाती है, पर्वतों पर बर्फ जमती हैं, यह सब किसकी महिमा से हो रहा है? इस छोटे-से मानव-शरीर में आँख की पुतली दृश्यों को देखती है, कान का परदा शब्द को सुनता है, नासिका गन्ध सूँघती है, रसना खट्टे-मीठे-तीखे-कड़वे रस का स्वाद पता लगाती है, त्वचा स्पर्श से कोमल-कठोर का ज्ञान करती है, भुजाएँ, हाथ, पैर, मस्तिष्क, आमाशय, रक्तसंस्थान अपना-अपना काम करते रहते हैं, इसकी चौकसी कौन करता है? जो इन सब व्यापारों को कर-करा रहा है, वही 'सदसस्पति' परमेश्वर मेधा का प्रदाता भी है। वह अद्भुत है, अनोखे गुण-कर्म-स्वभाववाला है। वह ज्ञानेन्द्रियों से ज्ञान पानेवाले और कर्मेन्द्रियों से कर्म करनेवाले जीवात्मा का परम प्रिय सखा है। उसकी महिमा से आकृष्ट होकर सब उसे पाना चाहते हैं। उसी परम मेधावी यशस्वी प्रभु से मैं मेधा की याचना करता हूँ। वह मेधा 'सनि' है, क्या सत्य है और क्या असत्य है, इसका विवेक करनेवाली है। हे सदसस्पति प्रभु! अपने विशाल मेधा के भण्डार में से थोड़ी-सी मेधा मुझे भी दे दो। मैं भी उस मेधा के बल पर ज्ञान-विज्ञान के अचरज-भरे कार्य कर सकूँ। 'स्वाहा'! यह मेरी प्रार्थना पूर्ण करो।

पाद-टिप्पणी

१. (सदसः) सभाया ज्ञानस्य न्यायस्य दण्डस्य वा (पतिं) पालकं स्वामिनम्। (अद्भुतम्) आश्चर्यगुणकर्मस्वभावम्। (इन्द्रस्य) इन्द्रियाणां स्वामिनो जीवस्य। (सनिम्) सनन्ति संविभजन्ति सत्यासत्ये यया ताम् (मेधाम्) संगतां प्रज्ञाम्—द०।

१७८. वानप्रस्थाश्रम-प्रवेश

ऋषिः कुत्सः । देवता अग्निः । छन्दः भुरिक् आर्षी पङ्क्तिः ।

अयमिह प्रथमो धायि धातृभिर्होता यजिष्ठोऽअध्वरेष्वीड्यः ।
यमप्नवानो भृगवो विरुरुचुर्वनेषु चित्रं विभ्वं विशेविशे ॥

—यजु० ३३.६

(**अयं**) यह (**प्रथमः**) श्रेष्ठ, (**होता**) हवि को ग्रहण करनेवाला तथा सुगन्ध को देनेवाला, (**यजिष्ठः**) यज्ञ में साधकतम, (**अध्वरेषु ईड्यः**) यज्ञों में स्तवनीय आहवनीय अग्नि (**धातृभिः**) अग्न्याधान करनेवालों के द्वारा (**इह धायि**[1]) यहाँ यज्ञवेदि में आधान किया गया है, (**यं चित्रं विभ्वं**[2]) जिस चित्र-विचित्र व्यापक अग्नि को (**अप्नवानः**[3] **भृगवः**[4]) कर्मसेवी तपस्वी वानप्रस्थ जन (**वनेषु**) वनों में (**विशेविशे**) प्रत्येक प्रजा के हितार्थ (**विरुरुचुः**[5]) विरोचित करते रहे हैं।

कोई व्रतसेवी जन गृहस्थ आश्रम को तिलाञ्जलि देकर वानप्रस्थाश्रम की दीक्षा ले रहे हैं। उन्होंने यज्ञवेदि में यज्ञाग्नि का आधान किया है। कैसा है वह यज्ञाग्नि? प्रथम अर्थात् श्रेष्ठ कोटि का है, घृत-भरे दीपक की लौ से चन्दन, पलाश आदि की समिधाओं में प्रदीप्त किया गया है और उसे प्रज्वलित रखने के लिए धीमे-धीमे पंखा झल कर उस पर गाय के घृत में डूबी आठ-आठ अङ्गुल की तीन समिधाएँ मन्त्रोच्चारणपूर्वक अर्पित की गयी हैं। अग्निकुण्ड में प्रदीप्त, प्रबुद्ध और समिदाधान द्वारा जागृत किया गया यह अग्नि वानप्रस्थ की दीक्षा ग्रहण करनेवाले व्रतियों को भी अपने समान प्रज्वलित, प्रबुद्ध और जागरूक होने की शिक्षा दे रहा है। आगे जलप्रोक्षण, आघार आहुति, आज्याभागाहुति, व्याहृति आहुति देकर वानप्रस्थाश्रम का प्रधानहोम होता है, जिसमें स्थालीपाक की ४३ आज्याहुति

दी जाती हैं।[६]

यह सब वानप्रस्थाश्रमप्रवेश की यज्ञप्रक्रिया प्राचीनकाल से वनों में कर्मसेवी, तपस्वी जन करते रहे हैं। जो अग्नि चित्र-विचित्र रंगोंवाला है, कण-कण में व्यापक है, उसे उत्तरारणि और अधरारणि की रगड़ से, या दीपक की लौ से यज्ञकुण्ड में प्रदीप्त करते रहे हैं, विरोचमान करते रहे हैं। किसलिए? 'विशेविशे', प्रत्येक प्रजाजन के हित के लिए। जो भी यज्ञकुण्ड में अग्न्याधान को देखता है और घृताहुति तथा अन्य हव्यों की आहुति पाकर ऊँची-ऊँची ज्वालाओं से प्रखर होती हुई यज्ञाग्नि पर दृष्टिपात करता है, उसे ये अग्निज्वालाएँ 'आओ, आओ' कहती हुई अपने साथ उन्नति की दिशा में चलने का, ऊर्ध्वारोहण करने का निमन्त्रण देती हैं। इस प्रकार जन-जन का हितसाधन करती हैं।

आओ, हम भी वानप्रस्थाश्रमप्रवेश की आयु होने पर वानप्रस्थ की अग्नि प्रज्वलित करें, उसमें अदिति, सरस्वती, पूषा, त्वष्टा, प्रजापति आदि के नाम से आहुति देते हुए इनसे शिक्षाएँ ग्रहण करें और आयु, प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान, चक्षु, श्रोत्र, वाक्, मन, आत्मा आदि को यज्ञ द्वारा समर्थ बनायें। एक के लिए स्वाहा करें, दो के लिए स्वाहा करें, शत के लिए स्वाहा करें—

"एकस्मै स्वाहा, द्वाभ्यां स्वाहा, शताय स्वाहा"

पाद-टिप्पणियाँ

१. धायि=अधायि। अडागमनिषेध छान्दस।
२. विभ्वं=विभुम्। यणादेश छान्दस।
३. अप्नस्=कर्म, निघं० २.१, वनिप् प्रत्यय।
४. भृगवः, भ्रस्ज पाके, 'प्रथिम्रदिभ्रस्जां सम्प्रसारणं सलोपश्च' उ० १.२८ से कु=उ प्रत्यय तथा धातु के स् का लोप।
५. विरुरुचुः=विरोचयामासुः, णिलोप।
६. द्रष्टव्यः संस्कारविधि, वानप्रस्थसंस्कार।

१७९. युवा इन्द्र जिनका सखा बनता है

ऋषिः त्रिशोकः। देवता इन्द्रः। छन्दः निचृद् आर्षी गायत्री।

बृहन्निदिध्मऽएषां भूरि शस्तं पृथुः स्वरुः। येषामिन्द्रो युवा सखा॥

—यजु० ३३.२४

(एषां) इनका **(बृहन् इत्)** विशाल ही **(इध्मः)** ईंधन होता है, **(भूरि)** बहुत **(शस्तं[१])** यश होता है, और **(पृथुः)** विस्तीर्ण **(स्वरुः)** खड्ग होता है, **(येषां)** जिनका **(युवा इन्द्रः)** युवा इन्द्र **(सखा)** सखा बन जाता है।

कोई मनुष्य कैसा है इसकी पहचान इससे होती है कि उसके मित्र कैसे हैं, उसका मेल-मिलाप कैसे लोगों के साथ है। एक बार कोई व्यक्ति हत्या के सन्देह में पकड़ा गया। वह प्रतिदिन एक साधु के यहाँ सत्सङ्ग में जाता था। साधु के साथ इसकी मैत्री है, यह हत्यारा नहीं हो सकता, यही सोचकर उसे छोड़ दिया गया। किसी की राजमन्त्री के साथ मैत्री होती है, किसी की समाधि लगानेवाले महात्मा के साथ मैत्री होती है, किसी की चोर-डाकुओं और आतङ्कवादियों के साथ मैत्री और सहानुभूति होती है। उन्हीं से उसका चरित्र परखा जाता है।

आओ, हम युवा इन्द्र के साथ मैत्री करें। उससे मैत्री करके हम उसी के सदृश बन जायेंगे। इन्द्र की एक विशेषता यह है कि वह अन्धकार और अत्याचार के प्रेमी 'वृत्र' का संहार करता है। यदि हम इन्द्र से मैत्री स्थापित करेंगे तो हमें भी वृत्र-जैसे आततायी लोगों का संहार करने का उत्साह और बल प्राप्त होगा। इन्द्र की दूसरी विशेषता यह है कि वह ग्रीष्म के ताप से तपती प्यासी भूमि पर शुद्ध मेघ-जल की वर्षा करता है। इन्द्र के मित्र बनकर हम भी प्यासों को पानी पिलायेंगे, सहायता की बाट जोहते लोगों की सहायता में तत्पर

होंगे, दुःखियों के दुःख मिटा कर उन पर सुख की वर्षा करेंगे। वेदों में जो भी बल के कर्म हैं, उन्हें इन्द्र करता है। इन्द्र के मित्र होकर हम भी बल के कर्म करेंगे। इन्द्र ने सूर्य-विद्युत् और अग्नि को ज्योति दी है। हम भी अन्धकार में ज्योति उत्पन्न करेंगे। इन्द्र सृष्टि की उत्पत्ति करता है और सृष्टि को धारण करता है। हम भी बड़ी-बड़ी योजनाएँ बनायेंगे, उन्हें क्रियान्वित करेंगे और उन्हें चिरस्थायी बनाये रखने के लिए उनका धारण भी करेंगे।

मन्त्र में युवा इन्द्र जिसका सखा हो जाता है, उसके लिए तीन बातें कही गयी हैं। प्रथम यह कि उसका ईंधन विशाल होता है। युवा इन्द्र सर्वस्वत्यागी है, उसने अपने लिए कुछ न रख कर ब्रह्माण्ड की समस्त सम्पदा दूसरों के लिए स्वाहा की हुई है। इन्द्र का सखा बनकर मनुष्य भी न केवल अपनी सम्पत्ति गरीबों के लिए स्वाहा करने को उद्यत हो जाता है, अपितु स्वयं को भी अपने राष्ट्र के लिए स्वाहा कर देता है। इन्द्र के सखाओं के लिए दूसरी बात यह कही गयी है कि उनका भूरि-भूरि यश होता है, क्योंकि वे इन्द्र के सदृश स्तुत्य कर्म करते हैं। इन्द्र के सखा मनुष्यों को तीसरी उपलब्धि यह होती है कि उनका खड्ग बहुत विशाल होता है। छोटी-छोटी तलवारें छोटे-छोटे अस्त्र-शस्त्र तो बहुतों के पास होते हैं, परन्तु इन्द्र के वज्र-जैसा वज्र उन्हीं के पास होता है, जो इन्द्र के प्रेमी हैं। इन्द्र का मित्र भी 'इन्द्र' बनकर आततायी शत्रुओं पर खड्ग-प्रहार करता है, तोप के गोले बरसाता है, आग्नेयास्त्र से उन्हें भून डालता है। यह विध्वंसलीला वह उनकी करता है, जो शान्ति में बाधक होते हैं, जो अशान्ति और उपद्रव को अपना ध्येय मानते हैं।

आओ, हम भी इन्द्र के सखा बनकर उक्त सब उपलब्धियों को पाने का सौभाग्य प्राप्त करें।

पाद-टिप्पणी

१. शस्तं यशः, शसि इच्छायाम्, भ्वादिः।

१८०. सूर्य और रात्रि का नियम-पालन

ऋषिः कुत्सः। देवता सूर्यः। छन्दः आर्षी त्रिष्टुप्।

तत्सूर्यस्य देवत्वं तन्महित्वं मध्या कर्त्तोर्विततं सं जभार।
यदेदयुक्त हरितः सधस्थादाद्रात्री वासस्तनुते सिमस्मै॥

—यजु० ३३.३७

(**तत् सूर्यस्य देवत्वं**) वह सूर्य का देवत्व है, (**तत् महित्वं**) वह महत्त्व है कि (**कर्त्तोः मध्या**[१]) क्रियमाण कर्मों के मध्य में ही (**विततं**) फैले हुए रश्मिजाल को (**संजभार**[२]) समेट लेता है। (**यदा इत्**) जब ही सूर्य (**सधस्थात्**[३]) आकाश-मण्डप से (**हरितः**[४]) किरणों को (**अयुक्त**) अन्यत्र जोड़ता है, (**आत्**) उसके अनन्तर ही (**रात्री**) रात्रि (**सिमस्मै**) सबके लिए (**वासः तनुते**) अपने अन्धकाररूप वस्त्र को फैलाती है।

किसी बूढ़ी माँ ने आँगन की धूप में अनाज सूखने रखा है, वह अभी उसे समेट नहीं पायी है। वह चाहती है सूर्य तब अस्त हो जब मैं अनाज उठा लूँ। वह सूर्य से कहती है— भैया! जरा अस्त होने से रुक जाओ, मेरा काम फैला पड़ा है, तो वह हँसकर उसकी बात अनुसुनी कर देता है। वह नियमपालन के प्रति दृढ़ है, समय पर उदित होता है, और समय पर अस्त होता है। मन्त्र कह रहा है कि इसी में सूर्य का देवत्व और महत्त्व है कि वह किये जाते हुए कर्मों के मध्य में ही फैले हुए रश्मिजाल को समेट लेता है। यदि वह सबकी इच्छा पूरी करने लगे, तो कभी अस्त न हो पाये। कोई चाहेगा आधे घण्टे बाद अस्त हो, कोई चाहेगा एक घण्टे पश्चात् अस्त हो, किसी की इच्छा होगी कि दो घण्टे और

रुक जाए, कोई कहेगा आज अस्त न ही हो तो क्या बिगड़ता है, मैं अपना कार्य धूप-धूप में पूरा कर लूँ। व्रतपालन के धनी मनुष्य भी निश्चित समंय पर अपना कार्य आरम्भ करते हैं और निश्चित समय पर समाप्त कर देते हैं। यदि समय की सीमा निश्चित की हुई नहीं होती है, केवल इतना ही व्रत होता है कि दिन भर मे इतना कार्य करना है, चाहे किसी समय कर लें, तो वैसे नियम का पालन करते हैं। तात्पर्य यह है कि जो भी नियम बनाया हो, उसका पालन आवश्यक है।

रात्रि भी अपने नियम की पक्की है। जब सूर्य आकाशमण्डप से अपनी किरणों को खींच लेता है, तभी वह अपने अन्धकार रूप चादर को तानती है। यह कभी नहीं होता कि वह सूर्यास्त से एक-दो घण्टा पहले ही आ विराजे और सूर्य से कहे कि सरको, मैं आ गयी।

हम चाहें तो प्रकृति से बहुत कुछ सीख सकते हैं। सूर्योदय, सूर्यास्त, पक्ष, मास, ऋतु, अयन, संवत्सर का आना-जाना, पृथ्वी का सूर्य के चारों ओर घूमना, चन्द्रोदय होना, समुद्र में ज्वार-भाटा आना-जाना, बादल बनना, वर्षा होना आदि हमारे गुरु बन सकते हैं।

पाद-टिप्पमियाँ

१. मध्ये यत् कर्मणां क्रियमाणानाम्—निरु० ४.१२।
२. सं जभार=सं जहार। हृग्रहोर्भश्छन्दसि।
३. सधस्थात्=सहस्थानात्, मण्डपात्।
४. हरितः हरणान् आदित्यरश्मीन्—निरु० ४.१२।

१८१. राष्ट्र के राजा, रानी और वीर

ऋषिः कण्वः। देवता विश्वेदेवाः। छन्दः भुरिग् आर्षी अनुष्टुप्।

प्रैतु ब्रह्मणस्पतिः प्र देव्येतु सूनृता ।
अच्छा वीरं नर्यं पङ्क्तिराधसं देवा यज्ञं नयन्तु नः ॥

—यजु० ३३.८९

(प्र एतु) उत्कर्ष प्राप्त करे **(ब्रह्मणः पतिः)** महान् राष्ट्र का पालक सम्राट्, **(प्र एतु)** उत्कर्ष प्राप्त करे **(देवी सूनृता)**[१] शुभ गुणों से देदीप्यमान सत्यमधुरभाषिणी महारानी। **(देवाः)** विद्वान् लोग **(नः यज्ञम् अच्छ)** हमारे राष्ट्रयज्ञ में **(नर्यम्)** पुरुषार्थी, **(पङ्क्तिराधसम्)** पंक्तियों के सेवक **(वीरं)** वीर को **(नयन्तु)** प्राप्त कराएँ।

हम अपने राष्ट्र को महान् बनाना चाहते हैं। उसके लिए वेद का सन्देश है कि सम्राट्, प्रधानमन्त्री या राष्ट्रपति को 'ब्रह्मणस्पति' होना चाहिए। ब्रह्मन् शब्द निघण्टु में अन्न और धन का वाचक है[२]। इससे सूचित होता है कि प्रधान राष्ट्रनायक जो भी हो उसके राष्ट्र में अन्न और धन भरपूर रहना चाहिए, जिससे राष्ट्र में भुखमरी और निर्धनता फटकने भी न पावे। 'ब्रह्म' महान् परमेश्वर का नाम भी है। अतः राष्ट्रनायक को परमेश्वर का आराधक भी होना चाहिए, जिससे वह परमेश्वर से सद्गुणों और सत्कर्मों की प्रेरणा ग्रहण करता रहे। सम्राट् के साथ उसकी देवी महारानी भी राजोचित गुणोंवाली होनी चाहिए। 'देवी' शब्द क्रीडा, विजिगीषा, व्यवहार, द्युति, स्तुति, मोद, मद, स्वप्न, कान्ति एवं गति अर्थवाली दिवु धातु से निष्पन्न होने के कारण महारानी के इन गुणों को भी सूचित करता है। वह प्रत्येक कार्य को इतनी आसानी से करने की

क्षमतावाली होनी चाहिए कि वह उसे खेल लगे। उसके अन्दर प्रत्येक क्षेत्र में विजय प्राप्त करने की इच्छा होनी चाहिए। उसे व्यवहारकुशल होना चाहिए। राजनीति के ज्ञान की द्युति, स्तवनीय की स्तुति, श्लाध्य कर्मों को करने से मोद और प्रसन्नता उसके अन्दर होनी चाहिए। अकरणीय कार्यों के प्रति प्रसुप्ति, कर्त्तव्यपालन के प्रति इच्छाशक्ति, जागरूकता, आशावादिता और प्रगतिशीलता उसमें रहनी चाहिए। 'सूनृता' पद से उसकी वाणी की सत्यता और मधुरता सूचित होती है। राष्ट्रोत्थान इस पर भी निर्भर करता है कि राष्ट्र के वीर कैसे हैं। अतः मन्त्र कहता है कि विद्वानों का कर्त्तव्य है कि वे राष्ट्र में ऐसे वीरों का निर्माण करें, जो 'नर्य' हों, नरों के हितकर्ता एवं पुरुषार्थी हों, 'पङ्क्तिराधस्[३]' अर्थात् सहायता की इच्छुक जनपङ्क्तियों के सेवक और कार्यसाधक हों। ऐसे वीर पुत्र जब राष्ट्रयज्ञ के अग्रणी बनेंगे तब निश्चय ही राष्ट्र प्रगति की ओर अग्रसर होगा, अन्य राष्ट्रों के मध्य उसकी स्थिति ऊँची होगी और अन्य राष्ट्रों का वह आदर्श तथा मार्गदर्शक हो सकेगा।

पाद-टिप्पणियाँ

१. देवी शुभगुणैर्देदीप्यमाना—द०भा० ३३.८९, देवी विदुषी सूनृता सत्यभाषणादिसुशीलत्वयुक्ता—द०भा० ३७.७
२. ब्रह्म=अन्न, धन, निघं० २.७, २.१०।
३. पङ्क्तेः समूहस्य राधः संसिद्धिर्यस्मात् तम्—द०। राध संसिद्धौ, स्वादिः।

१८२. आप प्रथम अङ्गिरस् ऋषि हैं

ऋषिः हिरण्यस्तूपः अङ्गिरसः। देवता अग्निः। छन्दः विराड् जगती।

त्वमग्ने प्रथमोऽअङ्गिराऽऋषिर्देवो देवानामभवः शिवः सखा।
तव व्रते कवयो विद्मनापसोऽजायन्त मरुतो भ्राजदृष्टयः॥

—यजु० ३४.१२

हे **(अग्ने)** तेजस्वी परमेश्वर! **(त्वं)** आप **(प्रथमः)** सर्वप्रथम **(अङ्गिराः ऋषिः)** अङ्गिरस् ऋषि हैं। **(देवः)** दिव्य गुण-कर्म-स्वभाववाले आप **(देवानां)** विद्वानों के **(शिवः सखा)** कल्याणकारी मित्र **(अभवः)** हुए हैं। **(तव व्रते)** आपके व्रत में रहकर ही **(मरुतः)** मनुष्य **(कवयः)** क्रान्तद्रष्टा **(विद्मनापसः)** कर्त्तव्यों के ज्ञाता और **(भ्राजद्-ऋष्टयः)** चमचमाती बर्छियों से युक्त **(अजायन्त)** हुए हैं।

सुनते हैं प्राचीन काल में अङ्गिरस् ऋषि हुए हैं, जिन्होंने शौनक को यह रहस्य बतलाया था कि किस एक के जान लेने पर सब कुछ विदित हो जाता है। किन्तु हे अग्ने! हे ज्योतिर्मय परमेश्वर! सबसे प्रथम अङ्गिरस् ऋषि तो आप हैं। आप 'अङ्गिरस्' इस कारण कहलाते हो कि आप अङ्गियों (जीवात्माओं) को सुख देते हो[१] और आप सर्वद्रष्टा होने से ऋषि[२] हो। हे प्रभुवर! आप 'देव' हो, दिव्य गुण-कर्म-स्वभाववाले हो और विद्वानों के शिव सखा हो। लोगों का विश्वास है कि कोई शिवजी हैं, जो कैलास पर्वत पर रहते हैं, किन्तु विद्वज्जन तो आपको ही मङ्गलकारी शिव मानते हैं, क्योंकि आप उनके सखा हो, परम मित्र हो। सच्चा मित्र तो अपने मित्र का अमङ्गल कर ही नहीं सकता। सखित्व या मैत्री ही आपका लिङ्ग है, चिह्न है, आपकी पहचान है। प्रचलित

शिवलिङ्ग की कल्पना तो अज्ञानी लोगों के मस्तिष्क की कल्पना है, जिससे पत्थर के लिङ्ग की पूजा चल पड़ी है। विद्वान् लोग तो आपके मैत्री रूप लिङ्ग की ही पूजा करते हैं। जो लोग आपके व्रत में दीक्षित हो जाते हैं, वे 'कवि' वन जाते हैं। कवि का अर्थ है क्रान्तद्रष्टा[3], दूरदृष्टिसम्पन्न। उनमें वह दृष्टि उत्पन्न हो जाती है कि किस कार्य को करने का क्या परिणाम होगा। सामान्य जन तो प्रलोभनवश कोई भी कार्य कर बैठते हैं, परन्तु ईश्वरीय व्रत पर चलनेवाला मनुष्य अपनी दूरदृष्टि से कार्य के परिणाम को देख कर शुभ परिणामवाले कार्य में ही प्रवृत्त होता है। उसे अपने कर्त्तव्य का बोध हो जाता है, वह 'विद्मनापस्[4]' हो जाता है। ईश्वरीय व्रत पर चलनेवाले मनुष्य भी ऐसा ही करते हैं। जो विश्व का मित्र बनता है, विश्व के प्रति शिव होता है, विश्वशान्ति का प्रेमी होता है, उससे वे मैत्री करते हैं, किन्तु जो विश्व में अशान्ति पैदा करना चाहता है, उसके प्रति वे 'भ्राजदृष्टि' हो जाते हैं, चमचमाती बर्छियाँ या चमचमाते शस्त्रास्त्र हाथ में ले लेते हैं, उसे उसके द्वारा किये जानेवाले उपद्रवों के लिए दण्डित किये बिना नहीं छोड़ते। याद रखो, जो दुष्टता से समझौता करता है, वह शक्तिहीन होता है। वह शान्ति की दुहाई देकर आतङ्कवाद को सहता है। परन्तु असली कारण यह होता है कि वह आतङ्कवादी का मुकाबला नहीं कर सकता। ज्योतिर्मय परमेश्वर से बल पाकर आततायी को दण्डित करना ही ईश्वरीय व्रत है।

पाद-टिप्पणियाँ

१. (अङ्गिराः) अङ्गिभ्यो जीवात्मभ्यः सुखं राति ददाति यः सः—द०।
२. ऋषिर्दर्शनात्। निरु० २.११
३. कविः क्रान्तदर्शनो भवति। निरु० १२.७
४. विद्मनानि विदितानि अपांसि कर्माणि येषां ते विद्मनापसः—द०।
५. भ्राजन्त्यः शोभमाना ऋष्टय आयुधानि येषां ते भ्राजदृष्टयः—द०।

१८३. दाक्षायण हिरण्य

ऋषिः दक्षः। देवता हिरण्यं तेजः। छन्दः भुरिक् शक्वरी।

न तद्रक्षांसि न पिशाचास्तरन्ति देवानामोजः प्रथमजꣳ ह्येतत्।
यो बिभर्ति दाक्षायणꣳ हिरण्यꣳ स देवेषु कृणुते दीर्घमायुः
स मनुष्येषु कृणुते दीर्घमायुः ॥

—यजु० ३४.५१

(**न तद्**) न उसे (**रक्षांसि**) राक्षस[१], (**न पिशाचाः**) न पिशाच[२] (**तरन्ति**) लांघ सकते हैं। (**एतद्**) यह (**देवानां**) विद्वानों का (**प्रथमजम्[३] ओजः**) प्रथम आयु ब्रह्मचर्याश्रम में उत्पन्न ओज है। (**यः**) जो (**दाक्षायणं[४] हिरण्यं**) बलवर्धक ब्रह्मचर्य को (**बिभर्ति**) धारण करता है (**सः**) वह (**देवेषु**) विद्वानों में (**आयुः**) अपनी आयु (**दीर्घं कृणुते**) दीर्घ कर लेता है, (**सः**) वह (**मनुष्येषु**) मनुष्यों में (**आयुः**) अपनी आयु (**दीर्घं कृणुते**) दीर्घ कर लेता है।

जो दाक्षायण हिरण्य को धारण करता है, वह विद्वानों में दीर्घायु होता है, वह मनुष्यों में दीर्घायु होता है। अभिप्राय यह है कि चाहे वह विद्वान् हो, चाहे साधारण मनुष्य दीर्घायु अवश्य होता है। क्या है यह दाक्षायण हिरण्य? यह विद्वानों का प्रथम आयु में उत्पन्न ओज है। प्रथम आयु होती है, ब्रह्मचर्याश्रम, उसमें संचित ब्रह्मचर्य का बल या वीर्य ही हिरण्य है[५]। दक्ष शब्द वेद में बल का वाचक है, दाक्ष का अर्थ है बलसमूह, उसका अयन, अर्थात् प्राप्तिस्थान दाक्षायण कहलाता है। इस प्रकार 'दाक्षायण हिरण्य' का अर्थ होता है बलवर्धक वीर्य। इसके संचय का माहात्म्य अधिकतर वे लोग बताते हैं, जो वीर्यरक्षा न करके अब्रह्मचर्य का जीवन व्यतीत कर चुके होते हैं, क्योंकि अब्रह्मचर्य से उन्हें हानि हुई होती है। वे सोचते हैं कि हमने जो हानि उठायी, वह दूसरों को न भुगतनी

पड़े। अतः वे दूसरों को सावधान करते हैं। योगी दयानन्द सदृश कोई विरले ऐसे भी होते हैं, जो न केवल प्रथम आयु में, अपितु आगे भी ब्रह्मचारी रहे होते हैं। वे भी अपने अनुभव के आधार पर ब्रह्मचर्य की महिमा दूसरों को बताते हैं। यह हिरण्य प्रथम आयु में उत्पन्न ओज है, इसका तात्पर्य यह नहीं है कि ब्रह्मचर्य के पश्चात् के आश्रमों में अब्रह्मचारी रहना है। गृहस्थाश्रम में भी राष्ट्र को श्रेष्ठ सन्तान देने के पश्चात् ब्रह्मचर्य का जीवन बिताना ही अभीष्ट है। वानप्रस्थ और संन्यास आश्रम तो पूर्णतः ब्रह्मचर्य के आश्रम हैं ही। इस रीति से यदि चलें, तो अल्पायु होने का कोई प्रश्न ही नहीं है। इसीलिए अथर्ववेद के ब्रह्मचर्यसूक्त में ब्रह्मचर्य का माहात्म्य बताते हुए कहा गया है कि विद्वान् लोग ब्रह्मचर्य के तप से मृत्यु को मार भगाते हैं।[६] प्रथम आयु में उत्पन्न यह विद्वानों का ओज ब्रह्मचर्यबल ऐसा होता है कि न इसे राक्षस, न पिशाच पराजित कर सकते हैं। ब्रह्मचर्य के ओज से अनुप्राणित अकेला ब्रह्मचारी शत और सहस्र नरपिशाचों से लोहा ले सकता है। पिशाच का अर्थ दयानन्दभाष्य में किया गया है रुधिर-मांस आदि खानेवाले हिंसक म्लेच्छाचारी दुष्ट लोग।

आओ, हम सब 'दाक्षायण हिरण्य' को धारण करें, तब हमारे अन्दर शरीर-बल के साथ मनोबल और आत्मबल भी अधिकाधिक जागृत होगा और मनुष्य-कोटि से उठकर हम देव-कोटि में पहुँच जायेंगे। सचमुच 'दाक्षायण हिरण्य' का ऐसा ही माहात्म्य है।

पाद-टिप्पणियाँ

१. (रक्षांसि) अन्यान् प्रपीड्य स्वात्मानमेव ये रक्षन्ति ते—द०।
रक्षो रक्षितव्यम् अस्मात्, रहसि क्षणोतीति वा, रात्रौ नक्षते इति वा—निरु० ४.३४।
२. (पिशाचाः) ये प्राणिनां पिशितं रुधिरादिकम् आचामन्ति भक्षयन्ति ते हिंसका म्लेच्छाचारिणो दुष्टाः—द०।
३. (प्रथमजम्) प्रथमे वयसि ब्रह्मचर्याश्रमे वा जातम्—द०।
४. दक्षस्य बलस्य समूहो दाक्षः, दाक्षस्य अयनं प्राप्तिः येन स दाक्षायणः।
५. रेतो वै हिरण्यम् तै० ३.८.२.४, मैं ३.७.५।
६. ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमपाघ्नत। अ० ११.५.१९

१८४. पथरीली नदी के उस पार

ऋषिः सुचीकः। देवता विश्वेदेवाः। छन्दः निचृद् आर्षी त्रिष्टुप्।

अश्मन्वती रीयते सं रभध्वमुत्तिष्ठत प्र तरता सखायः।
अत्रा जहीमोऽशिवा येऽअसञ्छिवान्वयमुत्तरेमाभि वाजान्॥

—यजु० ३५.१०

(अश्मन्वती) पथरीली नदी **(रीयते[१])** वेग से बह रही है। **(सखायः)** हे साथियो! **(सं रमध्वम्[२])** मिलकर उद्यम करो, **(उत्तिष्ठत)** उठो **(प्र तरत[३])** पार हो जाओ। **(अत्र जहीमः[४])** यहीं छोड़ दें **(ये अशिवाः असन्)** जो अशिव हैं उन्हें। उस पार के **(वाजान् अभि)** ऐश्वर्यों को पाने के लिए **(वयं)** हम **(उत्तरेम)** नदी के पार उतर जाएँ।

पथरीली नदी वेग से बह रही है। इस पार बंजर भूमि है, कंकड़-पत्थर हैं, भुखमरी है, नग्नता है, बेबसी है। उस पार की भूमि सोना उगलती है। हरे-भरे खेत हैं, फलों से लदे बाग-बगीचे हैं, अन्य विविध ऐश्वर्य हैं। किसी साधु की वाणी सुनायी देती है—अरे, इस पार के लोगो! नदी के उस पार जाकर क्यों नहीं बस जाते? उसका परामर्श सुनकर सब नदी पार करने के लिए तैयार हो जाते हैं। किन्तु, जिसके पास जो कुछ है, वह उसे साथ ले जाने के लिए सिर पर लाद लेता है। कोई चूल्हे का बोझ, कोई फटे-पुराने कपड़ों का बोझ, कोई टूटे-फूटे बर्तनों का बोझ सिर-कन्धे पर रख लेता है। चल पड़ते हैं सब अकेले-अकेले। साधु की कर्कश वाणी सुनायी देती है, अरे यह क्या कर रहे हो? नदी में काई-जमे फिसलने पत्थर हैं, उस पर तुमने व्यर्थ का बोझ लाद लिया है। आओ, मैं तुम्हारा पथप्रदर्शन करता हूँ। उठो, मित्रो, मिल-

कर उद्योग करो, यह बोझ तुम्हें ले डूबेगा, इसे यहीं फेंक दो। हल्के-फुल्के होकर एक-दूसरे का हाथ पकड़कर, नदी के पत्थरों पर पैर जमाते हुए पार उतर जाओ। उस पार के ऐश्वर्यों का भोग करो।

यह तो एक दृष्टान्त है। इस पार सांसारिकता है, उस पार दिव्यता-आध्यात्मिकता है। बीच में विघ्न-बाधाओं की वैतरणी नदी है, जिसमें बड़े-बड़े प्रलोभन-रूपी चिकने पत्थर हैं। हम अधिकतर लोग सांसारिकता में ही पड़े रहते हैं, दिव्यता का जो भागवत आनन्द है, उसे पाने के लिए हमारी अभीप्सा होती ही नहीं। मन्त्र हमें प्रेरणा कर रहा है कि हम दिव्यता की ओर जाने का प्रयत्न करें, योगमार्ग का अवलम्बन करें। प्रलोभनों से पूर्ण व्याधि, स्त्यान, संशय, प्रमाद, आलस्य, अविरति, भ्रान्तिदर्शन, अलब्धभूमिकत्व, अनवस्थितत्व आदि चित्तविक्षेप-रूप अन्तरायों को पार करके आध्यात्मिक वातावरण में पहुँचें, जहाँ चित्तवृत्तिनिरोधपूर्वक चेतना जागती है, धारणा-ध्यान-समाधि लगती है और ईश्वरसाक्षात्कार का आनन्दपीयूष पान करने को मिलता है।

आओ, छोड़ें सांसारिक भोग-विलास, चलें उस पार और योगैश्वर्य अर्जित करें।

पाद-टिप्पणियाँ

१. रीङ् स्रवणे, दिवादिः।
२. सं—रभ राभस्ये, भ्वादिः।
३. प्रतरता=प्रतरत, छान्दस दीर्घ।
४. ओहाक् त्यागे, जुहोत्यादिः।

१८५. कृषकों को भूमि आबंटित हो

ऋषयः आदित्या देवाः । *देवता* जातवेदाः । *छन्दः* स्वराट् त्रिष्टुप् ।

वह॑ व॒पां जा॑तवेदः पि॒तृभ्यो॒ यत्रै॑ना॒न्वेत्थ॒ निहि॑तान् परा॒के । मेद॑सः कु॒ल्याऽउप॒ तान्त्स्र॑वन्तु स॒त्याऽए॑षामा॒शिष॒: सं न॑मन्ता॒ᳪ स्वाहा॑ ॥

—यजु० ३५.२०

(जातवेदः[१]) हे राजविद्या के विद्वान् सम्राट्! आप **(पितृभ्य[२])** पालनकर्ता कृषकों के लिए **(वपां[३])** बीज बोने की उपजाऊ भूमि **(वह)** प्राप्त कराओ, **(यत्र)** जहाँ **(एनान्)** इन्हें **(पराके निहितान्)** दूर-दूर बसा **(वेत्थ)** आप जानते हो। **(मेदसः[४] कुल्याः)** स्निग्ध नहरें **(तान् उप स्रवन्तु)** उनके समीप पहुँचें। **(एषां सत्याः आशिषः)** इनके सच्चे आशीर्वाद **(उप सं नमन्ताम्)** आपको प्राप्त हों। **(स्वाहा)** हमारा यह सुवचन क्रियान्वित हो।

राष्ट्र में कृषि और बागवानी का बहुत महत्त्व है। कृषकों को 'पितरः' कहा गया है, क्योंकि वे विविध अन्न आदि खेतों में उपजा कर राष्ट्रवासियों का पालन-पोषण करते हैं। कृषि से अन्न और बागवानी से तरह-तरह के विविध स्वादोंवाले फल प्राप्त होते हैं। कृषि के लिए किसानों को उत्तम भूमि चाहिए। उन्हें उत्तम भूमि आबंटित करना राजकीय कर्त्तव्य है। किसी के पास बंजर भूमि होती है, किसी की भूमि एक स्थान पर न होकर टुकड़ों के रूप में विभिन्न स्थानों में फैली होती है। राजकीय विभाग का कर्त्तव्य है कि जिसके पास बंजर भूमि है, उसे उसके बदले में उपजाऊ भूमि प्रदान करे और जिसकी भूमि टुकड़ों में बंटी हुई है, उसकी भूमि चकबन्दी द्वारा एक स्थान पर कर दे। राजकीय विभाग को यह ज्ञान होना चाहिए कि हमारे राज्य में किसान लोग दूर तक कहाँ-कहाँ बसे हुए हैं। उन सबकी भूमियों की जानकारी पटबरियों के पास होनी चाहिए कि किसके पास कितनी और कैसी भूमि है। जिसके पास कम भूमि है उसे अधिक भूमि उचित मूल्य

में विभाग दिलवाये। इस प्रकार राज्य के सब किसानों के पास पर्याप्त और उपजाऊ भूमि एक स्थान पर हो जानी चाहिए। भूमि के लिए मन्त्र में 'वपा' शब्द प्रयुक्त हुआ है। भूमि के विविध प्रकार हैं, इमारती भूमि, कल-कारखानों के लिए उपयुक्त भूमि, पहाड़ी भूमि, खानों की भूमि, तेलकूपों की भूमि, पानी से छाई भूमि आदि। इनमें कृषियोग्य भूमि को जिसमें बीज बोया जाता है 'वपा' कहते हैं। 'वपा' शब्द बीज बोने अर्थवाली 'वप' धातु से बना है। किसानों को बीज बोने योग्य उपजाऊ भूमि देने के अतिरिक्त उसमें सिंचाई के लिए पानी की नहरें भेजना भी राजकीय कर्त्तव्य है। मन्त्र सम्राट् को कह रहा है कि तुम अपने राज्य में बसे किसानों को भूमि प्रदान करो और सिंचाई के लिए स्निग्ध नहरें भी उनकी भूमियों के आसपास भेजो, जिससे वे उनमें से पानी लेकर भरपूर सिंचाई कर सकें। यदि ऐसा तुम करोगे तो किसानों के सच्चे आशीर्वाद तुम्हें प्राप्त होंगे और किसान राष्ट्रवासियों को उत्तमकोटि का प्रचुर अन्न आदि दे सकेंगे तथा दूसरे देशों से अन्न, चीनी, फलों आदि का आयात नहीं करना पड़ेगा। राष्ट्र अन्नादि भोज्य पदार्थों के लिए परमुखापेक्षी न रहकर स्वावलम्बी हो सकेगा।

'वपा' का एक अर्थ चर्बी भी होता है। भाष्यकार महीधर ने न केवल चर्बी, अपितु गाय की चर्बी अर्थ लेकर अनर्थ कर दिया है। उनका कथन है कि इसका विनियोग श्रौतसूत्र में तो नहीं है, किन्तु पारस्कर गृह्यसूत्र में है। उनके अनुसार मन्त्र में जातवेदस् अग्नि को कहा जा रहा है कि तू दूर-दूर पितृलोक में बसे पितरों के लिए गाय की चर्बी वहन करके ले जा। पितरों के लिए चर्बी की चिकनई की नहरें बहती हुई पहुँचें।[५]

पाद-टिप्पणियाँ

१. जातं वेदो राजनीतिविज्ञानं यस्य स जातवेदाः सम्राट्।
२. पान्ति रक्षन्ति पालयन्ति च ये ते पितरः कृषीवलाः।
३. (वपाम्) वपन्ति यस्यां भूमौ ताम्—द०।
४. (मेदसः) स्निग्धाः (कुल्याः) जलप्रवाहधाराः—द०।
५. अस्या विनियोगः श्रोतसूत्रे नास्ति, किन्तु गृह्यसूत्रेऽस्ति। तथाहि 'मध्यमा गवा तस्यै वपां जुहोति वह वपां जातवेदः पितृभ्यो' (पार० ३.३) इति। अस्यार्थः मध्यमाष्टका गोपशुना कार्या, तस्या धेनोर्वपां जुहोति वह वपामिति मन्त्रेणेत्यर्थः—म०।

१८६. मेरे वाणी, मन, प्राण, चक्षु, श्रोत्र आदि सशक्त हों

*ऋषिः दध्यङ् आथर्वणः। **देवता** अग्निः। **छन्दः** आर्षी पङ्क्तिः।*

ऋचं वाचं प्रपद्ये मनो यजुः प्रपद्ये साम प्राणं प्रपद्ये चक्षुः श्रोत्रं प्रपद्ये। वागोजः सहौजो मयि प्राणापानौ॥

—यजु० ३६.१

मैं (**ऋचं**[१]) स्तुत्यात्मक वाणी को (**प्रपद्ये**) प्राप्त करता हूँ, (**यजुः**[२] **मनः**) देवपूजा, सङ्गतिकरण और दान से युक्त मन को (**प्रपद्ये**) प्राप्त करता हूँ, (**साम प्राणं**) समस्वरतायुक्त प्राण को (**प्रपद्ये**) प्राप्त करता हूँ, (**चक्षुः श्रोत्रं**) नेत्रशक्ति और श्रवणशक्ति (**प्रपद्ये**) प्राप्त करता हूँ। (**मयि**) मेरे अन्दर (**वाग्-ओजः**) वाग्बल, (**सह-ओजः**) एकता का बल, तथा (**प्राणापानौ**) प्राण-अपान हों।

हे अग्नि! हे अग्रनायक, तेजस्वी परमेश्वर! मैं चाहता हूँ कि मेरे शरीर के सब अङ्ग सशक्त हों, मेरी सब शक्तियाँ पूर्णता को प्राप्त हों। आपने सब मनुष्यों को वाणी दी है, उस वाणी से सब आपस में अपने विचारों का आदान-प्रदान कर सकते हैं। पशु-पक्षियों तथा अन्य प्राणियों में यह सामर्थ्य नहीं है, उनकी भाषा सांकेतिक है। ऐसी उत्तम वाणी को मुझे ईशस्तुति में तथा अन्य श्रेष्ठजनों तथा सत्पदार्थों के यथार्थ-वर्णनरूप स्तुति में लगाना चाहिए, पर-निन्दा में नहीं। यदि हम अपने दैनिक चरित्र का निरीक्षण करें, तो पायेंगे कि पर्याप्त समय हम दूसरों की निन्दा या एकपक्षीय आलोचना में व्यतीत करते हैं। यह पर-निन्दा बहुत बड़ा दुर्गुण है। पर-निन्दा करते-करते मनुष्य में दूसरों के गुण देखने की प्रवृत्ति ही समाप्त हो जाती है। दूसरी मुझे मनरूप अत्युत्तम वस्तु मिली है। जिस ज्ञानेन्द्रिय से मैं ज्ञान ग्रहण करना चाहता हूँ, अपने मन को उसमें प्रवृत्त कर लेता हूँ। तब उस ज्ञानेन्द्रिय से ज्ञान की धारा मेरे आत्मा की ओर प्रवाहित होने लगती है। परन्तु मन को शिव सङ्कल्पों

में भी लगाया जा सकता है और अशिव सङ्कल्पों में भी। मैं चाहता हूँ कि मेरा मन देव-पूजा अर्थात् प्रभु-पूजा और विद्वान्-विदुषियों के सम्मान में लगे, सत्सङ्गति में लगे और दान में लगे। अपने तन-मन-धन से मैं परोपकार करूँ। तीसरी बहुमूल्य वस्तु मुझे 'प्राण' मिली हुई है। शरीर आत्मा और प्राण से संयुक्त होकर ही सजीव होता है। प्राण के शरीर में से निकलते ही आत्मा भी निकल जाता है। मैं चाहता हूँ कि मेरा प्राण समस्वरतायुक्त हो। बेसुरा प्राण जीवात्मा को भी बेसुरा कर देता है। चक्षु और श्रोत्र भी मेरे शरीर को अमोल वस्तुएँ मिली हैं। आँख और कान की कैसी अद्भुत बनावट है कि दृश्य आँख की पुतली में आकर और शब्द कान के पर्दे से लग कर दिखाई और सुनाई देने लगता है। इस आँख से मैं भद्र दृश्यों को ही देखूँ और कान से भद्र शब्दों को ही सुनूँ। मेरी कामना है कि मेरे अन्दर वाणी का बल और एकता का बल भी आये। वाग्बल से मनुष्य मुर्दादिल को भी ओजस्वी बना सकता है, मृततुल्य को भी जागरूक कर सकता है, हतोत्साह को भी उत्साही बना सकता है, भयभीत को भी समराङ्गण में भेज सकता है, रोते को भी हँसा सकता है। एकता का बल भी अपना सानी नहीं रखता। एक सूत किसी को बाँध नहीं सकता, किन्तु बहुत से सूत मिलकर जब मोटी रस्सी बन जाती है, तब वह हाथी को भी वश में कर सकती है। अनेक वीर मिलकर जब सेना बन जाती है, तब वह शत्रु के छक्के छुड़ा देती है। मेरी अभिलाषा है कि मेरा प्राण-अपान का बल भी बढ़े। शिरोभाग तथा ज्ञानेन्द्रियों में प्राण रहता है और छोटी-बड़ी आँतों में, अधोद्वारों में तथा रोमकूपों में अपान रहता है। मन, बुद्धि तथा ज्ञानेन्द्रियों के व्यापार प्राण द्वारा सम्पन्न होते हैं तथा मलनिस्सारण अपान द्वारा होता है। प्राण-अपान के सशक्त होने से ये कार्य सम्यक् प्रकार सम्पादित हो सकते हैं। हे परमेश! मुझे ऐसा बल दो कि मैं अपने शरीर के सब अङ्गों और समग्र अवयवों को सक्रिय, स्फूर्त और शक्तिशाली बना सकूँ।

पाद-टिप्पणियाँ

१. ऋच स्तुतौ, तुदादि।

२. यज देवपूजासङ्गतिकरणदानेषु, भ्वादि।

१८७. छिद्र भर लें

ऋषिः दध्यङ् आथर्वणः। **देवता** *बृहस्पतिः।* **छन्दः** *निचृद् आर्षी पङ्क्तिः।*

यन्मे छिद्रं चक्षुषो हृदयस्य मनसो वातितृण्णं बृहस्पतिर्मे तद्दधातु।
शं नो भवतु भुवनस्य यस्पतिः ॥

—यजु० ३६.२

(यत् मे छिद्रं) जो मेरा छिद्र है **(चक्षुषः)** आँख का, **(हृदयस्य)** हृदय का, **(मनसः वा)** अथवा मन का **(अतितृण्णं[१])** बहुत फटा हुआ, **(तत् मे)** उस मेरे छिद्र को **(बृहस्पतिः[२])** बृहस्पति परमेश्वर वा आचार्य **(दधातु)** भर देवे। **(शं नः भवतु)** कल्याणकारी हो हमारे लिए **(यः भुवनस्य पतिः)** जो ब्रह्माण्ड का स्वामी व पालक है।

मनुष्य कितनी भी पूर्णता प्राप्त कर ले, कुछ न कुछ दोष उसमें रहते ही हैं। चक्षु-श्रोत्र आदि ज्ञानेन्द्रियों में, हाथ-पैर आदि कर्मेन्द्रियों में, पाचन-संस्थान में, रक्त-संस्थान में, श्वासोच्छ्वास-संस्थान में, मन में, मस्तिष्क में कहीं भी दोष हो सकता है, जिसके कारण जीवन-यापन में कठिनाई होती है। मन्त्र कह रहा है कि जो मेरे चक्षु, हृदय और मन का ऐसा छिद्र है, जो बहुत चौड़ा हो गया है, उसे 'बृहस्पति' भर देवे। आंख का दुखना, आँख की दूरदृष्टि या समीपदृष्टि कम हो जाना, फूले, मोतियाबिन्द हो जाना आदि आँख के भौतिक दोष हैं, जो साधारण भी हो सकते हैं और बहुत बढ़े हुए भी। इन दोषों को बृहस्पति नेत्रविशेषज्ञ दूर कर सकता है। आँख हमें अच्छे दृश्य देखने के लिए मिली है। आँखों से अच्छी ज्ञानवर्धक पुस्तकें पढ़ना, सुहावने प्राकृतिक दृश्य देखना, गुरुजनों, नेताओं, संन्यासियों के दर्शन करना और उनसे उद्बोधन प्राप्त करना चक्षुष्मान् का कर्त्तव्य है। आँखों का उपयोग करके मनुष्य बड़े-बड़े ज्ञान-विज्ञान प्राप्त कर सकता है, बड़े-बड़े

आविष्कार कर सकता है, राष्ट्र की उन्नति में चार चाँद लगा सकता है। आँखों का दोष प्राकृतिक भी हो सकता है और आध्यात्मिक भी। जब अध्यात्मसम्बन्धी दोष होता है, तब वस्तुतः वह आत्मा का दोष होता है। आँख उसमें साधन बनती है, अतः आँख का दोष वह साधनगत दृष्टि से कहलाता है। आँखों से अश्लील ग्रन्थ पढ़ना आदि आँखों के साधनगत अध्यात्म दोष हैं, जिन्हें गुरुजन, महात्मा लोग आदि बृहस्पति दूर कर सकते हैं। आँखों के इन प्राकृतिक तथा अध्यात्म दोषों को दूर करके आँखों को पूर्णतः निर्दोष कर लेना आवश्यक है। चक्षु सब ज्ञानेन्द्रियों का प्रतिनिधि है। किसी भी ज्ञानेन्द्रिय में कोई दोष आ गया है, तो बृहस्पति द्वारा उसे दूर कर लेना चाहिए। बृहस्पति में चिकित्साविशेषज्ञ, प्रधानमन्त्री, शिक्षामन्त्री, आचार्य, उपदेशक, संन्यासी आदि राजनेता तथा धार्मिक नेता आ जाते हैं। इसी प्रकार हमारे हृदय-संस्थान या रक्तसंस्थान में यदि कोई दोष रक्तचाप की न्यूनता या अधिकता, धड़कन की तीव्रता, हृदयशूल, रक्त-कर्कट आदि हो गया है, तो उसे भी उस रोग के विशेषज्ञ बृहस्पति द्वारा दूर करवा लेना उचित है। मन के दोष दुर्विचार, अशिव सङ्कल्प, मन का स्थिरता से किसी कार्य में न लगना आदि को भी मनश्चिकित्सा-विशेषज्ञों तथा महात्मारूप बृहस्पतियों से दूर करवा लेना चाहिए। सबसे बड़ा बृहस्पति तो विशाल ब्रह्माण्ड का अधिपति परब्रह्म परमेश्वर है। प्रणवजप-रूप धनुष से आत्मारूप शर को ब्रह्मरूप लक्ष्य पर छोड़ना चाहिए, तब आत्मा ब्रह्म के सम्पर्क से ब्रह्म के गुणों को धारण करके महान् बन जाता है। इस प्रकार भुवनपति परमेश्वर हमारे लिए कल्याणकारी और सुखदायक हो जाता है।

आओ, बृहस्पतियों को तथा भुवनपति परमेश्वर को अपना नायक बनाकर हम अपने दोष दूर करवा कर निष्कल्मष तथा शुक्ल, शुभ्र, स्वच्छ होकर आत्मविकास करें।

पाद-टिप्पणियाँ

१. अति-तृदिर हिंसानादरयोः, रुधादिः।

२. (बृहस्पतिः) बृहतामाकाशादीनां पालकः ईश्वरः—द०।

१८८. पृथिवी और नारी

ऋषिः मेधातिथिः । देवता पृथिवी । छन्दः पिपीलिकामध्या निचृद् गायत्री ।

स्योना पृथिवि नो भवानृक्षरा निवेशनी । यच्छा नः शर्म सप्रथाः ॥

—यजु० ३६.१३

(पृथिवि) हे राष्ट्रभूमि और नारी! तू **(नः)** हमारे लिए **(स्योना)** सुखदायिनी, **(अनृक्षरा)** अकण्टक, और **(निवेशनी)** निवास देनेवाली **(भव)** हो। **(सप्रथाः)** विस्तार और कीर्ति से युक्त तू **(नः)** हमें **(शर्म)** शरण या घर **(यच्छ)** प्रदान कर।

पृथिवी हमारे लिए सुखदायिनी भी हो सकती है और दुःखदायिनी भी। हम उसका उपयोग कैसे करते हैं, इस पर निर्भर है। यदि हम उसके पर्यावरण को शुद्ध रखेंगे, उसे सस्यश्यामला और स्वच्छ रखेंगे, उस पर कृषि करके उसे गाय के समान दुधारू और उपजाऊ बना लेंगे, उस पर बाग-बगीचे और ओषधियाँ-वनस्पतियाँ लगा कर उसे फलोत्पादिका कर लेंगे, उस पर कल-कारखाने स्थापित करके उसे तरह-तरह के पदार्थ उत्पन्न करनेवाली माँ के रूप में परिणत कर लेंगे, उससे लवण, कोयला, गन्धक, लोहा, चाँदी, सोना, तेल आदि निकालकर उसे खान बना लेंगे, तब वह हमारे लिए सदा सुखदात्री बनी रहेगी। किन्तु यदि अशुद्ध, अस्वच्छ, दूषित पर्यावरणवाली, बंजर बना लेंगे, तब यह हमें दुःख देने का ही कारण बनेगी। हम चाहते हैं कि हमारी राष्ट्रभूमि हमारे लिए सुख की स्रोत ही बनी रहे। वह हमारे लिए 'अनृक्षरा' अर्थात् अकण्टक भी हो। यदि उस पर कंटीली झाड़ियाँ उगी रहेंगी, गोखरू बिखरे रहेंगे, चुभनेवाले कंकड़-पत्थर पड़े रहेंगे, उसके

बिलों में साँप-बिच्छू घर बनाये रहेंगे, तब हम न उस पर चल पायेंगे, न वह हमारे लिए जीवनदायिनी हो सकेगी। हमारा कर्त्तव्य है कि हम उसे सजा-संवार कर 'निवेशनी' बना लें, निवासोपयोगी कर लें। तब वह विस्तीर्ण और शरणदायिनी हो सकेगी।

हे नारी! तू भी पृथिवी के समान उपजाऊ है। पृथिवी निर्जीव वस्तुएँ, ओषधियाँ, तरह-तरह के अन्न-फल आदि उत्पन्न करती है, तू महान्, उज्ज्वल, सच्चरित्र, भूमि को स्वर्ग बना देनेवाले, मरुस्थलों में भी हरियाली ला देनेवाले, पराधीनता को स्वराज्य में परिणत कर देनेवाले महापुरुषों और महामनस्का विदुषियों की जन्मदात्री बनती है। हे नारी! तू भी समाज के लिए सुखदायिनी हो। जिस देश की नारियाँ अशिक्षित, उत्साहहीन, शरीर और मन से रुग्ण, दुश्चरित्र, महत्त्वाकांक्षाहीन, विलासिनी होती हैं, वहाँ सुख के स्रोत नहीं बहते हैं। हे नारी! तू अकण्टक भी हो, क्रूरता आदि के कांटों से विहीन, मधुर स्वभाववाली बन। समाज को निवास देनेवाली बन, उजाड़नेवाली नहीं। तू 'सप्रथाः' बन, यश से जगमगा, प्रख्यात कीर्तिवाली हो। अशरणों को शरण दे, बे-घरों को घर दे, बिना माँ वालों की माँ बन। याद रख, वेद की नारी उषा के समान प्रकाशवती और प्रकाशदात्री है। पृथिवी के समान विस्तीर्ण और उदार हृदयवाली है।

१८९. शान्ति की पुकार

ऋषिः दध्यङ् आथर्वणः । देवता लिङ्गोक्ताः । छन्दः भुरिक् शक्वरी ।

द्यौः शान्तिरन्तरिक्षꣳ शान्तिः पृथिवी शान्तिरापः शान्तिरोषधयः शान्तिः । वनस्पतयः शान्तिर्विश्वे देवाः शान्तिर्ब्रह्म शान्तिः सर्वꣳशान्तिः शान्तिरेव शान्तिः सा मा शान्तिरेधि ॥

—यजु० ३६.१७

(द्यौः शान्तिः) द्युलोक शान्तिकर हो, **(अन्तरिक्षं शान्तिः)** अन्तरिक्ष शान्तिकर हो, **(पृथिवी शान्तिः)** पृथिवी शान्तिकर हो, **(आपः शान्तिः)** जल शान्तिकर हों, **(ओषधयः शान्तिः)** ओषधियाँ शान्तिकर हों, **(वनस्पतयः शान्तिः)** वनस्पतियाँ शान्तिकर हों, **(विश्वे देवाः शान्तिः)** समस्त विद्वज्जन शान्तिकर हों, **(ब्रह्म शान्तिः)** परब्रह्म परमेश्वर शान्तिकर हो, **(शान्तिः एव शान्तिः)** शान्ति ही शान्ति हो, **(सा मा शान्तिः एधि)** वह तू शान्ति भी मेरे लिए शान्तिकर हो।

आतङ्कवाद, हाहाकार, आर्तनाद, कलह, विद्वेष, युद्ध से मानव संत्रस्त हो चुका है। अब विभिन्न राष्ट्र प्रतीक्षा कर रहे हैं पारस्परिक मैत्रीभाव, सांमनस्य, सौहार्द और शान्ति की। आवश्यकता इस बात की है कि अशान्ति और चीत्कार को हटा कर शान्ति और सहृदयता की दुन्दुभि बजे। देखो, दिन में सूर्य-रश्मियों से और रात्रि में छिटकती हुई चन्द्र-तारावलि से जगमगाता हुआ द्युलोक हमें शान्ति का सन्देश दे रहा है। परस्पर हार्दिक आकर्षण से खिंचे हुए द्यौ के विभिन्न लोक हमें भी शान्ति से एक-दूसरे के प्रति आकृष्ट होने की शिक्षा दे रहे हैं। सूर्य अन्धकाराच्छन्न मंगल, बुध आदि ग्रहों को अपना प्रकाश प्रदान कर उनके प्रति कैसा स्नेह दर्शा रहा है। आओ, हम भी विभिन्न राष्ट्रों के प्रति स्नेह और मैत्री की भावना अपने मनों में उत्पन्न करें। अन्तरिक्ष की ओर भी दृष्टिपात करो। पृथिवी और अन्तरिक्ष में कैसा अद्भुत प्रेम है।

पृथिवी सूर्यताप के माध्यम से अपना जल अन्तरिक्ष में पहुँचा देती है, अन्तरिक्ष पुनः उस जल को प्यासी पृथिवी पर बरसा कर ताल, तलैया, नदी, सागर को अपने स्नेह से सिक्त कर देता है। पृथिवी की शान्तिप्रियता को भी देखो। उत्तुंग हिमशैल, रंग-बिरंगे पुष्प-फलों से लदी ओषधि-वनस्पतियाँ, जलस्रोत-सरोवर-प्रपात-सरिता-समुद्र, भूगर्भ की खानें, तैलकूप आदि सभी पृथिवी पर शान्ति बखेर रहे हैं। जल की शान्ति को भी निहारो। पसीने से तर-बतर, प्यास से व्याकुल मनुष्य एक गिलास पानी पीकर कैसी शान्ति का अनुभव करता है। पर्वतीय स्रोतों, झरनों, सरोवर-परिसरों, नदी-तटों की शीतलता किसे शान्ति की लहरों में स्नान नहीं करा देती। ओषधि-वनस्पतियाँ कैसे शान्तभाव से खड़ी हुई अपने मूल, छाल, पत्र, पुष्प एवं फलों से प्राणियों का कैसा उपकार कर रही हैं।

विद्वानों की विद्वत्ता और उनके चरित्र-बल का भी मूल्याङ्कन करो। वेद, ब्राह्मणग्रन्थ, आरण्यक, उपनिषद्, दर्शनशास्त्र, योगशास्त्र, भौतिक विज्ञान, आयुर्वेद, शिल्पशास्त्र आदि विविध ज्ञान-विज्ञान का पाण्डित्य प्राप्त करके अध्ययन-अध्यापन, प्रबोधन एवं अनुसन्धान में संलग्न यह विद्वन्मण्डली प्रत्येक राष्ट्र के लिए गौरव का विषय है। विद्वज्जन एक-जुट होकर शान्ति के साथ विज्ञान को कैसा विकसित कर रहे हैं। अन्त में परब्रह्म परमेश्वर की शान्ति को भी दृष्टिगत करो। सृष्टि की उत्पत्ति, उसका लालन-पालन और समय आने पर उसकी प्रलय-लीला सब शान्तभाव से वह कर रहा है। इसके साथ शुभ गुण-कर्म-स्वभाव की प्रेरणा और न्याय-व्यवस्था भी उसके द्वारा शान्तिपूर्वक हो रही है। उसकी शान्तिमयी रीति-नीति से भी हम शान्ति का पाठ पढ़ें।

शान्ति ही शान्ति हमें चाहिए, अशान्ति बिन्दुमात्र भी अभीष्ट नहीं है। शान्ति की बात समाप्त करते हुए वेदमन्त्र कह रहा है कि शान्ति भी हमें शान्ति देनेवाली हो। हमें सजीव शान्ति चाहिए, मरघट की शान्ति नहीं। ऐसी शान्ति चाहिए जो हमारे हृदयों को गुदगुदाये, तरङ्गित करे, आगे बढ़ने के लिए प्रोत्साहित करे, हमें विजय का सन्देश दे, ऊर्ध्वारोहण की शिक्षा दे, हमें ब्रह्मानन्द के झूले में झुलाये।

१९०. सब परस्पर मित्रदृष्टि से देखें

ऋषिः दध्यङ् आथर्वणः। देवता ईश्वरः। छन्दः भुरिग् आर्षी जगती।

दृते दृꣳह मा मित्रस्य मा चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम्। मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे। मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे॥

—यजु० ३६.१८

हे **(दृते[१])** अविद्यान्धकार-निवारक जगदीश्वर! **(दृंह मा)** दृढ़ता प्रदान कीजिए मुझे। **(मित्रस्य चक्षुषा)** मित्र की आँख से **(मा)** मुझे **(सर्वाणि भूतानि)** सब प्राणी **(समीक्षन्ताम्)** देखें। **(मित्रस्य चक्षुषा)** मित्र की आँख से **(अहं)** मैं **(सर्वाणि भूतानि)** सब प्राणियों को **(समीक्षे)** देखूँ। **(मित्रस्य चक्षुषा)** मित्र की आँख से **(समीक्षामहे)** हम सब एक-दूसरे को देखें।

अविद्यान्धकार में ग्रस्त रहने के कारण हम यही नहीं जानते कि समाज में दूसरों के साथ कैसा व्यवहार करना चाहिए, एक-दूसरे को कैसी दृष्टि से देखना चाहिए। हम परस्पर कलह, विद्वेष, असन्तोष, उपद्रव, मार-काट में ही आनन्द मानते हैं, भय के वातावरण में ही रहना पसन्द करते हैं, चोरी-डकैती, आतङ्कवाद और हिंसा के नग्न ताण्डव और आर्तनाद में ही जीना चाहते हैं। पता नहीं कब कोई किसी की जान ले लेगा, पता नहीं कब किस पर वज्रपात हो जायेगा और उसके आश्रय में रहनेवाले चीत्कार कर उठेंगे, पता नहीं कब कोई साध्वी विधवा हो जाएगी और उसके तथा शिशुओं के विलाप से दिशाएँ कराहने लगेंगी, पता नहीं कब राजमहलों में रहनेवाले परिवार खण्डहरों के निवासी हो जाएँगे, पता नहीं कब अच्छे घरानों के लोग सड़कों पर बसेरा करने को बाध्य हो जाएँगे। ऐसी भीषण परिस्थितियाँ पैदा करनेवाले आतङ्कवादी लोग इसकी पीड़ा को, वेदना को, क्यों अनुभव नहीं करते?

वे शान्ति को भङ्ग करने तथा हँसतों को रुलाने में ही क्यों सुखी होते हैं?

आओ, संहारलीला को छोड़कर हम परस्पर प्रेम और भाईचारे से रहना सीखें। हम जिनके घर बर्बाद करते हैं, वे यदि हमारे घर बर्बाद करें तो हमें कैसा लगेगा, थोड़ी देर के लिए यह भी सोचें। हम जिनकी जान लेते हैं, वे यदि हमारी जान लेने पर उतारू हो जाएँ, तो हम कैसा अनुभव करेंगे, यह भी सोचें। एक दिन आयेगा जब हम हिंसा, मार-धाड़, चीत्कार, हाहाकार, विलाप के वातावरण से तङ्ग आकर शान्ति और प्रेम के वातावरण की आवश्यकता अनुभव करने लगेंगे। तब बन्दूकों, तलवारों और बम के गोलों से हमारा विश्वास उठ जाएगा। कराहती लाशें हमें प्रेम, सौहार्द और मैत्री का वातावरण पैदा करने को बाध्य करेंगी।

हे विद्वेषविदारक जगदीश्वर! आप हमें दृढ़ता प्रदान कीजिए। आज से हम पारस्परिक मैत्री का सङ्कल्प करते हैं, हम उस पर दृढ़ रहें। हमने विद्वेष के परिणामों को भुगत लिया है, विद्वेष और वैरभाव ने हमें विनाश के कगार पर पहुँचा दिया है। हमें न केवल सब मनुष्य, अपितु सब प्राणी मित्र की दृष्टि से देखें। जब मनुष्य में अहिंसा प्रतिष्ठित हो जाती है, तब सिंह, व्याघ्र आदि हिंसक प्राणी भी वैरभाव को छोड़कर मित्र बन जाते हैं। क्या आपने वह सच्ची कहानी नहीं सुनी है कि एक शेर बन्दूक की गोली से आहत हो गया था, जिसकी मरहमपट्टी एक साधु ने की और उस साधु के चरणों में सिर झुकाने वह शेर प्रतिदिन नियत समय पर आता था।[२] सब प्राणी हमें मित्र की आँख से देखें, हम सब प्राणियों को मित्र की आँख से देखें। मित्रता और शान्ति के साम्राज्य में हम निवास करें। एक-दूसरे के सुख-दुःख में हम साझी हों। दूसरे के आनन्दित होने पर हम भी आनन्दित हों, दूसरे की कराहट पर हम भी कराहें। हे जगदीश्वर हमें वह दिन देखने का सौभाग्य प्रदान करो।

पाद-टिप्पणियाँ

१. (दृते) अविद्यान्धकारनिवारक जगदीश्वर, विद्वेषविदारक विद्वन् वा—द०।
२. **द्रष्टव्य**—कल्याण मार्ग का पथिक : स्वामी श्रद्धानन्द।

१९१. अग्नि परमेश्वर सबके साथ है

ऋषिः दध्यङ् आथर्वणः । देवता अग्निः । छन्दः निचृद् ब्राह्मी अनुष्टुप्।

सम॒ग्निर॒ग्निना॑ गत॒ सं दैवेन सवि॒त्रा सꣳसूर्येणारोचिष्ट।
स्वाहा॒ सम॒ग्निस्तप॑सा गत॒ सं दैव्येन सवि॒त्रा सꣳसूर्येणारूरुचत॥

—यजु० ३७.१५

(**अग्निः**) तेजस्वी परमेश्वर (**अग्निना**) पार्थिव अग्नि के साथ (**सं गत**) संस्थित है, (**दैव्येन सवित्रा**) विद्वानों के हितकारी वायु के साथ (**सं**) संस्थित है, (**सूर्येण सं रोचते**) सूर्य के साथ चमक रहा है। (**स्वाहा**) उस तेजस्वी परमेश्वराग्नि की हम जय बोलते हैं। (**अग्निः**) तेजस्वी परमेश्वर (**तपसा सं गतः**) ग्रीष्म ऋतु के साथ संस्थित है, (**दैव्येन सवित्रा**) विद्वानों के हितकर्ता विद्युत्-अग्नि के साथ (**सं**) संस्थित है। वही तेजस्वी परमेश्वराग्नि (**सूर्येण**) सूर्य के द्वारा (**अरूरुचत**) सबको चमकाता रहा है।

ब्रह्माण्ड में जो भी अद्भुत कलाकृतियाँ दिखायी देती हैं, उन सबमें कोई कलाकार बैठा झाँक रहा है। इनमें एक कलाकृति 'अग्नि' है। प्राचीन याज्ञिक लोग उत्तरारणि और अधरारणि को परस्पर रगड़ कर यज्ञकुण्ड में अग्नि प्रज्वलित करते थे। जङ्गल में बांसों की रगड़ से अग्नि उत्पन्न हो जाती है। आजकल का सरल उपाय यह है कि दीपशलाका की मसाले-लगी डिबिया की पीठ पर शलाका को रगड़ कर अग्नि जलाते हैं। उत्पन्न की गयी सूक्ष्म अग्नि ईंधन पाकर ऊँची विकराल ज्वालाओं को धारण कर लेती है। इस अग्नि में कितनी शक्ति है, कितनी उज्ज्वलता है, कितनी तेजस्विता है। इस अग्नि में अग्रणी परमेश्वर कारीगर बनकर बैठा हुआ है। फिर 'सविता' को देखो। 'सवितृ' शब्द निरुक्त में मध्यमस्थानीय तथा उत्तमस्थानीय दोनों प्रकार के देवों में पठित होने से इसके अर्थ मध्यमस्थानीय वायु तथा उत्तम-

स्थानीय सूर्य दोनों होते हैं। यहाँ सूर्य पृथक् पठित होने से प्रस्तुत स्थल में सविता प्रेरक वायु के अर्थ में है। कभी यह सविता वायु शीतल सुगन्धित रूप से मन्द-मन्द चलता है और कभी प्रचण्ड उष्ण झंझावात का रूप धारण कर लेता है। मन्द-मन्द बहता हुआ यह मन में कैसी शान्ति उत्पन्न करता है और प्रखरता से धूल के चक्रवात के साथ उड़ता हुआ, बाधाओं को तोड़ता-फोड़ता हुआ, कभी बिजली की कड़क और वर्षा को साथ लेता हुआ भूमि की कैसी सफाई कर डालता है। इस सविता वायु को उत्पन्न करनेवाला और चलानेवाला परमेश्वर भी इसी के साथ बैठा हुआ है। जो उसे देखना चाहते हैं, उन्हें वह अपने पूरे साज के साथ दीख जाता है। फिर द्युलोक के देदीप्यमान राजमुकुट सूर्य की ओर भी दृष्टिपात करो। पृथिवी, मंगल, बुध, बृहस्पति, शुक्र, शनि आदि ग्रहों तथा इनके उपग्रहों को अपने आकर्षण की डोर से पकड़कर वेग से अपने चारों ओर घुमाता हुआ और इन्हें अपने प्रकाश से प्रकाशित और प्राण से अनुप्राणित करता हुआ यह कितना बड़ा सम्राट् बना हुआ है। इस सूर्य में भी परमात्माग्नि चमक रहा है, अपनी छवि बखेर रहा है।

फिर देखो, वह तेजस्वी परमेश्वर ग्रीष्म ऋतु के साथ भी सङ्गत है। ग्रीष्म की तपस कैसी उग्र होती है। यह उग्रता देनेवाला अग्रणी जगदीश्वर ही है। वह तेजोमय परमेश दैव्य सविता के साथ, दीप्तिमान् विद्युद्वज्र के साथ भी सङ्गत है। विद्युत् को चमकाने-गर्जानेवाला वही है। वही परमेश्वर सूर्य द्वारा सबको प्रकाशित और रोचमान कर रहा है।

इसी प्रकार प्रकृति के अन्य सजीले पदार्थों के साथ भी वह सङ्गत है। वह पर्वतों के साथ सङ्गत है, समुद्रों के साथ सङ्गत है, बादलों के साथ सङ्गत है, वन-उपवनों के साथ सङ्गत है, स्रोतों-सरोवरों के साथ सङ्गत है, पुष्पित-फलित, हरित पत्रों से अलंकृत वृक्षों के साथ सङ्गत है। आओ, सब रमणीक पदार्थों में बैठे हुए उस परमेश्वर के दर्शन करें, उसकी विभूति को देखें और उस पर मुग्ध हों।

१९२. अमर आत्मा पुनः-पुनः जन्म लेता है

ऋषिः दीर्घतमाः। देवता जीवात्मा। छन्दः निचृद् आर्षी त्रिष्टुप्।

अपश्यं गोपामनिपद्यमानमा च परा च पथिभिश्चरन्तम्।
स सध्रीचीः स विषूचीर्वसानऽआवरीवर्त्ति भुवनेष्वन्तः॥

—यजु० ३७.१७

मैंने (**अपश्यं**) देखा है (**गोपां**[१]) इन्द्रियरूप गौओं के रक्षक जीवात्मा को (**अनिपद्यमानं**[२]) न मरनेवाला, (**पथिभिः**) मार्गों से (**आ चरन्तं**) शरीर के अन्दर आनेवाला और (**पराचरन्तं**) शरीर से बाहर जानेवाला। (**सः**) वह (**सध्रीचीः**[३]) साथ-साथ चलनेवाली नस-नाड़ियों को और (**सः**) वह (**विषूचीः**) विविध दिशाओं में जानेवाली नस-नाड़ियों को (**वसानः**) धारण करता हुआ (**भुवनेषु अन्तः**) भुवनों के अन्दर (**आ वरीवर्ति**[५]) पुनः-पुनः आता-जाता है।

चारवाक सम्प्रदाय की मान्यता है कि जब तक जियो सुख से जियो, ऋण लेकर घी पियो, ऋण चुकाने की आवश्यकता नहीं है, मरणोपरान्त शरीर भस्म हो चुका, तो पुनर्जन्म किसी का नहीं होता है। वह आत्मा नाम की कोई नित्य वस्तु नहीं मानता, जो पुनर्जन्म ले। किन्तु उसका कथन मिथ्या है, क्योंकि सैंकड़ों उदाहरण ऐसे मिलते हैं कि कइयों को पूर्वजन्म की बातें स्मरण रहती हैं। श्रुति भी आत्मा की अमरता तथा उसके बार-बार जन्म लेने की पुष्टि करती है। प्रस्तुत कण्डिका कह रही है कि शरीर में एक 'गोपाः' निवास करता है, जो शरीर के मर जाने पर भी मरता नहीं है। उसका नाम 'गोपाः' इस कारण है कि वह इन्द्रियरूप गौओं का रक्षक है। वैसे तो अपने आत्मा का प्रत्यक्ष प्रत्येक को होता है, जिसे वह 'मैं' कहता है—मैं कहता हूँ, मैं बोलता हूँ, मैं सुनता हूँ, मैं स्वाध्याय करता हूँ, मैं अध्यापन करता हूँ आदि। यह 'मैं'

आत्मा ही है। न्यायदर्शनकार ने अनुमान प्रमाण से आत्मा की सिद्धि करते हुए इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दुःख और ज्ञान को आत्मा के लिए साधक हेतु बताया है।[६] पहले जैसे पदार्थ से मनुष्य को सुख मिल चुका होता है, वैसे पदार्थ को देखकर उसे पाने की इच्छा करता है। जैसे पदार्थ से दुःख मिल चुका होता है, वैसे पदार्थ को देखकर उससे द्वेष करता है। जैसे पदार्थ से पहले सुख मिल चुका होता है, वैसे पदार्थ को पाने का प्रयत्न करता है। जैसे पदार्थ से पहले सुख मिल चुका होता है, वैसे पदार्थ के सेवन से अब भी सुखी होता है। जैसे पदार्थ के सेवन से पहले दुःख मिल चुका होता है, वैसे पदार्थ के सेवन से अब भी दुःखी होता है। जो ज्ञान पहले प्राप्त कर चुका होता है, अब भी वह ज्ञान उसे होता है। इन इच्छा, द्वेष प्रयत्न, सुख, दुःख, ज्ञान का कर्ता वही है, जो पहले तज्जातीय पदार्थों के प्रयोग से सुख या दुःख प्राप्त कर चुका होता है, अब भी वह ज्ञान उसे होता है। इस प्रकार दोनों का कर्ता एक ही है, इस हेतु से आत्मा का अनुमान होता है। वह आत्मा कर्मानुसार विभिन्न योनियों में जन्म लेता है। पाप कर्मों से पाप योनि में जाता है, पुण्य कर्मों से पुण्य योनि में जाता है और पाप तथा पुण्य दोनों होते हैं, तो मनुष्य योनि में आता है।[७] इस प्रकार विभिन्न शरीरों में आता है तथा देहान्त के समय शरीरों से बाहर निकल जाता है। शरीर में कुछ नस-नाड़ियाँ समानान्तर चलती हैं, कुछ विरुद्ध दिशाओं में चलती हैं। उन्हें धारण करता हुआ वह बार-बार जन्म लेता है।

पाद-टिप्पणियाँ

१. गाः इन्द्रियाणि पाति रक्षतीति गोपाः जीवात्मा।
२. नि-पद गतौ, दिवादिः। न निपद्यते म्रियते यः सः अनिपद्यमानः।
३. सह अञ्चन्ति गच्छन्ति याः ताः सध्रीच्यः। सह को सध्रि आदेश।
४. विषु विविधं विरुद्धं विषमं वा अञ्चन्ति गच्छन्ति याः ता विषूच्यः।
५. आ-वृतु वर्तने, यङ्लुगन्त। पुनः पुनः आवर्तते।
६. इच्छाद्वेषप्रयत्नसुखदुःखज्ञानान्यात्मनो लिङ्गम्। न्या०द० १.१.१०
७. द्रष्टव्य—छा० उप० ५.१०.७-९

१९३. राष्ट्र के उत्कर्ष का उद्योग कर

ऋषिः दीर्घतमाः। देवता द्यावापृथिवी। छन्दः अतिशक्वरी।

इषे पिन्वस्वोर्जे पिन्वस्व ब्रह्मणे पिन्वस्व क्षत्राय पिन्वस्व द्यावापृथिवीभ्यां पिन्वस्व। धर्मासि सुधर्मामेन्यस्मे नृम्णानि धारय ब्रह्म धारय क्षत्रं धारय विशं धारय ॥

—यजु० ३८.१४

हे सम्राट्! राष्ट्र में (**इषे**) अन्नादि भोज्य पदार्थों की वृद्धि के लिए (**पिन्वस्व**[1]) उद्योग कर। (**क्षत्राय**) राष्ट्र की रक्षा के लिए (**पिन्वस्व**) उद्योग कर। (**ब्रह्मणे**) ज्ञान की वृद्धि के लिए (**पिन्वस्व**) उद्योग कर। (**क्षत्राय**) राष्ट्र की रक्षा के लिए (**पिन्वस्व**) उद्योग कर। (**द्यावापृथिवीभ्यां**) सूर्य और पृथिवी का उपयोग लेने के लिए (**पिन्वस्व**) उद्योग कर। हे (**सुधर्म**) श्रेष्ठ धर्म का आचरण करनेवाले! (**धर्मा असि**) तू धर्म का प्रचारक है। (**अनेमि**[2]) अहिंसक रूप से (**अस्मे**) हम में (**नृम्णानि**[3] **धारय**) धनों को उत्पन्न कर, (**ब्रह्म धारय**) ब्राह्मणों को उत्पन्न कर, (**क्षत्रं धारय**) क्षत्रियों को उत्पन्न कर, (**विशं धारय**) वैश्यों को उत्पन्न कर।

हे सम्राट्! आपने राष्ट्र की सेवा का व्रत लिया है, आपको राष्ट्र की चतुर्मुखी उन्नति करनी है। आप राष्ट्र में सब प्रकार के अन्नों और भोज्य पदार्थों की उत्पत्ति का प्रबन्ध करो। किसी भी अन्न या भोज्य पदार्थ के लिए हमारे राष्ट्र को दूसरे राष्ट्र का मुखापेक्षी न होना पड़े। बाहर से किसी अन्न का आयात न करना पड़े। आपको राष्ट्र का बल बढ़ाना है। आप जल-सेना, स्थल-सेना और अन्तरिक्ष-सेना की वृद्धि करो। कोई शत्रु हमारे राष्ट्र की ओर आँख उठाने का साहस न कर

सके। आप राष्ट्र के ज्ञान की वृद्धि करो, राष्ट्र में सब विद्याओं के अध्ययन-अध्यापन एवं क्रियात्मक प्रयोग का उद्योग करो। आप राष्ट्र की रक्षा का, राष्ट्र के क्षात्रबल को बढ़ाने का उद्योग करो। प्रत्येक राष्ट्रवासी के लिए सैनिक शिक्षा अनिवार्य करो और शस्त्रास्त्रों को चलाने की विद्या सिखाओ, जिससे आवश्यकता पड़ने पर प्रत्येक राष्ट्रवासी वीर सैनिक का कार्य कर सके। आप सूर्यताप से यन्त्रों को चलाने की, सौर विद्युत् से प्रकाश-प्राप्ति की, पृथिवी की खानों से खनिज द्रव्यों की प्राप्ति की, समुद्र से मणि-मुक्ताओं की प्राप्ति की, और ओषधि-वनस्पतियों से मूल, पुष्प, फल, पत्र एवं छाल इन पञ्च द्रव्यों की प्राप्ति की व्यवस्था करो।

हे नायक! आप सुधर्म हो, उत्कृष्ट धर्म का पालन करनेवाले हो, प्रजा में भी धर्म का प्रचार करो। आप अपने राष्ट्र को धर्मसापेक्ष कह कर सब धर्मों की भीड़ इकट्ठी मत करो। शुद्ध, स्वच्छ, पवित्र वैदिक धर्म का नाद गुंजाओ। हे राजन्! आप प्रजा के अहिंसक बनो, प्रजा की किसी भी दृष्टि से हिंसा मत होने दो। न धन की क्षति हो, न बल की क्षति हो, न अन्नों की क्षति हो, न जल की क्षति हो। आप प्रजा में सोने-चाँदी आदि की लक्ष्मी भर दो। आप राज्य में ब्रह्मबली ब्राह्मणों को उत्पन्न करो, छात्रधर्म के धनी क्षत्रियों को उत्पन्न करो, कृषि-व्यापार एवं पशुपालन के प्रेमी वैश्यों को उत्पन्न करो। आप अपने राष्ट्र को दिग्विजयी बना दो।

पाद-टिप्पणियाँ

१. पिन्वस्व, पिवि सेवने सेचने च, भ्वादिः। यहाँ उद्योग अर्थ है।
२. मिञ् हिंसायाम्। मिनोति हिनस्तीति मेनिः, न मेनि अनेमि यथा स्यात् तथा।
३. नृम्ण=धन। निरु० ५.९

१९४. हरि का उपदेश

ऋषिः *दीर्घतमाः।* ***देवता*** *हरिः।* ***छन्दः*** *आर्षी परा उष्णिक्।*

अचिक्रदद् वृषा हरिर्महान्मित्रो न दर्शतः।
सꣳसूर्येण दिद्युतदुदधिर्निधिः ॥

—यजु० ३८.२२

(अचिक्रदत्[१] **)** पुनः पुनः उपदेश दे रहा है **(वृषा)** सुखवर्षक, **(हरिः**[२] **)** दोषों का हर्ता परमेश्वर। **(महान्)** वह महान् है, **(मित्रः न दर्शतः)** मित्र के समान दर्शनीय है। वह **(सूर्येण)** सूर्य के द्वारा **(सं दिद्युतत्**[३] **)** भली भाँति द्युति दे रहा है। वह **(उदधिः)** समुद्र है, **(निधिः)** खजाना है।

आओ, वेदोक्त 'हरि' का स्मरण करें—'हरिः ओम्, हरिः ओम्, हरिः ओम्'। हरि परमेश्वर का एक नाम है, क्योंकि वह दोषों का हरण करनेवाला है। जब हम परमेश्वर के शुद्ध स्वरूप की झाँकी पाते हैं, तब हमें भी उसके समान शुद्ध होने की प्रेरणा मिलती है। वह 'वृषा' है, वृष्टि करनेवाला है, जल की वृष्टि के समान सुखों की वृष्टि भी करता है। वह महान् है, हम अल्पशक्ति मानवों की अपेक्षा महाशक्तिसम्पन्न है। उसकी महत्ता को हम इस रूप में प्रकट कर सकते हैं कि हम पानी की एक छोटी सी बूंद हैं, तो वह लहराता सागर है, हम मिट्टी के एक क्षुद्र कण हैं, तो वह गगनचुम्बी विशाल पर्वत है, हम प्रकाश की एक चिनगारी हैं, तो वह प्रकाश का महासूर्य है। वह 'मित्र' के समान दर्शनीय है। अपने सखा के लिए सब कोई यह चाहता है कि वह हमसे अधिक से अधिक सम्पर्क रखे, वह हमें नित्य दर्शन देता रहे। मित्र की सब गतिविधियाँ हमें अच्छी लगती हैं। प्रभु को हम मित्र बना लेंगे, तो उसका सामीप्य हमें अच्छा लगेगा, उसके गुणों को

हम ग्रहण करना चाहेंगे, उसके सदृश बनना चाहेंगे। उसकी एक विशेषता यह है कि वह सूर्य के द्वारा हमें द्युति दे रहा है, प्रकाश और ताप दे रहा है। कल्पना तो कीजिए कि सदा अन्धकार ही हमारे चारों ओर छाया रहे, तो हमारी क्या गति होगी। सूर्य महान् प्रकाश की सौगात लेकर उदित होता है और दिन-भर में हमें अपने प्रकाश से स्नान कराता रहता है। सूर्य का ताप हमें प्राप्त न हो, तो हमारा सारा भूमण्डल ठण्डा पड़ जाए और यहाँ से जीवन समाप्त हो जाए। सूर्य का ताप ही ओषधि-वनस्पतियों को भी जीवित रखता है। सूर्य केवल हमारी पृथिवी को ही नहीं, अपितु सब ग्रहोपग्रहों को अपनी परिक्रमा करवा कर उनका पालन करता है। यदि वे सूर्य की आकर्षणरूप डोर से छूट जाएँ, तो उनका नाम-निशान भी न रहे। वह 'हरि' परमेश्वर 'उदधि' है, समुद्र है। जैसे समुद्र जल का सागर होता है, वैसे ही वह प्रेमरस का और आनन्दरस का सागर है। उस प्रेम और आनन्द के सागर की लहरों में झूल-झूल कर हम अपने आत्मा के गागर को प्रेम और आनन्द से परिपूर्ण कर लेते हैं। वह 'हरि' निधि है, खजाना है। खजाना है गुणगणों का, खजाना है 'सत्यं, शिवं, सुन्दरम्' का, खजाना है दयालुता का, न्याय का, खजाना है पुरुषार्थ का, खजाना है वीरता का, प्रताप का, खजाना है अहिंसा-सत्य-अस्तेय-ब्रह्मचर्य-अपरिग्रह का।

वह 'हरि' चीख-चीख कर हमें कुछ सुना रहा है, उपदेश दे रहा है। वेद की ऋचाएँ सुना रहा है, हमें सावधान कर रहा है जीवन में कुछ करने के लिए, पुण्य की पूँजी कमाने के लिए, परलोक सुधारने के लिए। आओ, हम उसकी पुकार सुनें, उससे कुछ सीखें, उसके हो जाएँ।

पाद-टिप्पणियाँ

१. क्रदि शब्दे, पुनः पुनः शब्दमकरोत्—म०।

२. हृञ् हरणे। हरति दोषान् यः स हरिः।

३. सम्-द्युत दीप्तौ, णिच्, लुङ्, अडभाव।

१९५. आत्म-परिचय

ऋषिः दीर्घतमाः । देवता आत्मा । छन्दः आर्षी पङ्क्तिः ।

मयि त्यदिन्द्रियं बृहन्मयि दक्षो मयि क्रतुः ।
घर्मस्त्रिशुग्वि राजति विराजा ज्योतिषा सह ब्रह्मणा तेजसा सह ॥

—यजु० ३८.२७

(मयि) मेरे अन्दर **(त्यद्)** वह **(बृहत्)** बहुत शक्तिशाली **(इन्द्रियं)** इन्द्रजुष्ट प्राण है, **(मयि)** मेरे अन्दर **(दक्षः)** दक्षता है, **(मयि)** मेरे अन्दर **(क्रतुः)** कर्म और प्रज्ञा है, मेरे अन्दर **(त्रिशुग् घर्मः)** तीन दीप्तियों का प्रताप **(विराजति)** विराजमान है **(विराजा ज्योतिषा सह)** विराड् ज्योति के साथ, **(ब्रह्मणा तेजसा सह)** ब्रह्मतेज के साथ।

क्या तुम मुझ आत्मा का परिचय जानना चाहते हो? मैं हाड़मांस का पिण्ड नहीं हूँ, वह तो मेरा साधन है। मेरी प्रथम विशेषता यह है कि मेरे पास एक इन्द्रजुष्ट महत्त्वपूर्ण वस्तु प्राण है, जो इन्द्रियों का भी इन्द्रिय है। छान्दोग्य उपनिषद् में कथा है कि इन्द्रियों में विवाद उत्पन्न हो गया कि हममें कौन ज्येष्ठ और श्रेष्ठ है। सब इन्द्रियों के एक-एक करके शरीर से बाहर निकलने पर भी शरीर चलता रहा, किन्तु जब प्राण बाहर निकलने लगा तब उसके साथ अन्य इन्द्रियाँ भी खिंचती हुई बाहर निकलने लगीं। अतः प्राण ही ज्येष्ठ और श्रेष्ठ माना जाता है। वह बृहत् इन्द्रिय प्राण मेरे पास है, जिसके कारण अचेतन पदार्थों की अपेक्षा मैं चेतन, सप्राण और जीवित-जागृत माना जाता हूँ। दूसरी प्रशस्त वस्तु मेरे अन्दर 'दक्ष' अर्थात् आत्मबल और शारीरिक बल है। इनके अतिरिक्त मेरे पास अन्य भी कई वस्तुएँ हैं, जिनके कारण मैं असीम शक्तिशाली

माना जाता हूँ। मेरे अन्दर 'क्रतु' है, जिससे प्रज्ञा, कर्म और सङ्कल्प परिलक्षित होते हैं। प्रज्ञा के बल से मैं वेद-वेदाङ्गों का तथा अन्य शास्त्रों का अध्ययन एवं ज्ञानार्जन करता हूँ, तथा कर्म की शक्ति से उस ज्ञान के अनुकूल आचरण करता हूँ। मेरे अन्दर दृढ़ सङ्कल्प भी है, जिसके कारण अपनी प्रतिज्ञा को कभी छोड़ता नहीं हूँ। मेरे पास 'त्रिशुग् घर्म' भी है। घर्म निघण्टु कोष के अनुसार यज्ञ का वाचक है[1]। 'त्रिशुग्[2]' का अर्थ है, जो शारीरिक, आत्मिक तथा सामाजिक तीनों पवित्रताओं से युक्त है। अपवित्र यज्ञ कभी सफल नहीं होता। देवपूजा, सङ्गतिकरण और दान के सब कार्य यज्ञ कहलाते हैं। मेरे इन कार्यों में तीनों प्रकार की पवित्रता विद्यमान रहती है। मेरे अन्दर 'विराड् ज्योति' है, जिसके सम्मुख सूर्य, चन्द्र, तारे, विद्युत्, अग्नि सब फीके पड़ जाते हैं। मेरे अन्दर ब्राह्मतेज और क्षात्र तेज भी उपस्थित है। ब्राह्मतेज से मैं योगसाधना द्वारा समाधि की स्थिति में पहुँच सकता हूँ, जहाँ ब्रह्म के अतिरिक्त कुछ दिखायी नहीं देता और क्षात्र तेज द्वारा मैं आततायी, आतङ्कवादी शत्रुओं को परास्त कर सकता हूँ। मेरे विद्यमान रहते कोई आतङ्कवादी निर्दोष लोगों की हत्या नहीं कर सकता, बम के गोले छोड़कर हाहाकार नहीं मचा सकता।

मैं इन्द्र हूँ, आत्मतेज से भासमान हूँ, क्षात्रबल से देदीप्यमान हूँ। मैं अकेला ही सैंकड़ों से लोहा ले सकता हूँ। मेरे प्रताप को पहचानो, आवश्यकता होने पर मुझे याद करो, मुझे सेवा का गौरव प्रदान करो।

पाद-टिप्पणियाँ

१. निघं० ३.१७
२. त्रि—शुचिर् पूतीभावे।

१९६- मृत्यु के पश्चात् जीव की गति

ऋषिः दीर्घतमाः । देवता सवित्रादयः । छन्दः विराड् धृतिः ।

सविता प्रथमेऽहन्नग्निर्द्वितीये वायुस्तृतीयऽआदित्यश्चतुर्थे चन्द्रमाः पञ्चमऽऋतुः षष्ठे मरुतः सप्तमे बृहस्पतिरष्टमे । मित्रो नवमे वरुणो दशमऽइन्द्रऽएकादशे विश्वेदेवा द्वादशे ॥

—यजु० ३९.६

हे मनुष्यो! इस जीव को शरीर छोड़ने पर (**सविता**) सूर्य (**प्रथमे अहन्**) पहले दिन, (**अग्निः**) अग्नि (**द्वितीये**) दूसरे दिन, (**वायुः**) वायु (**तृतीये**) तीसरे दिन, (**आदित्यः**) मास (**चतुर्थे**) चौथे दिन, (**चन्द्रमाः**) चन्द्रमा (**पञ्चमे**) पाँचवे दिन (**ऋतुः**) ऋतु (**षष्ठे**) छठे दिन, (**मरुतः**) मनुष्यादि प्राणी (**सप्तमे**) सातवें दिन, (**बृहस्पतिः**) बड़े-बड़ों का पालक सूत्रात्मा वायु (**अष्टमे**) आठवें दिन, (**मित्रः**) प्राण (**नवमे**) नौवें दिन, (**वरुणः**) उदान (**दशमे**) दसवें दिन, (**इन्द्रः**) विद्युत् (**एकादशे**) ग्यारहवें दिन, (**विश्वेदेवाः**) सब दिव्य उत्तम गुण (**द्वादशे**) बारहवें दिन प्राप्त होते हैं।

"हे मनुष्यो! जब ये जीव शरीर को छोड़ते हैं, तब सूर्यप्रकाश आदि पदार्थों को प्राप्त होकर, कुछ काल भ्रमण कर, अपने कर्मों के अनुकूल गर्भाशय को प्राप्त शरीर धारण कर उत्पन्न होते हैं। तभी पुण्य-पाप कर्म से सुख-दुःखरूप फलों को भोगते हैं।"[१] "जब यह जीव शरीर को छोड़ सब पृथिव्यादि पदार्थों में भ्रमण करता, जहाँ-तहाँ प्रवेश करता और इधर-उधर जाता हुआ कर्मानुसार ईश्वर की व्यवस्था से जन्म पाता है, तब ही सुप्रसिद्ध होता है।"[२] हे मनुष्यो! जो जीव पापाचरणी हैं वे उग्र, जो धर्मात्मा हैं वे शान्त, जो भय

देनेवाले हैं वे भीम, जो भय को प्राप्त हैं वे भीत, जो अभय देनेवाले हैं वे निर्भय, जो अविद्यायुक्त हैं वे अन्धकारावृत, जो विद्वान् योगी हैं वे प्रकाशयुक्त, जो अजितेन्द्रिय हैं वे चञ्चल (धुनि), जो जितेन्द्रिय हैं वे अचञ्चल, अपने-अपने कर्मफलों को सहते-भोगते, संयोग-विक्षेप को प्राप्त हुए जगत् में नित्य भ्रमण करते हैं, ऐसा जानो।''[३] ''जो जीव शरीर को छोड़ते हैं वे वायु और ओषधि आदि पदार्थों में भ्रमण करते-करते गर्भाशय को प्राप्त होके नियत समय पर शरीर धारण करके प्रकट होते हैं।''[४] ''हे देह का अन्त करनेवाले जीव! तू सोमलता आदि वा यवादि ओषधियों के मध्य गर्भरूप से रहता है। पीपल आदि वनस्पतियों के मध्य गर्भरूप से रहता है, प्राण वा जलों के मध्य गर्भरूप से रहता है।''[५] ''हे जीवो! जब तुम शरीर को छोड़ो तब यह भस्मीभूत होकर पृथिवी आदि पञ्चतत्त्वों में मिल जाये। तुम और तुम्हारे आत्मा माता के शरीरों में गर्भाशय में प्रविष्ट होकर पुनः शरीर धारण कर विद्यमान होवो।''[६] हे इच्छादि-गुणप्रकाशित जीव! तू जलों और पृथिवी के सदन में फिर-फिर प्राप्त होके इस माता के गर्भाशय में शयन करके इसके लिए मङ्गलकारी हो, जैसे बालक माता की गोद में शयन कर उसके लिए मङ्गलकारी होता है।''[७]

''जब पाप बढ़ जाता पुण्य न्यून होता है, तब मनुष्य का जीव पश्वादि नीच शरीर और जब धर्म अधिक तथा अधर्म न्यून होता है, तब देव अर्थात् विद्वानों का शरीर मिलता और जब पुण्य-पाप बराबर होता है, तब साधारण मनुष्य-जन्म होता है। इसमें भी पुण्य-पाप के उत्तम, मध्यम, निकृष्ट होने से मनुष्यादि में भी उत्तम, मध्यम, निकृष्ट शरीरादि सामग्रीवाले होते हैं और जब अधिक पाप का फल पश्वादि शरीर में भोग होता है, पुनः पाप-पुण्य के तुल्य रहने से (उत्तम) मनुष्यशरीर में आता और पुण्य के फल भोग कर फिर भी मध्यस्थ मनुष्य के शरीर में आता है।''[८]

"जब शरीर से निकलता है, उसी का नाम 'मृत्यु' और शरीर के साथ संयोग होने का नाम जन्म है। जब शरीर छोड़ता तब 'यमालय' अर्थात् आकाशस्थ वायु में रहता है। वह जीव वायु, अन्न, जल अथवा शरीर के छिद्र द्वारा दूसरे के शरीर में ईश्वर की प्रेरणा से प्रविष्ट होता है, जो प्रविष्ट होकर क्रमशः वीर्य में जा गर्भ में स्थित हो शरीर धारण कर, बाहर आता है।"[९]

पाद-टिप्पणियाँ

१. यजु० ३९.४ द०भा०, भावार्थ।
२. यजु० ३९.५ द०भा०, भावार्थ।
३. यजु० ३९.७ द०भा०, भावार्थ।
४. यजु० १२.३६ द०भा०, भावार्थ।
५. यजु० १२.३७ द०भा० का पदार्थ स्वरचित।
६. यजु० १२.३८ द०भा० भावार्थ, संशोधित।
७-८. स०प्र०, समु० ९

१९७. आयु-भर कर्मयोग में लगा रह

ऋषिः दीर्घतमाः । देवता आत्मा । छन्दः भुरिग् आर्षी अनुष्टुप् ।

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतः समाः ।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ॥

—यजु० ४० । २

आत्मा (**इह**) इस संसार में (**कर्माणि कुर्वन् एव**) कर्मों को करता हुआ ही (**शतं समाः**) सौ वर्ष तक (**जिजीविषेत्**) जीने की इच्छा करे । (**त्वयि**) तेरे विषय में (**एवं**) ऐसा ही विधान है (**इतः अन्यथा न**) इससे भिन्न नहीं है । (**नरे**) मनुष्य में (**कर्म लिप्यते न**) कर्म लिप्त नहीं होता, उससे चिपट नहीं जाता ।

कुछ मनुष्य यह सोचते हैं कि कर्म तो बन्धन में डालनेवाला है, इसलिए कर्म को तिलाञ्जलि देकर खाली बैठे रहो । उन्हें सावधान करती हुई भगवद्गीता कहती है कि ''कोई भी मनुष्य बिना कर्म किये रह ही नहीं सकता । प्रकृति के गुणों से बाधित होकर उसे कर्म करना ही पड़ता है । जो कर्मेन्द्रियों को कर्मों से रोक कर मन से इन्द्रियों के विषयों को स्मरण करता रहता है, वह मूढ़ मनुष्य मिथ्याचारी कहलाता है । इसके विपरीत जो जितेन्द्रिय होकर असक्त रहकर कर्मेन्द्रियों से कर्मयोग में लगा रहता है, वह विशिष्ट पुरुष कहलाता है । निश्चय ही कर्म अकर्म से अधिक उत्कृष्ट है । जो कर्म न करने का आग्रह करता है, उसकी शरीर-यात्रा भी नहीं चल सकती ।''[१]

''कर्म तीन प्रकार के होते हैं—सात्त्विक, राजस और तामस । जो कर्म आसक्तिरहित होता है, बिना राग-द्वेष के किया जाता है और जिसमें फलेच्छा की उत्कटता नहीं होती वह **सात्त्विक** कर्म कहलाता है । जो कर्म फलेच्छा की उत्कटता

के साथ या अहंभाव के साथ किया वजाता है वह **राजस** कर्म कहलाता है। जो कर्म हानि, लाभ, उपकार, अपकार, क्षय, हिंसा, पौरुष आदि का विचार किये बिना मोहवश किया जाता है, वह **तामस** कर्म होता है।''[२]

इनमें सात्त्विक कर्म ही श्रेष्ठ माना जाता है। यहाँ शङ्का यह हो सकती है कि कर्म करेंगे तो कर्मलेप अवश्यंभावी है। कर्म, कर्म के बाद उसका फल, फिर कर्म और कर्मफल, इस प्रकार यह शृंखला कभी समाप्त नहीं होगी। कर्म के बन्धन में ही हम बंधे रहेंगे, उससे मुक्ति कभी नहीं होगी। इस कर्मफल से बचने के लिएं हम कर्म से विरत होना चाहते हैं। न रहेगा बांस, न रहेगी बांसुरी।

इस शङ्का का उत्तर यह है कि कर्म द्विविध होते हैं— निष्काम कर्म और सकाम कर्म। जो कर्म किसी सांसारिक भोग की इच्छा न रखकर केवल परमेश्वर की प्राप्ति के उद्देश्य से किया जाता है, वह निष्काम कर्म होता है, उससे मोक्ष और ईश्वरसान्निध्य के अनन्त सुख की प्राप्ति होती है, उससे सांसारिक, फल प्राप्त नहीं होते। इसके विपरीत जो कर्म धर्मपूर्वक अर्थ और काम की सिद्धि के लिए किया जाता है, वह सकाम कर्म होता है। उससे लौकिक सुख प्राप्त होते हैं।[३] यदि किसी की इच्छा कर्मलेप से बचने की है, तो यह निष्काम कर्म करे और जो सांसारिक सुख प्राप्त करना चाहता है वह धर्मपूर्वक सकाम कर्म करे। दोनों ही मार्ग ठीक हैं, सकाम कर्म से भी लोकोपकार और सदाचार प्रशस्त होता है। मन्त्र में 'कर्म मनुष्य में लिप्त नहीं होता' कहा है, वह निष्काम कर्म के विषय में है।[४]

पाद-टिप्पणियाँ

१. भगवद्गीता ३।५-८
२. वही १८।२३-२५
३. स्वामी दयानन्द, ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, वेदविषय-विचार, कर्मकाण्ड-प्रकरण।
४. (कर्माणि) धर्म्याणि वेदोक्तानि निष्कामकृत्यानि—द०।

१९८. आत्मघाती लोग कहाँ जाते हैं?

ऋषिः दीर्घतमाः। देवता आत्मा। छन्दः अनुष्टुप्।

असुर्या॒ नाम॒ ते लो॒काऽअ॒न्धेन॒ तम॒सावृ॑ताः।
ताँस्ते प्रेत्यापि॑गच्छ॒न्ति ये के चा॑त्म॒हनो॒ जना॑ः॥

—यजु० ४०।३

(**असुर्याः**[१]) असुरों से प्राप्तव्य (**नाम**) निश्चय ही (**ते लोकाः**) वे लोक हैं, जो (**अन्धेन तमसा**) घोर अन्धकार से (**आवृताः**) आच्छादित हैं। (**तान्**) उन लोकों को (**ते**) वे लोग (**प्रेत्य**) मर कर (**अपि गच्छन्ति**) प्राप्त होते हैं, (**ये के च**) जो कोई भी (**आत्महनः**[२] **जनाः**) आत्मघाती जन होते हैं।

सबसे पूर्व 'आत्महनः' का अर्थ समझ लेना चाहिए। 'आत्मन्' शब्द परमेश्वर और जीवात्मा दोनों के लिए प्रयुक्त होता है। परमेश्वर-हन्ता और जीवात्म-हन्ता दोनों ही 'आत्महनः' कहलाते हैं। हत्या तो परमेश्वर और जीवात्मा किसी की भी नहीं होती है, ये दोनों ही अजर-अमर हैं। परमेश्वर-हन्ता वह है, जो परमेश्वर की सत्ता को स्वीकार नहीं करता और यह प्रचार करता है कि परमेश्वर नाम की कोई वस्तु नहीं है, जो मनुष्यों को उनके अच्छे-बुरे कर्मों के फल प्रदान करे; अतः जैसा चाहो आचरण रखो, मारो-काटो, लूटो, दूसरों का धन छीनो, चोरी करो, डाके डालो, ईश्वर है ही नहीं तो बुरा फल क्या देगा। इसी प्रकार जो जीवात्मा की सत्ता से इन्कार करते हैं, वे जीवात्म-हन्ता हैं। वे कहते हैं जब तक जियो, सुख से जियो, कर्ज ले-लेकर घी पियो, मेवे खाओ, शरीर के मरने के बाद जीवात्मा नाम की कोई वस्तु

नहीं है, ज़ो कर्मफल प्राप्त करे। ये परमेश्वर-हन्ता और जीवात्म-हन्ता दोनों ही समाज में अनाचार, कदाचार, व्यभिचार फैला कर समाज को दूषित करते हैं, परिणामतः उन लोकों या योनियों में जाते हैं, जिनमें असुर लोग पहुँचते हैं और जो घोर अन्धकार से घिरी होती हैं। 'सु-र' का अर्थ होता है शुभ कर्म करनेवाले। उससे विपरीत 'अ-सुर' होते हैं, अर्थात् अशुभ कर्म करनेवाले। वे पशु-पक्षी-कीट-पतङ्ग-सरीसृप आदि की योनियों में जन्म लेते हैं। वे योनियाँ अन्धकार से आवृत होती हैं, इसका तात्पर्य यह है कि उन योनियों मन, बुद्धि आदि कार्य नहीं करते। उन योनियों में जिनका जन्म होता है, वे खाने-पीने आदि की साधारण क्रियाएँ ही करते हैं, जैसे मनुष्य सोच-विचार कर, बुद्धि का प्रयोग करके नवीन-नवीन ज्ञान प्राप्त करता है, नये-नये आविष्कार करता है, वैसा वे कुछ नहीं कर सकते।

अतः हमें चाहिए कि हम 'आत्मघाती' न बनें, परमेश्वर और जीवात्मा दोनों की सत्ता स्वीकार करते हुए शुभ कर्म ही करें, जिससे हमें उन्नति करने के लिए पुनः मनुष्य-योनि प्राप्त हो और उसमें निष्काम कर्म करते हुए हम दुःखों से मुक्ति भी प्राप्त कर सकें।

पाद-टिप्पणियाँ

१. सुराः शुभकर्मरताः, तद्विपरीता असुराः। असुराणाम् इमे असुर्याः असुरैः प्राप्तव्याः।
२. आत्मानं परमेश्वरं जीवात्मानं वा घ्नन्तीति आत्महनः।

१९९. परमेश्वर के गुण-कर्म-स्वभाव

ऋषिः दीर्घतमाः । देवता परमात्मा । छन्दः स्वराड् आर्षी जगती ।

स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरꣳशुद्धमपापविद्धम् ।
कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान्
व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः ॥

—यजु० ४०।८

(**सः**) वह परमात्मा (**परि-अगात्**) चारों ओर व्याप्त है, सर्वव्यापक है, (**शुक्रं**[१]) तेजस्वी है, (**अकायम्**) शरीर-रहित है, (**अव्रणं**) घावरहित है, (**अस्नाविरं**) नस-नाड़ियों से रहित है, (**शुद्धं**[२]) पवित्र है, (**अपापविद्धं**) पाप से विद्ध नहीं है। वह (**कविः**[३]) मेधावी है, क्रान्तद्रष्टा है, (**मनीषी**) बुद्धिमान् है, (**परिभूः**[४]) दुष्टों को तिरस्कृत करनेवाला है, (**स्वयम्भूः**) स्वयम्भू है। उसने (**याथातथ्यतः**) यथातथ रूप में, अर्थात् जैसे होने चाहिएँ वैसा (**अर्थान्**) पदार्थों को (**व्यदधात्**) रचा है (**शाश्वतीभ्यः समाभ्यः**) शाश्वत वर्षों से।

सबने परमेश्वर के विषय में विभिन्न नामों से बहुत कुछ श्रवण किया हुआ है। फिर भी आओ, वेद उसके गुण-कर्म-स्वभाव का क्या परिचय दे रहा है, यह जानें। वेद कहता है कि वह चारों ओर गया हुआ है, चारों दिशाओं में विद्यमान है, सर्वव्यापक है। यह एक विचित्र विरोधाभास है कि चारों ओर विद्यमान है, फिर भी आँखों से दिखायी नहीं देता। आँखों से उसका प्रत्यक्ष इस कारण नहीं होता कि वह 'अकाय' है, उसकी भौतिक काया ही नहीं है। आँख तो भौतिक वस्तु को ही देख सकती है। जब भौतिक शरीर ही नहीं है, तो शरीर के अङ्ग-प्रत्यङ्ग नस-नाड़ी आदि और शरीर के धर्म फोड़ा-

फुंसी, पीड़ा, ज्वर आदि भी उसके नहीं हैं, वह 'अव्रण' और 'अस्नायु' है। वह 'शुक्र' है, देदीप्यमान है, तेजोमय है, उसी के तेज से अग्नि, विद्युत्, सूर्य, तारे सब तेजोमय बने हुए हैं, उसी के प्रकाश से सब प्रकाशित हो रहे हैं। वह 'शुद्ध' है, अविद्यादि दोषों से रहित होने के कारण सदा पवित्र रहता है। वह 'अपापविद्ध' है, तस्करी, डकैती आदि पापों से विद्ध नहीं होता। वह 'कवि' है, मेधावी है, क्रान्तद्रष्टा है, दूरदर्शी है। वेदरूप काव्य का काव्यकार होने के कारण भी वह 'कवि' है। वह 'मनीषी' है, मनस्वी है, पारदर्शी विचारों का अधीश्वर है। वह 'परिभू' है, सबका परिभव या तिरस्कार करके सर्वोपरि विराजमान है। वह बड़े से बड़े दस्युओं को तिरस्कृत करके धूल में मिला देता है। वह 'स्वयम्भू' है, स्वयं सर्वशक्तिमान् बना हुआ है। अपनी शक्तिशालिता के लिए वह किसी अन्य पर निर्भर नहीं है। वह सृष्टि के आरम्भ से लेकर अब तक यथोचित रूप में पदार्थों की रचना करता चला आया है। उसने सूर्य आदि पदार्थों को जैसा चाहिए था, वैसा ही बनाया है, उनमें कोई त्रुटि नहीं है।

इस कण्डिका में परमेश्वर की सगुण और निर्गुण दोनों प्रकार की स्तुति है। जिन विशेषणों या वाक्यों में उसके अन्दर विद्यमान गुण-कर्म-स्वभाव का वर्णन किया है, उनमें सगुण स्तुति है और 'अकायम्, अव्रणम्, अस्नाविरम्, अपापविद्धम्' विशेषणों द्वारा निर्गुण स्तुति है। आओ, हम भूयोभूयः प्रभु की स्तुति करें और उसके जिन गुण-कर्म-स्वभावों को ग्रहण कर सकते हैं, उन्हें ग्रहण करने का प्रयास करें।

पाद-टिप्पणियाँ

१. शुक्रः=यः शोचति ज्वलति स शुक्रः। शोचति ज्वलतिकर्मा, निघं० १.१६

२. (शुद्धम्) अविद्यादिदोषरहितत्वात् सदा पवित्रम्—द०।

३. कविः—मेधावी, निघं० ३.१५। मेधावी कविः क्रान्तदर्शनो भवति कवतेर्वा, निरु० १२.७।

४. (परिभूः) यो दुष्टान् पापिनः परिभवति तिरस्करोति सः—द०।

२००. ओ३म् खं ब्रह्म

ऋषिः दीर्घतमाः। देवता पुरुषः (परमात्मा)। छन्दः आर्षी अनुष्टुप्।

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।
योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽसावहम्। ओ३म् खं ब्रह्म॥

—यजु० ४०।१७

(हिरण्मयेन पात्रेण) स्वर्णिम पात्र से, सुनहरी ताले से **(सत्यस्य)** मुझ सत्यस्वरूप परमेश्वर का **(मुखं)** द्वार **(अपिहितं)** बन्द है। **(यः असौ)** जो वह **(आदित्ये)** आदित्य में **(पुरुषः)** पुरुष दीखता है **(सः असौ)** वह **(अहम्)** मैं हूँ। **(ओ३म् खं ब्रह्म)** मेरा नाम 'ओम्' है, 'खं' है, 'ब्रह्म' है।

हे सांसारिक जनो! क्या तुम मेरा दर्शन करना चाहते हो। मेरे दर्शन के लिए तुम्हें मेरे मन्दिर में आना होगा। किन्तु, मेरे मन्दिर का द्वार तो सुनहरे ताले से बन्द है। वह सुनहरा ताला इतना आकर्षक है कि जो भी मेरे दर्शन के लिए द्वार पर आता है, वह मेरे दर्शन की बात तो भूल जाता है, सुनहरे ताले पर ही रीझ कर उसी के दर्शन से तृप्तिलाभ करने लग जाता है। तुम सोचोगे कि मैं सम्भवतः किसी तीर्थस्थल पर बने अपने मन्दिर की बात कर रहा हूँ। नहीं, मेरा मन्दिर तो सर्वत्र है। प्रकृति की सब जड़-चेतन वस्तुएँ मेरे मन्दिर हैं। बर्फीले और हरियाली-भरे पर्वत, नदी, सरोवर, जङ्गल, वृक्ष, वनस्पतियाँ, समुद्र, बादल, सूर्य, चाँद, सितारे सब मेरे मन्दिर हैं, सब में मैं बैठा हुआ हूँ। इन सबके द्वार सुनहरे पात्र से बन्द हैं। इन सब पदार्थों का अपना आकर्षण ही वह स्वर्णिम पात्र है, सुनहरा ताला है। मनुष्य प्राकृतिक छटा को जब अपनी आँखों से देखता है, तब इसकी चकाचौंध से उसकी आँखें चुंधिया जाती हैं। प्रकृति की प्रत्येक वस्तु के अन्दर बैठा हुआ मैं उसे दिखायी नहीं देता हूँ। पहले उस स्वर्णिम पात्र को, सुनहरे ताले को खोलना होगा। तब मेरी दिव्य मूर्ति तुम सर्वत्र देख

सकोगे। क्या तुमने कभी सोचा है कि आदित्य में ज्योति, आकर्षण शक्ति और विपुल चुम्बकीय शक्ति किसने भरी है? आदित्य को ज्योति देनेवाला, ग्रह-उपग्रहों को अपनी आकर्षण की डोर से बाँधने की शक्ति देनेवाला मैं ही हूँ। अतः जब तुम आदित्य को देखोगे, तब उसमें मैं ही उसके सञ्चालक के रूप में बैठा हुआ दिखायी दूँगा। आदित्य में जो वह उसका सञ्चालक 'पुरुष' दीखता है, वह मैं ही हूँ। इसी प्रकार अन्तरिक्ष की विद्युत् में, पृथिवी की अग्नि और प्रकृति की प्रत्येक वस्तु में तुम्हें 'पुरुष' बैठा हुआ दीखेगा। मैं ही वह पुरुष हूँ। मेरा नाम 'पुरुष' इस कारण है कि मैं प्रत्येक वस्तु की पुरी में बैठा हूँ, प्रत्येक वस्तु की पुरी में शयन कर रहा हूँ और प्रत्येक वस्तु को स्वयं से परिपूर्ण कर रहा हूँ।[१] मेरा नाम 'ओम्'[२] है, क्योंकि मैं सबकी रक्षा करता हूँ, मेरा नाम 'ख'[३] है—क्योंकि मैं आकाश के समान सर्वव्यापक हूँ, मेरा नाम 'ब्रह्म'[४] है, क्योंकि मैं महिमा में सबसे बड़ा हूँ।

"सब मनुष्यों के प्रति ईश्वर उपदेश दे रहा है—हे मनुष्यो! जो मैं यहाँ हूँ, वही अन्यत्र सूर्यादि में भी हूँ, जो अन्यत्र सूर्यादि में हूँ, वही यहाँ हूँ। सर्वत्र परिपूर्ण, 'ख' (आकाश) के समान व्यापक और मुझसे अधिक महान् अन्य कोई नहीं है। सुलक्षण पुत्र के समान प्राणप्रिय मेरा निज नाम 'ओम्' है। जो प्रेम और सत्याचरण के साथ मेरी शरण में आता है, उसकी अविद्या को अन्तर्यामी रूप से मैं ही विनष्ट करके, उसके आत्मा को प्रकाशित करके, उसे शुभ-गुण-कर्म-स्वभाववाला करके, उसके ऊपर सत्यस्वरूप का आवरण चढ़ाकर और उसे शुद्ध योगजन्य विज्ञान देकर सब दुःखों से पृथक् करके मोक्षसुख प्राप्त कराता हूँ।"[५]

पाद-टिप्पणियाँ

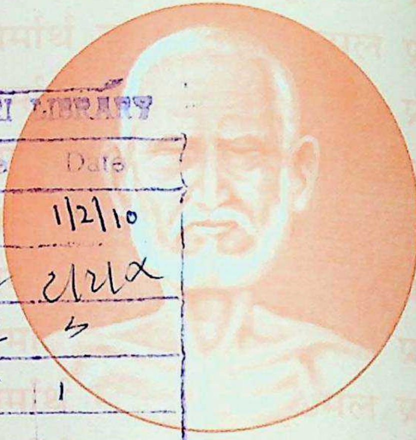
१. पुरुषः पुरिषादः पुरिशयः पूरयतेर्वा। पूरयत्यन्तरित्यन्तरपुरुषमभिप्रेत्य। निरु० २.३, '(पुरुषः) पूर्णः परमात्मा'—द०।
२. (ओम्) योऽवति सकलं जगत्—द०। अव रक्षणादिषु, अवति रक्षतीति 'ओम्', 'अवतेष्टिलोपश्च' उ० १.१४२ से मन् प्रत्यय और उसकी टि 'अन्' का लोप। धातु की उपधा और वकार को ऊठ्=ऊ। ऊ-म्=ओम्।
३. (खम्) आकाशवद् व्यापकम्—द०।
४. (ब्रह्म) सर्वेभ्यो गुणकर्मस्वरूपतो बृहत्—द०।
५. दयानन्दभाष्य में प्रकृत मन्त्र के संस्कृतभावार्थ का अस्मत्कृत अनुवाद।

मन्त्रानुक्रमणिका

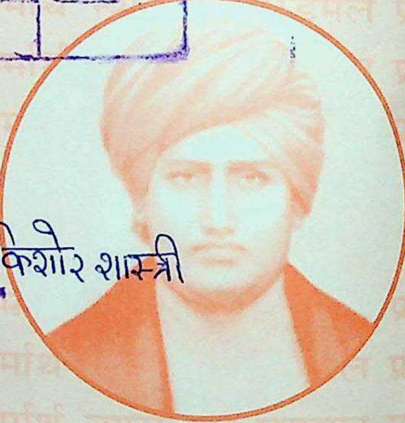


०००

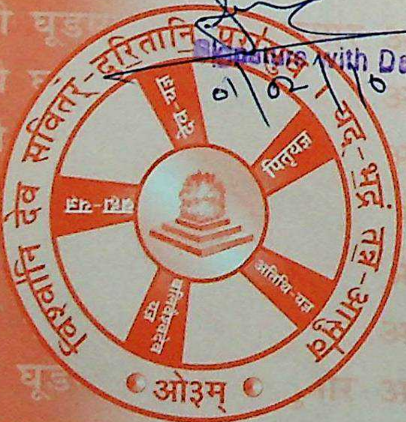




गुरुवर्य विरजानन्दजी



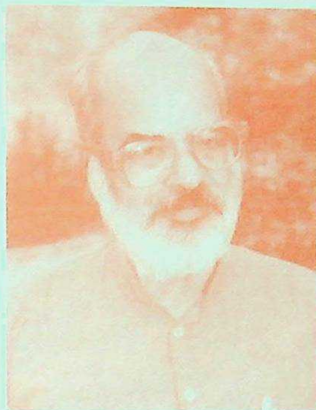
ऋषिराज दयानन्द





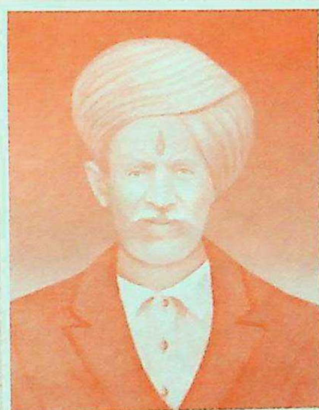
पं० गुरुदत्त विद्यार्थी

हमारे प्रेरक एवं सहयोगी



स्वामी जगदीश्वरानन्द सरस्वती





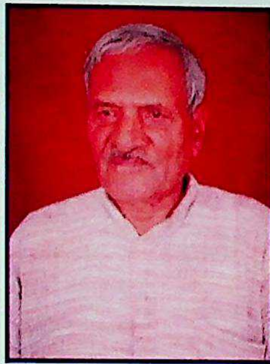
स्मृ० श्री घूडमल आर्य







स्मृ० श्री प्रहलाद आर्य



डॉ० रामनाथ वेदालङ्कार

प्रस्तुत ग्रन्थ के लेखक आचार्य डॉ० रामनाथ वेदालङ्कार वैदिक साहित्य के ख्याति-प्राप्त मर्मज्ञ विद्वान् हैं। आपका जन्म ७ जुलाई १९१४ को फरीदपुर, बरेली, (उ०प्र०) में माता श्रीमती भगवती देवी एवं पिता श्री गोपालराम के घर हुआ। शिक्षा गुरुकुल काङ्गड़ी विश्वविद्यालय हरिद्वार में हुई। इसी संस्था में ३८ वर्ष वेद-वेदाङ्ग, दर्शनशास्त्र, काव्यशास्त्र, संस्कृत साहित्य आदि विषयों के शिक्षक एवं संस्कृतविभागाध्यक्ष रहते हुए समय-समय पर आप कुलसचिव तथा आचार्य एवं उपकुलपति का कार्य भी करते रहे। इस संस्था ने आपको विद्यामार्तण्ड की मानद् उपाधि से भी सम्मानित किया। आपने आगरा विश्व-विद्यालय से संस्कृत में एम० ए० तथा पी-एच०डी० परीक्षाएँ उत्तीर्ण की हैं। आपका पी-एच०डी० का शोधप्रबन्ध 'वेदों की वर्णन-शैलियाँ' है, जो प्रकाशित है। १९७६ में आप गुरुकुल विश्वविद्यालय से सेवानिवृत्त होकर तीन वर्ष के लिए पंजाब विश्वविद्यालय चण्डीगढ़ में **'महर्षि दयानन्द वैदिक अनुसन्धान पीठ'** के **प्रथम आचार्य एवं अध्यक्ष नियुक्त हुए**। वहाँ से आपके तीन ग्रन्थ प्रकाशित हुए—वेदभाष्यकारों की वेदार्थ प्रक्रियाएँ, महर्षि दयानन्द के शिक्षा, राजनीति और कलाकौशल सम्बन्धी विचार, वैदिक शब्दार्थ विचारः। आप द्वारा लिखित अन्य विशिष्ट ग्रन्थ हैं—**वेदमञ्जरी, वैदिक नारी, वैदिक मधुवृष्टि, आर्ष ज्योति, ऋग्वेद-ज्योति तथा सामवेद का संस्कृत एवं हिन्दी में प्रौढ़ भाष्य**। वैदिक एवं संस्कृत साहित्य की सेवा के उपलक्ष्य में आप कई पुरस्कारों एवं सम्मानों से सम्मानित हो चुके हैं, जिनमें आर्यसमाज सान्ताक्रूज मुम्बई का वेद-वेदाङ्ग पुरस्कार, उत्तरप्रदेश संस्कृतसंस्थान का विशिष्ट संस्कृत पुरस्कार, महामहिम राष्टपति द्वारा सम्मान तथा भारतीय विद्याभवन बैंगलूर का गुरु गंगेश्वरानन्द वेदरत्न पुस्कार, श्री घूडमल प्रहलादकुमार साहित्य सम्मान हिण्डौन सिटी (राज०) प्रमुख हैं।